Hello Haldwani
हैलो हल्द्वानी
91.2 FM

बदलते शहर की धड़कन – हैलो हल्द्वानी

(उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय द्वारा संचालित सामुदायिक रेडियो)

https://www.facebook.com/HelloHaldwani/

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

तीनपानी बाई पास रोड, ट्रान्सपोर्ट नगर के पास, हल्द्वानी- 263139

फोन नं. 05946 - 261122, 261123

टॉल फ्री नं. 18001804025

फैक्स नं. 05946-264232, ई-मेल info@uou.ac.in

http://uou.ac.in

MAPS-611

भारतीय राजनीतिक चिंतन

Indian Political Thought

राजनीति विज्ञान विभाग

(समाज विज्ञान विद्याशाखा)

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

पाठयक्रम समिति

प्रो. गिरिजा प्रसाद पाण्डे **निदेशक – समाज विज्ञान विद्या शाखा,**उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी नैनीताल	**प्रो0 मदन मोहन जोशी** **निदेशक (कार्यवाहक) – समाज विज्ञान विद्या शाखा,**उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी ,नैनीताल
प्रो०एम.एम सेमवाल राजनीति विज्ञान विभाग हेमवती नंदन बहुगुणा केन्द्रीय गढ़वाल विश्वविद्यालय श्रीनगर, गढ़वाल	**प्रो0 दुर्गाकान्त चौधरी** राजनीति विज्ञान विभाग श्रीदेव सुमन विश्वविद्यालय ऋषिकेश परिसर, ऋषिकेश
प्रो0 सतीश कुमार राजनीति विज्ञान विभाग इन्दिरा गाँधी मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली	**डॉ घनश्याम जोशी** असिस्टेंट प्रोफेसर लोक प्रशासन उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल
डॉ लता जोशी असिस्टेंट प्रोफेसर (एसी) राजनीति विज्ञान उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल	**डॉ आरूशी** असिस्टेंट प्रोफेसर (एसी) राजनीति विज्ञान उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल
पाठ्यक्रम संयोजन एव सम्पादन **डॉ0 लता जोशी ,** असिस्टेन्ट प्रोफेसर (एसी), राजनीति विज्ञान , उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल	

इकाई लेखक **इकाई संख्या**

डॉ. विजय प्रताप मल्ल राजनीति विज्ञान प्रवक्ता ,जे.एल.नेहरू पी.जी.कालेज बाराबंकी	**1, 4, 6**
डॉ लता जोशी, राजनीति विज्ञान , विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल	**6, 5, 12**
शुभांकर शुक्ला, लोक प्रशासन विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल	**10**
नियति रावत, राजनीति विज्ञान , विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल	**13, 14**
हिमांशु पुनेठा, राजनीति विज्ञान , विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल	**2**
डॉ आरुशी हिंवाली शुक्ला, राजनीति विज्ञान विभाग, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल	**8**
दिग्विजय सिंह पथनी , राजनीति विज्ञान विभाग, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल	**7, 9**
डॉ. रंजीत दुबे, ज्योतिष विभाग , उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल	**3**
डॉ. डी.के.पी.चौधरी प्रोफेसर-राजनीति विज्ञान**,** श्रीदेव सुमन विश्वविद्यालय ऋषिकेश कैम्पस ऋषिकेश	**11**

आई.एस.बी.एन. ----------
कापीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
प्रकाशन वर्ष -2026
Published by : उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,हल्द्वानी, नैनीताल 263139
Printed at :------------------------------------
संस्करण :2026, सीमित वितरण हेतु पूर्व प्रकाशन की प्रति।
सर्वाधिकार सुरक्षित | इस प्रकाशन का कोई भी अंश उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए विना मिमियोग्रफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है
मुद्रित प्रतियां

भारतीय राजनीतिक चिंतन **MAPS 611**

इकाई संख्या	एवं इकाई का नाम	पृष्ठ संख्या
इकाई 1	प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन की विशेषताएं	1-17
इकाई 2	राजनीतिक दर्शन :वैदिक काल से छठी शताब्दी ईसा पूर्व	18-34
इकाई 3	मनु स्मृति में सामाजिक व्यवस्था	35-57
इकाई 4	न्याय, कानून एवं दंड व्यवस्था	58-71
इकाई 5	कौटिल्य का चिंतन :राज्य की प्रकृति एवं विदेश नीति	72-102
इकाई 6	कौटिल्य का शासन एवं प्रशासन : राजा के कर्तव्य , गुप्तचर एवं मंत्री	103-130
इकाई 7	बौद्ध अवधारणाएं : धम्म और अहिंसा	131-146
इकाई 8	आगानासुत्त	147-164
इकाई 9	बौद्ध धर्मानुपालन : अशोक, कनिष्क, बिम्बिसार, आजातशत्रु	165-182
इकाई 10	राजा राममोहन राय	183-196
इकाई 11	दयानंद सरस्वती	197-211
इकाई 12	बाल गंगाधर तिलक	212-227
इकाई 13	गोपाल कृष्ण गोखले	228-242
इकाई 14	दीनदयाल उपाध्याय	243-258

इकाई : 1 प्राचीन भारतीय चिन्तन,विशेषतायें

इकाई की संरचना

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 चिन्तन का आशय एवं महत्व
1.3.1 चिन्तन के विविध नाम
1.3.2 चिन्तन का महत्व
1.3.3 चिन्तन के स्त्रोत
1.3.3.1 देशी स्त्रोत
1.3.3.2 विदेशी स्त्रोत
1.3.3.3 पुरातत्व, अभिलेख, मुद्राएं, स्मारक, मूर्तियां, स्तूप
1.4 चिन्तन का विकास
1.4.1 विकास के चरण
1.4.2 भारतीय चिन्तन की विशेषतायें
1.5 सारांश
1.6 शब्दावली
1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची
1.9 सहायक/उपयोगी पाठ सामग्री
1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय चिन्तन का इतिहास अत्याधिक प्राचीन है। यह वैदिक काल से प्रारम्भ होकर मुगल काल तक माना जाता है। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि गुलामी के समय इस भ्रम को फैलाया गया कि प्राचीन भारतीय चिन्तन अति साधारण स्तर का है। कुछ विद्वानों ने इसे आदर्शवादी अव्यवहारिक माना। भारत के वेद पुराण उपनिषद प्राचीन भारतीय चिन्तन के उत्कर्ष उदाहरण है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र चिन्तन के आद्युनिक स्वरूप का आदर्श उदाहरण है। प्लेटो के समकालीन कौटिल्य का दर्शन व्यावहारिक है। भारतीय चिन्तन व्यावहारिक ही नहीं अत्याधिक उपयोगी है। भारतीय चिन्तन का मूल मानव है व मानव के चारों ओर घूमता है। पाश्चात्य चिन्तन में मानव 18वीं शताब्दी में केन्द्रबिन्दु बना। जबकि भारतीय चिन्तन में यह प्रारम्भ से ही है। भारतीय चिन्तन को विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। कभी इसे राजधर्म, राजशास्त्र , दण्डनीति तथा नीतिशास्त्र के नाम से जाना जाता है। पंचतंत्र में इसे नृपतंत्र कहा जाता था।

प्राचीन भारतीय चिन्तन के अनेक स्त्रोत है इसमें मुख्य रूप से प्राचीन साहित्य , वेद पुराण , धर्मशास्त्रों , उपनिषदों, महाकाव्यों , जैन ग्रन्थों तथा बौद्ध जातकों को शमिल किया जाता हैं। इसके अलावा समय-समय पर विभिन्न रचनाओं जैसे अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, शुकनीति ने भी इसमें योगदान दिया है। इसमें ह्वेनसांग एवमं फाह्यान का विवरण भी उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त पुरातन अवशेष गुफालेख, शिलालेख, स्तंभलेख, ताम्रलेख आदि को शामिल किया जाता है। प्राचीन भारतीय चिन्तन के स्त्रोत के रूप में मुद्राओं की भी महत्वपूर्ण भूमिका रहीं है।

प्राचीन भारतीय चिन्तन में धर्म एवं राजनीति को एक साथ जोड़कर देखा जाता है। इसमें आध्यात्मिकता पर बल है। भारतीय चिन्तन में राज को आवश्यक माना जाता है। इसमें राज का कार्यक्षेत्र अत्यंत व्यापक है। इसमें दण्ड की कठोर की व्यवस्था है। सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय चिन्तन का दृष्टिकोण व्यावहारिक हैं और राजा का कार्यक्षेत्र व्यापक है।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम प्राचीन भारतीय चिन्तन -

1. प्राचीन भारतीय चिन्तन को समझ सकेंगे।

2. प्राचीन भारतीय चिन्तन के मुख्य स्त्रोतों के बारे में जान सकेंगे।

3. प्राचीन भारतीय चिन्तन की मुख्य विशेषताओं को जान सकेंगे।

4. प्राचीन भारतीय चिन्तन पर देशी प्रभाव तथा विदेशी प्रभाव को समझने में भी सहायता मिलेगी।

5.और पाश्चात्य राजनैतिक चिन्तन के अन्तर को समझ सकेंगे।

1.3 चिन्तन का आशय एवं महत्व

प्राचीन भारतीय चिन्तन का इतिहास अति प्राचीन है। यह वैदिक काल से प्रारम्भ होकर मुगलकाल तक माना जाता है। आज से हजारों वर्ष पूर्व जब दुनिया में चिन्तन का विस्तार नहीं हो पाया था उस समय भी भारतीय राजनैतिक एवं सामाजिक चिन्तन सर्वोच्च शिखर पर था। यह गौरवशाली परम्परा वैदिक काल से आज तक बनी हुई है।

औपनिवेशिक काल में कतिपय पाश्चात्य विचारकों ने इस भ्रम को फैलाया कि भारत का प्राचीन चिन्तन अति साधारण है इसमें कुछ भी उल्लेख करने योग्य नहीं है। उनमें से कुछ विद्वानों ने इसे निरा आदर्शवाद, अव्यवहारिक रहस्यवाद से भरा हुआ बताया। इस भ्रम को मैक्स मूलर, डनिग जैसे पूर्वाग्रह से ग्रस्त विद्वानों ने आगे बढ़ाया । समय गुजरने के साथ नये तथ्य सामने आये और फैलाया गया भ्रम टूट गया। नये तथ्यों ने स्पष्ट किया कि प्राचीन भारतीय चिन्तन पाश्चात्य राजनैतिक चिन्तन से अत्यधिक प्राचीन एवं प्रासंगिक है। भारत में प्लेटो एवं अरस्तू से शताब्दियों पूर्व राजनैतिक का व्यापक विवरण मिलता है। भारत के वेद, पुराण, एवं उपनिषद प्राचीन भारतीय चिन्तन की उत्कृष्ट नमूने है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र चिन्तन के आधुनिक स्वरूप का उदाहरण है। अरस्तू के समकालीन कौटिल्य का सम्पूर्ण दर्शन व्यवहारिक है तथा यह सिद्ध कारता है कि भारत का चिन्तन कहीं भी पीछे नहीं है। यहां पर मैक्सी का कथन प्रासगिंक हो जाता है जब वह कहते है-''हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भारत का राजनैतिक इतिहास यूरोप के राजनैतिक इतिहास से अधिक प्राचीन है और राजनैतिक विचारों की दृष्टि से निष्फल भी नहीं है।''एशियाटिक सोसायटी के उदय के साथ स्थिति में बदलाव प्रारम्भ हुआ। ब्रिटेन की बदली परिस्थितियों में भारतीयों की संस्कृति एवं इतिहास की जानकारी की आवश्यकता महसूस की गई। यहीं से भारतीय चिन्तन का नया स्वरूप दुनिया के सामने आया।

1.3.1 चिन्तन का महत्व

दुनिया में अनेक विद्वान राजनैतिक चिन्तन को अनुपयोगी एवं हानिपद्र मानते है। इसमें मुख्य रूप से बेकन, लेस्ली, स्टीफन, बर्क, डनिंगआदि प्रमुख हैं। स्टीफन तो कहता है कि -''वे देश भाग्यशाली है जिनके पास कोई राजनैतिक दर्शन नहीं है क्योंकि ऐसा तत्व चिन्तन निकट भविष्य में होने वाली क्रान्तिकारी उथलपुथल का सूचक होता है।'' डनिंग का स्पष्ट मत था कि -'' जब कोई राजनैतिक पद्धति राजनैतिक दर्शन का स्वरूप ग्रहण करने लगे तो समझ लेना चाहिए कि उसके विनाश की घड़ी आ गई है।''

उपरोक्त कथन चिन्तन को अनुपयोगी मानते है। वे इसे आदर्शवादी, काल्पनिक भ्रम पैदा करने वाला मानते है। वे तर्क देते है कि अच्छे विचारक प्रायः अच्छे शासक नहीं होते हैं। वे कहते हैं कि सैद्धान्तिक ज्ञान व्यवहारिक नहीं होता है तथा व्यवहारिक ज्ञान सिद्धान्त पर खरा नहीं उतरता है।

प्लेटो इसका आदर्श उदाहरण है। वह अपने आदर्श राज्य को मूर्त रूप देने में पूर्णतः असफल रहा। इसका दूसरा दोष यह है कि अधिकांश विचार परिस्थिति जन्य होते हैं। अतः उनका सामान्यीकरण करते हुए सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता। राजनैतिक दर्शन में हाल्स, रूसो तथा मैकियावेली के मानव संबंधी विचार तत्कालीन समाज की देन थे। कतिपय यही कारण था कि तत्कालीन परिस्थितियों में उपजी निराशा, हताशा ने उनके विचार को मानव के प्रति नकारात्मक बना दिया था। उपरोक्त दोष के होते हुए भी चिन्तन का अध्ययन मानवोपयोगी है। इससे होने वाले लाभ निम्न है-

1.राज्य और उसका मूर्त रूप सरकार है। यह मानव से निर्मित है तथा मानव के इर्द-गिर्द ही घूमता है। अतः मानव के संबंध में विचार करना, विभिन्न प्रश्नों पर विचार करना सदैव से मानव तथा समाज के लिये लाभदायक रहा है।

2.राजनीतिक चिन्तन का मानव के साथ घनिष्ट संबंध रहा है। विद्वानों द्वारा समय-समय पर प्रतिपादित विभिन्न सिद्धान्तों ने मानव को बहुत लाभ पहुंचाया है। रूसो के विचारों ने 18 वीं शताब्दी में फ्रांसीसी क्रान्ति को जन्म दिया और इसी क्रान्ति से समानता, स्वतन्त्रता तथा भाईचारे का विचार सामने आया। मार्क्स ने 20वीं शताब्दी में ‘‘बोल्शेविक क्रान्ति’’ को जन्म दिया। इसी से साम्यवादी विचारधारा का उदय हुआ।

3.राजनीतिक चिन्तन से एक अलग प्रकार का लाभ यह होता है कि यह विभिन्न प्रकार की गई शब्दावलियों, सिद्धान्तों को जन्म देता है। इसमें प्रमुख्य रूप से राष्ट्रीयता, लोककल्याणकारी राज्य, व्यक्तिवाद, पंथनिरपेक्षता आदि प्रमुख है।

4.राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन से एक अन्य लाभ यह होता है इससे हमें ऐतिहासिक घटनाओं को समझने और उसकी व्याख्या करने में सहायता मिलती है।

5.इससे वर्तमान घटनाओं को समझने में सहायता मिलती है। वर्तमान समस्याओं की जड़ सदैव इतिहास में रहती है। अतः उसका निवारण भी इतिहास से आता है। चिन्तन समस्या का निवारण ही नहीं करता वरन् भविष्य में आने वाली समस्याओं का हल एवं मार्गदर्शन प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार से स्पष्ट है कि चिन्तन का अध्ययन प्रत्येक दृष्टि से लाभप्रद है। यह स्वभाविक प्रक्रिया है जो लम्बे समय से चली आ रही है।

1.3.2 चिन्तन के विविध नाम

राजनीतिक चिन्तन को प्राचीन समय में विभिन्न नामों से पुकारा जाता था। यह समयानुसार न केवल नाम वरन् अपनी लोकप्रियता को खोता एवं पाता रहा है। यहां पर प्रो0 अलतेकर का कथन प्रांसगिक हो जाता है जब वह कहते है-‘‘राजधर्म, राजशास्त्र, दण्ड नीति, नीतिशास्त्र अर्थशास्त्र आदि नामों से प्राचीन भारत में राजनीति शास्त्र को संबोधित किया गया है।’’ विभिन्न धार्मिक ग्रन्थों में इसके विविध नाम दिखायी पड़ते है जैसे विभिन्न स्मृतियों में इसे राजधर्म, महाभारत में इसे राजशास्त्र ,

दण्डनीति तथा अर्थशास्त्र कहा गया। पंचतत्र में इसे नृपतंत्र कहा गया। इसको दण्डनीति पुकारने का आधार भी बहुत स्पष्ट है। बहुत से विद्वान राजसत्ता का अंतिम आधार दण्ड को ही मानते है। वे मानते है कि राजनैतिक सत्ता यदि कानून तोड़ने वालों को दण्ड नहीं देगी तो अराजकता उत्पन्न हो जायेगी। अतः दण्ड द्वारा ही भय उत्पन्न कर व्यवस्था लायी जा सकती है। अतः राजनीतिक चिन्तन को दण्ड नीति का पुकारा गया।

कौटिल्य ने इस धारणा को अस्वीकार किया। उसकी मान्यता थी कि दण्ड से भय उत्पन्न होता है। वे कहते है कि कानून तोड़ने वालों को दण्डित करने से जनता स्वतः कानूनों का पालन करने की ओर बढ़ती है। मनु ने दण्ड देने वाली मानवीय सत्ता को राजा नहीं माना वरन् दण्ड को शासक माना। ऐसे में शासक को कर्तव्य तथा समाज को बताने वाले शास्त्र को दण्डनीति के नाम से जाना जाता है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र वास्तव में शासननीति का ही विवरण था।

नीतिशास्त्र शब्द में नीति का अर्थ सही मार्ग दिखाने से लिया जाता है। उचित अनुचित में अंतर बताने वाला शास्त्र नीतिशास्त्र के नाम से जाना जाता है। भर्तृहरि का प्रसिद्ध नीति शतक उस विशाल अर्थ में नीति की चर्चा करता है। कामदंक एवं शुक्र के शासन संबंधी ग्रन्थ नीति शास्त्र के नाम से जाना जाता है। वे इसे राज्य शास्त्र या दण्ड नीति के नाम से नहीं पुकारते हैं। कौटिल्य ने अपने शासन संबंधी ग्रन्थ को अर्थशास्त्र कहा। कौटिल्य की मान्यता थी कि 'अर्थ' शब्द से व्यक्ति का व्यवसाय स्पष्ट होता है। साथ ही वह भूमि भी इंगित होती है जिस पर रहकर व्यवसाय किया जाता है। अतः उस भूमि को प्राप्त करना तथा उसको बनाये रखने का शास्त्र ही अर्थशास्त्र है। शुक्रनीति में स्पष्ट किया गया है कि अर्थशास्त्र का क्षेत्र ने केवल संपति प्राप्ति के उपायों की चर्चा करना है वरन् शासन शास्त्र के सिद्धान्तों को भी स्थापित करना है। क्रामन्दक के समय में जो नीति शब्द राज्य की नीति के संबंध में प्रयुक्त किया जाता था वहीं जब सामान्य आचरण के लिये प्रयुक्त किया जाने लगा है। राजनीति तो इसका एक हिस्सा है। ऐसे में राज्य से संबंध रखने वाले नियमों तथा तथ्यों को आचरण के अन्य पहलूओं से अलग दिखाने के लिये नीति शब्द के साथ ''राज'' शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। डा0 भण्डारकर के शब्दों में-'' जब नीति शब्द का प्रयोग सामान्य आचरण के नियमों के लिये किया जाने लगा तो यह आवश्यक हो गया कि उनको राजा के आचरण नियमों से अलग करने के लिये राजनीतिक शब्द का प्रयोग किया जाय।''

प्राचीन भारत में राजशास्त्र का व्यापक प्रभाव रहा है। महाभारत में स्पष्ट किया गया है जिस प्रकार हाथी के पैर में सबका पैर आ जाता है उसी प्रकार राजशास्त्र में सभी शास्त्र आ जाते है। यह संकुचित विषय न होकर व्यापक विषय था। इसमें आने वाले विषय को धर्म से अलग नहीं रखा गया था। इसमें सामाजिक व्यवस्था, धर्म और राजा की सत्ता आदि के साथ ग्रन्थ कई बातें सम्मिलित थी। इसमें जनकल्याणकारी कार्य भी शामिल थे।

1.3.3 चिन्तन के स्त्रोत

प्राचीन भारतीय चिन्तन के अनेक स्त्रोत है। इसमें मुख्य रूप से प्राचीन साहित्य जैसे वेद, पुराण, धर्म सूत्रों, धर्म शास्त्रों, उपनिषेदों, महाकव्यों, जैन ग्रन्थों तथा बौद्ध जातक शमिल हैं। इनके अतिरिक्त समय-समय पर विभिन्न विद्वानों की रचनाओं जैसे कौटिल्य का अर्थशास्त्र, कांमदकीय नीतिशास्त्र, शुक्र नीति आदि प्रमुख हैं। इसी समय अनेक शासकों के समय विदेशी विद्वानों ने उनके राज्य का न केवल भ्रमण किया वरन् व्यापक सामायिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनैतिक विश्लेषण अपने ग्रन्थों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया। इसमें फाह्यान एवं ह्वेनसांग का विवरण उल्लेखनीय है। कुछ संस्कृत के विद्वानों जैसे पाणिनी के व्याकरण, अष्टध्यायी, कालीदास के रघुवंश, विशाखदत्त के मुद्रा राक्षस से भी जानकारी मिलती है। यहां पर डा0 जयसवाल का कथन प्रासंगिक हो जाता है-‘‘ हमें इस विषय का ज्ञान कराने वाले साधन हिन्दू साहित्य के विस्तृत क्षेत्र में मिलते हैं। वैदिक संस्कृत तथा प्राकृत ग्रन्थों और इस देश के शिलालेखों तथा सिक्कों में रक्षित लेखों में हमें इस विषय की बहुत सी बातें प्राप्त होती है। सौभाग्य से इस समय हिन्दू राजनीति शास्त्र के कुछ मूल ग्रन्थ भी उपलब्ध है।’’

भारतीय चिन्तन के स्त्रोत को अध्ययन की सुविधा के लिये निम्न भागों में बांट सकते हैं-

1. देशी अथवा भारतीय स्त्रोत
2. विदेशी स्त्रोत

1.3.3.1 देशी स्त्रोत

देशी अथवा भारतीय स्त्रोत में अनैतिहासिक साहित्य एवं इतिहास परक साहित्य दोनों शामिल हैं। इसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण वैदिक साहित्य हैं जिसमें मुख्य रूप से वेद उनकी संहितायें, ब्राह्मण ग्रन्थ और सूत्र सम्मिलित है। वैदिक साहित्य के बाद महाकाव्यों जैसे रामायण, महाभारत का स्थान आता है। इसके अतिरिक्त अन्य धर्म के साहित्य जैसे बौद्ध साहित्य, जैन साहित्य आदि का भी उल्लेखनीय योगदान है। भारतीय चिन्तन की स्पष्ट झलक कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा नीतिशास्त्र में भी दिखाती है। भारतीय चिन्तन के भारतीय स्त्रोत निम्नलिखित है-

1.वेदः- भारतीय धार्मिक साहित्य के सबसे प्राचीन ग्रंथ वेद हैं। यह चार भागों में हैं जिनको ऋृगवेद , सामवेद, यजुर्वेद तथा यर्थववेद आदि हैं। इनमें वेदों के माध्यम से शासन तथा राज्य की उत्पति के सिद्धान्तों का पता चलता है। इसमें राजा के अधिकार, राजा-प्रजा संबंध तथा शासन नीतियों का विस्तृत मिलता है। वास्तव में वेद प्राचीनतम स्त्रोत है। इनसे तत्कालीन राजनीति तथा पद्धति का अच्छा ज्ञान होता है।

2.ब्राहमण तथा उपनिषदः- वैदिक मंत्रों तथा संहिताओं की गटा टीकाओं को ब्राहमण कहा जाता है। ब्राहमण साहित्य में मुख्य रूप से तटेय, पंचविश, शतपथ, तैतरीय आदि महत्वपूर्ण हैं।

उपनिषेदों के द्वारा तत्कालीन समाज, शासन तन्त्र, राजा प्रजा संबंधों का पता चलता है। उपनिषेदों की संख्या बहुत है। इसमें मुख्य रूप से वृहदारण्यक, छान्दोग्य, श्वेताखतर, केन, कट, प्रश्न, मुण्डक आदि प्रमुख हैं। इनमें विम्बसार के पूर्व की राजनैतिक दशा का ज्ञान होता है।

3.महाकाव्यः-वैदिक साहित्य के बाद साहित्य के दो स्तम्भों रामायण था महाभारत की रचना होती है। प्राचीन भारतीय सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक दशा को सामने लाने का श्रेय इन ग्रन्थों को है। रामायण के रचियता वाल्मिकी ने भगवान राम के चरित्र वर्णन से सम्पूर्ण समाज का चित्र ही उकेर कर रख दिया है। महाभारत में शांति पर्व के राजधर्म पर्व के अध्यायों में राजा के कर्तव्य तथा राज्य के साथ संबंधों का वर्णन है। यह प्राचीन चिन्तन को मजबूत करते हैं।

4.पुराणः- महाकाव्यों के साथ पुराण अपने समय की ऐतिहासिक सामग्री प्रदान करते है। ये महाकाव्यों के समकालीन हैं। इसमें आदिम काल से गुप्तकाल की समस्त सामग्री का उल्लेख है। विष्णु पुराण मौर्य वंश के विषय में, मत्स्य पुराण आंध्र वेश के विषय में व्याख्या करते हैं। वायुपुराण में गुप्तों के विषय में जानकारी उपलब्ध कराते हैं। वायु पुराण में ही सामाजिक राजनीतिक व्यवस्था की उत्पति का वर्णन है। राजनैतिक दृष्टि से अग्नि पुराण का महत्व सर्वाधिक है जिसमें शासन का जनकल्याण का आधार बताया गया है। मार्कण्डेय पुराण में सामाजिक वर्ण व्यवस्था के नियमों के पालन तथा जनकल्याण पर बल दिया गया है।

5.स्मृतियाँ- ऐतिहासिक उपयोगिता के दृष्टिकोण से स्मृतियों का विशेष महत्व है। मनु, विष्णु, याज्ञवल्वय, नारद, बृहस्पति, पराशर, आदि की स्मृतियाँ महत्वपूर्ण हैं। ये धर्मशास्त्र के नाम से विख्यात हैं। इन स्मृतियों में साधारण वर्णाश्रम, धर्म, राजा के कर्तव्य, प्राचश्चित आदि का विस्तृत विवरण है।

6.जैन साहित्यः- जैन साहित्य प्राचीन चिन्तन को प्रमाणित करता है। मुख्य रूप से जैन साहित्य प्राकृत भाषा तथा संस्कृत भाषा दोनों में उपलब्ध है। जैन सूत्रों में इतिहास की अनेक उपयोगी सामग्री है। जैन साहित्य में ऐतिहासिक दृष्टि से आचार्य हेमचन्द्र लिखित ‘‘परिशिष्ट पर्वन’’ बहुत महत्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ में महावीर के काल से मौर्यकाल का विस्तृत विवरण मिलता है। भद्रवाहु चरित नामक दूसरे ग्रन्थ में भद्रबाहु से लेर चन्द्रगुप्त मौर्य तक बहुत जानकारी मिलती है।

7.बौद्ध साहित्यः- बौद्ध धर्म में तीन प्रमुख ग्रन्थ है। जिन्हें त्रिपटक के नाम से जाना जाता है। इनमें संत पिटक, धम्म पिटक और विनय पिटक आदि है। इसमें बुद्ध के उपदेशों का संग्रह है। इससे तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक व्यवस्था का ज्ञान प्राप्त होता है। निकाय एवं जातक ग्रंथों में तत्कालीन एवं पूर्ववर्ती समाज का उल्लेख है। बौद्ध धर्म ग्रन्थ दिव्यावदान, ललिताविस्तार, महावस्तु, मंजुशी आदि संस्कृत हैं। इसके अतिरिक्त अश्वेघोष का बुद्ध चरित वसुवंधु का धर्म कोष, नागार्जुन का माहययिका सूत्र महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

8.लौकिक साहित्यः- लौकिक साहित्य तत्कालीन समाज का विभिन्न काल खण्ड में चित्रण करते हैं। इसमें कालीदास की रचनायें, पाणिनी की रचनायें, पतंजलि की रचनायें प्रमुख हैं। उक्त विद्वानों ने अपनी रचनाओं जैसे पाणिनी की अष्टध्यायी तथा पंतजलि की व्याकरण महाभाष्य के द्वारा तत्कालीन समाज का चित्र खींचा।

9.कौटिल्य का अर्थशास्त्रः- कौटिल्य का ''अर्थशास्त्र'' भारत का ही नहीं वरन् विश्व के प्रमुख राजनैतिक ग्रन्थों में से एक था। इसे राजनीति शास्त्र का आधार माना जाता है। ''अर्थशास्त्र'' में राजा को वेद तथा तत्वज्ञान आदि विषय का अध्ययन करने को कहा गया है। सलटोरो के शब्दों में - ''प्राचीन भारत की राजनीतिक विचारधाराओं में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य कौटिल्य की विचारधारा है।''

10.नीतिशास्त्रः- नीतिशास्त्रों में कांमदकीय नीतिशास्त्र तथा शुक्रनीति सार का महत्वपूर्ण योगदान है। कौटिल्य के बाद राज्य एवं शासन पर लिखे ग्रन्थों में यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। कांमदनीय नीतिसार गुप्तकाल में 500ई0 के आसपास लिखा गया। शुक्रनीति भी तत्कालीन शासन व्यवस्था का वर्णन करता है। इसके समय में गणराज्यों का अंत हो चुका था अतः इसमें राजा का ही वर्णन है। शुक्र के अनुसार शासन का उद्देश्य जनता का सर्वांगीण विकास करना है।

11.अन्य ऐतिहासिक स्त्रोतः- अन्य ऐतिहासिक स्त्रोत में विभिन्न कालखण्डों में रचित विभिन्न रचनायें है। इसमें कल्हण रचित राजतंरगिणी प्रमुख है। इसमें प्राचीन काल से 12 वीं शताब्दी तक का कश्मीरी इतिहास का उल्लेख है। बाणभट्ट द्वारा रचित ''हर्ष चरित'' में हर्ष के शासन के विभिन्न पहलूओं का वर्णन किया गया है। पद्मगुप्त परिमल का ''नवसाहसाँकचरित'' परमार वंश की जानकारी देता है। वाक्पतिराज के काव्यग्रन्थ ''गौडवहों'' से कन्नौज के राजा यशोवर्मन के शासन की जानकारी मिलती है। विल्हण रचित ''विक्रमांक देव चरित्र'' ग्रन्थ से कल्याण के चालुक्य वंश के इतिहास का पता चलता है। पाँतजलि के ''महाभाष्य'' और कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' शुगवंश के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। विशाखदत्त के ''मुद्राराक्षस'' नाटक के द्वारा नंदवंश तथा मौर्यवंश का उल्लेख मिलता है। चन्दवरदाई की रचना 'पृथ्वीराज रासो' से तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक स्थिति की जानकारी मिलती है।

1.3.3.2 विदेशी स्त्रोत

भारतीय चिन्तन के अध्ययन का दूसरा महत्वपूर्ण स्त्रोत विदेशी स्त्रोत कहलाता है। इसमें मुख्य रूप से विदेशों विद्वानों की रचनाओं, टीकाओं से प्राप्त सूचनाओं को शमिल किया जाता है। इसमें मुख्य रूप से यूनानी एवं रोम के विचारकों को शामिल किया जाता है। यूनानी विचारकों को भी अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में बाँटा जाता हैः-

1. सिकंदर के पूर्व के विचारक - स्काइलेक्स, हैरोडोटस, हीसियस

2. सिकंदर के समकालीन - नियक्सि, ओनिसक्रेटिस

3. सिकंदर के बाद - मेगस्थनीय

सिकंदर के पूर्व के यूनानी विचारकः- इसमें मुख्य रूप से स्काइलेक्स था जो एक यूनानी सैनिक था। उसने अपनी पुस्तक में भारतीय सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्था का वर्णन किया है। हेरोडोटस ने भी भारतीय व्यवस्था का वर्णन किया है। उसका विवरण मुख्यतः सीमावर्ती क्षेत्रों पर आधारित था।

सिकंदर के समकालीन विचारकः- सिकंदर के समकालीन विचारकों में अरिस्टोवुलस, निर्याकस, ओनिसक्रेटिस, एरियन आदि प्रमुख थे। ये वे विद्वान थे जो आक्रमण के समय सिकंदर के साथ भारत आये थे। वे भारतीय समाज के साथ नजदीक से जुड़े थे। कतिपय यही कारण था कि इनका विवरण अधिक सटीक और प्रमाणिक माना जाता है।

सिकंदर के बाद के विचारकः- इसमें मुख्य रूप से मेगस्थनीय, डायमेकस, टिखनी, डायोडोरस, प्लूटार्क आदि प्रमुख हैं। यूनानी विचारकों में सर्वाधिक प्रमाणिक विवरण मेगस्थनीय का माना जाता है। जिन्होंने अपनी रचना 'इण्डिका' के माध्यम से एक विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया। एरियन, जस्टिन, डायोडोरस का विवरण मुख्यतः सिकंदर के अभियानों से संबंधित था।

इसके अतिरिक्त एक विदेशी रचना 'पेरीप्लस आफ दी एरीशियन सी' ने तत्कालीन व्यापार, विदेशों संबंधों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त टाल्मी का भूगोल, टिलनी का 'नैचुरल हिस्ट्री' तथा इंडकोरलुस्टस का 'क्रिश्चयन आफ दी यूनीवर्स' में भारत भौगोलिक सांस्कृतिक विस्तार का विवरण प्रदान करते हैं।

चीनी यात्रियों का विवरणः- चीनी यात्रियों द्वारा विभिन्न कालखण्डों मे दिया गया विवरण बहुत उपयोगी है। इन चीनी यात्रियों में फाह्यान, ह्वेनसांग तथ इटसिंग है। फाह्यान चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन के समय भारत आया था। उसने बौद्ध तीर्थी का भ्रमण किया तथा उसका विस्तृत विवरण दिया। ह्वेनसांग हर्ष के समय भारत आया उसने समूचे भारत का भ्रमण किया। 7 वीं शताब्दी में इटसिंग ने भारत में शिक्षा के उच्च अध्ययन केन्द्र नालंदा विश्वविद्यालय , तक्षशिला विश्वविद्यालय का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया। उनके सम्पूर्ण विवरण से तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा शैक्षिणक अवस्था का ज्ञान होता है।

मुस्लिम इतिहासकारों का विवरणः- भारत में इस्लामी आक्रमण के साथ मुस्लिम इतिहासकारों तथा यात्रियों के द्वारा भारतीय व्यवस्था का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। अल्वरूनी द्वारा रचित 'तहकीक एकहिन्द' से तत्कालीन राजपूत कालीन भूगोल, राजनीति, समाज, धर्म, रीति-रिवाज आदि का वर्णन मिलता है। अलमसऊदी की 'मजरूल जहाब' आदि ग्रन्थ भी तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्था का चित्रण करते है।

1.3.3.3 पुरातत्व, अभिलेख, मुद्राएं, स्मारक, मूर्तियां, स्तूप

पुरातन अवशेष ही अनेक उलझी पहेलियों को सुलझाते हैं। भारत के इतिहास में प्राचीन समय से लेकर आज तक अनेक रहस्यों से पर्दा हट रहा है। इसमें महत्वपूर्ण भूमिका पुरातन अवशेषों का रहता है। इन्हीं के अध्ययन से हमें सामवाहन वंश के आद के इतिहास का ज्ञान प्राप्त होता है। पुरातत्व में मुख्य रूप से प्राचीन अभिलेख, प्राचीन, मुद्रा, प्राचीन भवनों, स्मारकों आदि को शामिल किया जाता है। मार्शल, स्यूनर, आर0डी0 बनर्जी ने अनेक स्थानों पर खुदाई कर नये तथ्यों को उजागर किया। उनके प्रयासों से इतिहास का नया स्वरूप तथा लोगों के सोच की धारा ही बदल गई। डा0 आर0 डी0 बनर्जी ने 1921-22 में सिंध प्रांत में मोहनजोदड़ो तथा पंजाब में हड़प्पा की खुदाई करवाई। इन खुदाई से जो नये तथ्य सामने आये उनसे स्पष्ट हुआ कि भारतीय सभ्यता अत्यन्त प्राचीन है। इस दिशा में मार्शल का योगदान उल्लेखनीय है। गया, कालीवंगा, लोथल आदि की खुदाई ने नये रहस्यों पर से आवरण हटाया। पुरातत्व विद्वानों ने खुदाई में प्राप्त सामाग्रियों जैसे शव, मुद्रा, हड्डी, बर्तन, हथियार, औजार, श्रींगार सामग्रियों का अध्ययन कर इतिहास को नये तथ्यों से अवगत कराया। विभिन्न गुफाओं के अध्ययन से विभिन्न कालखण्डों की जानकारी मिलती है।

विभिन्न अभिलेखों जैसे गुफालेख, शिलालेख, स्तंभ लेख, ताम्र पत्र आदि को शामिल किया जाता है। ये अभिलेख विभिन्न भाषाओं में प्राप्त हुए है। इनके अध्ययन से राजनीति, सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था का ज्ञान होता है। इन अभिलेखों में अशोक के अभिलेखों को प्राचीनतम माना जाता है। उनके प्रमुख अभिलेखों में हाथी, गुफा अभिलेख, जूनागढ़ अभिलेख, गुप्तकालीन अभिलेख आदि हैं। समुद्रगुप्त के अभिलेखों में मुख्य रूप से प्रयाग का अभिलेख महत्वपूर्ण है। दक्षिण के चोल, पाण्डव, पल्लव राजाओं के अभिलेख महत्वपूर्ण है। ये सभी अभिलेख प्राचीन इतिहास का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते है।

मुद्राएँ- प्राचीन भारतीय इतिहास के ज्ञान का प्रमुख आधार मुद्राएं हैं। ईसा से पूर्व 200 से 300 ई0 तक के भारत के इतिहास की सम्पूर्ण जानकारी हमें मुद्राओं के माध्यम से प्राप्त होती है। अनेक प्राचीन शासकों जैसे पल्लव, शक, वैक्ट्रियन के अध्ययन का आधार मुद्रा हैं। मुद्राओं में गुप्तकालीन मुद्राओं का बहुत महत्व है। वे न केवल अत्याधिक कलात्मक है वरन् उसके निहितार्थ भी व्यापक हैं। ये राजा की वंशावली, तिथिक्रम तथा उत्तराधिकारी का बोध होता है। मुद्राओं के माध्यम से ही अनेक राज्यों का अस्तित्व सिद्ध होता है। शिव, मालव, अर्जुनायन, कुणादे आदि गणतन्त्रों का अस्तित्व इन मुद्राओं के माध्यम से सिद्ध होता है।

स्मारक

इसके अर्न्तगत विभिन्न भवन, मूर्तियाँ आदि सम्मिलित हैं। प्राचीन मंदिरों, विहारों, स्तूपों, मूर्तियों, भवनों आदि को शामिल किया जाता है। इनसे सामाजिक, धार्मिक जीवन की जानकारी मिलती है। लक्षशिला के टूटते भवनों में कुषाणवंश का विस्तृत विवरण मिलता है। पाटिलीपुत्र के भवनों से मार्य

वंश का विस्तृत ज्ञान होता है। देवगढ़, कानपुर, झांसी आदि के अनेक भवनों में गुप्त वंश के सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्था का बोध होता है।

इस प्रकार से स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय चिन्तन को प्रमाणित करने में अनेक तत्वों का योगदान रहा है। चिन्तन के स्त्रोत में देशी-विदेशी स्त्रोत तो को ही साथ ही विभिन्न पुरातन अवशेष, शिलालेखों, मुद्राओं ने न केवल तथ्य उजागर किये वरन् सम्पूर्ण चिन्तन को प्रभावित किया।

1.4 भारतीय चिन्तन का विकास

भारत में चिन्तन के विकास का प्रारम्भ भारत में आर्यों के आगमन से माना जाता है। काल खण्ड की दृष्टि से यह काल सोलह सौ से लेकर चौदह सौ वर्ष ईसा पूर्व तक है। इन आर्यो का समाज जैसे ऋग्वेद में अंकित था पितृप्रधान था। शासन राजतन्त्रात्मक था। राजा निर्वाचित एवं नियन्त्रित था। समय के साथ वह वंशानुगत एवं नियंत्रणमुक्त हो गया। वैदिक काल में सभा एवं समिति लोकप्रिय निकाय थे। वरिष्ठ एवं शक्तिशाली व्यक्तियों की परिषद ही राजा का चुनाव करती थी। वह राजा को समय-समय पर परामर्श भी देती थी।

धर्म एवं कर्मकाण्ड का प्रभाव समय के साथ बढ़ा। युद्ध में विजय तथा लाभ की लालस ने ‘बलि’ प्रथा को बढ़ावा दिया। पुरोहितों के कार्य, महत्व को बढ़ावा मिला। जनसंख्या बढ़ी तथा कार्यों के आधार पर ‘विशेषीकरण’ पर बल दिया गया। युद्धों की संभावना की अधिकता के कारण एक संगठित सेना की आवश्यकता महसूस की गई। युद्ध के विशेषज्ञों को क्षत्रिय कहा गया। अनेक कर्मकाण्डों, रिवाजों के लिये ब्राहृमणें का महत्व बढ़ा। अत्याधिक उपजाऊ भूमि में कृषि का विस्तार हुआ और व्यापारिक गतिविधियों को बढ़ावा मिला। इसके कारण समाज में एक प्रभावशाली व्यापारिक वर्ग का उदय हुआ। इसी समय कृषि उद्योग एवं अन्य कलाओं से जुड़ी नई जातियां बनने लगी। इसके अतिरिक्त गैर आर्य जो युद्ध में पराजित हो गये थे वे दास के रूप में स्थापित हो गये। इस प्रकार नई परिस्थितियों एवं विकास ने समाज को चार भागों में विभाजित कर दिया।

द्वितीय चरण में बड़े राज्य स्थापित हो गये। सामाजिक विकास के साथ राजनैतिक विकास होने लगा। राजा की सैनिक शक्ति एवं भौतिक शक्ति का विकास हुआ। राजा निर्वाचित के स्थान पर वंश आधारित हो गया। इसी समय राजा कानून का संरक्षक एवं सम्प्रभु बन गया। राजा की सत्ता को धार्मिक मान्यता प्रदान की गई।

विकास के तीसरे चरण में राजा धर्म के प्रमुत्व से बाहर आ गया। राजा अत्याधिक सशक्त हो गया और वह धर्म को ही प्रभावित करने लगा। यह प्रक्रिया बौद्ध धर्म, जैन धर्म के साथ प्रारम्भ हुई। ब्राहृमणवाद पर कठोर प्रहार हुआ। इन दोनों धर्मों ने राजा का समर्थन प्राप्त किया। राजा के समर्थन से न केवल इन दोनों धर्मों का तीव्र विस्तार हुआ वरन् ब्राहृमणवाद का प्रभाव कम हुआ। यहीं से नये उदार विचारों का जन्म हुआ। नये विचारों को समाहित करते हुए नये कानून बनाये गये।

राजा नई परिस्थितियों में और अधिक मजबूत हो गया। वह नये धर्मों का प्रसार कर रहा था साथ ही कट्टर पुरातन व्यवस्था पीछे छूट रही थी। राजा निरन्तर मजबूत होता जा रहा था। इसी समय बड़ी राजशाही स्थापित होने लगी। बड़े सम्राटों का झुकाव भी अलग-अलग धर्मों की ओर होने लगा। जहां सम्राट चन्द्रगुप्त जैन धर्म का समर्थक था वहीं सम्राट अशोक बौद्ध धर्म का समर्थक था। सामाजिक समरसता, सौहार्द बनाये रखने तथा प्रतिक्रियावादी शक्तियों को नियन्त्रित करने के लिये राजा ने बल का प्रयोग किया। उसने स्वयं की आज्ञाओं, आदेशों को जारी कर धार्मिक क्षेत्र में भी दखल प्रारम्भ किया। मौर्य वंश के पतन के बाद भारतीय राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन आये। नये छोटे-छोटे राज्य स्थापित हुए तथा नये राजा अस्तित्व में आये। शक एवं कुषाण राज्य स्थापित हुए। विदेशी शासकों ने प्रथम प्रहार सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवस्था पर किया। ब्राह्मणवादी व्यवस्था और कमजोर हुई। इसी समय दैवीय अधिकारों पर बल मिला। अनेक शक एवं कुषाण शासकों ने अपने को ईश्वर पुत्र घोषित कर दिया। यही से राजा का धर्म पर भी प्रभुत्व स्थापित हो गया। राजा धर्म प्रचारक, रक्षक तथा सर्वोच्च व्याख्याकार बन गया।

प्राचीन भारतीय राज्यों का स्वरूप संघात्मक था। इसके बावजूद महत्वपूर्ण मामलों में शक्तियों का केन्द्रीकरण था। सम्राट अपने राज्य में सर्वोच्च सत्ता एवं सम्प्रभु था। उसकी सर्वोच्चता भूमि एवं जल पर स्थापित थी। वह पवित्र कानून का संरक्षक था धर्म प्रवर्तक था। वह देवता समान था तथा न्याय का सर्वोच्च अधिकारी था।

1.4.2 भारतीय चिन्तन की प्रमुख विशेषतायें

प्राचीन भारत में जो राजनैतिक व्यवस्था थी उसकी अपनी विशेषता थीं जो उसे पाश्चात्य चिन्तन से अलग करती है। ये विशेषतायें तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक कारणों से प्रभावित थी। प्राचीन भारतीय चिन्तन की प्रमुख विशेषतायें निम्न हैः-

1.धर्म एवं राजनीति का सांमजस्यः- प्राचीन भारत में राजनीति तथा उसके सिद्धान्तों का विकास धर्म के एक सिद्धान्त के रूप में हुआ था। यही कारण है कि प्राचीन राजनीतिक चिन्तन में धर्म को राजनीति के साथ जोड़कर देखा गया। प्राचीन राजनीतिक चिन्तन में धर्म से राजनीति को जोड़कर देखा गया। राजा से भी धर्म के पालन की आशा की जाती है। वह हर प्रकार के धार्मिक परम्पराओं, रीतियों से बंधा हुआ है। राजा से आशा की जाती है कि वह शासन भी धार्मिक सिद्धान्तों के आधार पर करे। राजनीति में धर्म एवं नैतिकता सदैव समावेश रहा है। भारत में प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ ही राजनीति के मुख्य ग्रन्थ माने जाते है। इनमें वेद, उपनिषद, पुराण, रामायण, महाभारत आदि प्रमुख हैं।

2.आध्यात्मिकता पर बलः- प्राचीन भारतीय राजनीति का झुकाव आध्यात्म की ओर अत्याधिक रहा है। भारत को आध्यात्मिक गुण भी कहा जाता है। जीवन के प्रत्येक पहलू का विचार आध्यात्म से प्रेरित है। यहां पर जीवन शैली ही आध्यात्मिक रही है। कतिपय यही कारण है कि यहां राजनीति का रंग भी आध्यात्मिक है। भारत में राजनीति में आत्मा का विकास एवं मानव के सर्वागींण विकास

पर बल दिया गया है। भारतीय चिन्तन में माना गया कि जीवन का मूल उद्देश्य आत्मा का विकास करना है। जीवन इस उद्देश्य की प्राप्ति का साधन मात्र है।

3.राज्य आवश्यक संस्था हैः-प्राचीन भारतीय चिन्तन की यह प्रमुख विशेषता है कि राज्य को आवश्यक संस्था मानती है। जीवन के तीन लक्ष्यों धर्म, अर्थ और काम की राज्य के बिना प्राप्ति संभव नहीं है। अराजकतावादी राज्य को अनावश्यक और अनुपयोगी मानते हैं, व्यक्तिवादी राज्य को आवश्यक बुराई मानते हैं। इनके विपरीत भारतीय चिन्तन ने राज्य को अति आवश्यक माना जाता है। यह न केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन है वरन् आत्मा का विकास करने का भी माध्यम है।

4.राज्य के विस्तृत कार्य क्षेत्र पर बलः- भारतीय राजनीतिक चिन्तन आदर्शवादी तो है परन्तु इसमें कही भी व्यक्तिवाद की झलक नहीं मिलती है। भारतीय चिन्तन में राजा का कार्यक्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। राज्य न केवल व्यक्तियों की रक्षा करेगा वरन् उनकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा। राज्य इसके बाद नैतिकता के मार्ग पर प्रेरित कर अंतिम लक्ष्य (आत्मा का विकास) को प्राप्ति के लिये वातावरण उपलब्ध करायेगा।

5.राजा की सर्वोच्च सत्ता पर बलः-भारतीय राजनीतिक चिन्तन में राज्य का स्थान सर्वोच्च है। राजा सर्वोच्च शक्तियों का प्रयोग करता है। वह किसी के प्रति जबावदेह नहीं है। अनेक विद्वानों ने राजा को दैवीय माना है। उसमें दैवीय गुणों का समावेश किया है। कौटिल्य ने राजा और राज्य के बीच कोई अंतर नहीं किया है। राजा को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। परन्तु उसे निरंकुश नहीं किया गया है।

6.दण्ड पर बलः- भारतीय राजनीतिक चिन्तन यह मानता है कि मानव में आसुरी शक्तियों की प्रधानता होती है। अतः उनको नियन्त्रित करने के लिये दण्ड की आवश्यकता होती है। भारतीय चिन्तन में कठोर दण्ड का प्रावधान है जिससे समाज संदेश जाय और अन्य लोग कानून तोड़ने से बचे। प्राचीन विद्वानों ने इसे दण्ड नीति के नाम से पुकारा है। मनु, कौटिल्य सभी ने दण्ड पर बल दिया।

7.व्यवहारवादी दृष्टिकोणः- भारतीय चिन्तन आदर्शवादी न होकर व्यवहारिक है। भारतीय चिन्तन में यूनानी विचारकों प्लेटो, अरस्तू की तरह कल्पना का अभाव है। ए0के0 सेन के शब्दों में - ''हिन्दू राजनीतिक चिन्तन उत्कृष्ठ वास्तविकताओं से भरा हुआ है। कुछ राजनीतिक अपवादों को छोड़कर भारतीय राजनीतिक विचारों का संबंध राज्य के सिद्धान्त एवं दर्शन से उतना नहीं जितना राज्य की समस्याओं से है।

8.विचारों की अपेक्षा संस्थाओं पर बलः- भारतीय प्राचीन विद्वानों ने अपनी रचनाओं का केन्द्र संस्थाओं को बनाया है। इन संस्थाओं का महत्व, संगठन तथा कार्य आदि का व्यापक वर्णन किया

गया है। समस्त अध्ययन का केन्द्र बिन्दु मूल रूप से राजनीतिक संगठनों तथा उनके कार्यों को बनाया गया है।

9.सामाजिक व्यवस्था का प्रभावः- प्रत्येक देश की राजनीतिक व्यवस्था वहां की सामाजिक व्यवस्था की देन होती है। प्रत्येक व्यवस्था में राजनीतिक में हो रहा परिवर्तन सामाजिक व्यवस्था की देन होता है। भारत के चिन्तन में ऐसा देखा गया है कि यहां पर भी सामाजिक व्यवस्था का व्यापक प्रभाव राजनीतिक व्यवस्था पर है।

10.राजा के व्यापक कार्यों का वर्णनः- प्राचीन भारतीय चिन्तन में प्रायः विद्वानों ने राजा के कार्यों का व्यापक वर्णन किया है। इन रचनाओं का अधिकांश हिस्सा राजपद की योग्यता, महत्व एवं कार्यों के वर्णन में है। राजा का परम कर्तव्य क्या है? उसे किस प्रकार इसका पालन करना चाहिए? आदि प्रश्नों के उत्तर स्पष्ट रूप से अंकित है।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में तत्कालीन राजनैतिक समस्याओं पर न केवल विचार हुआ वरन उसका समाधान भी प्रस्तुत किया गया। यह उस समय हो रहा था जब पश्चिम में व्यवस्थित अध्ययन भी प्रारम्भ नहीं हुआ था। भारतीय चिन्तन यर्थातवादी, संस्थावादी तथा अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति पर बल देता है।

मूल्यांकन

भारतीय राजनीतिक चिन्तन अत्यन्त प्राचीन है। कुछ विद्वानों इसे पांच हजार वर्ष से भी प्राचीन मानते हैं। यह दुनिया की प्राचीनतम सभ्यताओं में से एक है। यद्यपि कुछ पश्चिमी विद्वानों ने झूठ का एक ऐसा आवरण डाला जिसमें यह सिद्ध किया गया कि भारत में प्राचीन चिन्तन था ही नहीं। जो कुछ भी था वह पाश्चात्य चिन्तन के सामने ठहरता ही नहीं। नये शोधों, पुरातत्व विभाग की खोज ने यह सिद्ध कर दिया कि भारत में अति प्राचीन काल से ही राजनैतिक चिन्तन न केवल अस्तित्व में है वरन् उसका स्तर भी काफी अच्छा है।

राजनैतिक चिन्तन के द्वारा किसी भी समाज की राजनैतिक व्यवस्था का न केवल ज्ञान होता है वरन् उसमें सुधार की संभावना भी बनी रहती है। राजनैतिक चिन्तन से विश्व की घटनाओं को समझने की समझ उत्पन्न होती है। साथ ही अन्य देशों में उससे प्रेरणा लेकर मानव कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है। उदाहरण के लिये रूसो के विचारों ने फ्रांस की क्रान्ति में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इसके साथ ही चिन्तन से नई शब्दालियों , परिभाषाओं का भी ज्ञान होता है।

जहां तक राजनैतिक चिन्तन के स्रोत का प्रश्न है तो यह दो स्तरों पर पाया जाता है। इसका पहला स्रोत देशी है तथा दूसरा स्रोत विदेशी है। देशी स्रोत में भारतीय विद्वानों की रचनायें, ग्रन्थ, महाकाव्य आदि है। इसमें मुख्य रूप से वेद, पुराण, उपनिषद, रामायण, महाभारत तथा विभिन्न काल खण्डों में रचित विभिन्न रचनायें आती हैं। यह सभी भारतीय चिन्तन की दिशा को स्पष्ट करती है। इसके

अतिरिक्त विदेशी स्त्रोत भी है। जिनमें विभिन्न विदेशी विद्वानों के द्वारा समय-समय पर लिखी गई रचनायें आती हैं। इसमें मुख्य रूप से यूनानी विचारकों, चीनी विचारकों की रचनाओं का योगदान है। इसके अतिरिक्त शिलालेख, मुद्राओं, स्तूप आदि पर लिखी गई रचनाओं का अपना योगदान है। भारतीय चिन्तन मूल रूप से यर्थात पर आधारित है। इसमें आध्यात्मिकता के तत्व दिखाई पड़ते है। भारतीय चिन्तन में राजनीति से धर्म को अलग नहीं देखा जाता है। इन दोनों को साथ ही स्वीकार किया जाता है। भारतीय चिन्तन में राजा तथा राज्य का स्थान सर्वोच्च है। राज्य का कार्यक्षेत्र व्यापक स्वीकार किया गया है। इसमें सदैव संस्थाओं को महत्व प्रदान किया गया है। सम्पूर्ण भारतीय राजनीतिक चिन्तन न केवल प्राचीनतम है वरन् यह व्यवहारिक भी है। यह सामाजिक व्यवस्था का आइना सदृश्य दिखता है जो सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप अपना स्वरूप भी बदलता हुआ दिखायी पड़ता है। इस प्रकार से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय चिन्तन ने केवल प्राचीन वरन् अत्यन्त उच्च कोटि का है। यह तत्कालीन समाज से न केवल प्रभावित है वरन् आगे आने वाले समाज के लिये पथ-प्रदर्शक का कार्य करता है।

स्व-मूल्यांकन हेतु प्रश्नः-

1. प्राचीन भारतीय चिन्तन उच्च कोटि का है। सत्य/असत्य
2. भारतीय राजनीतिक चिन्तन पाश्यात्य चिन्तन से प्राचीन है। सत्य/असत्य
3. प्लेटो और अरस्तू कहां के विचारक थे?
4. कौटिल्य की रचना का क्या नाम था?
5. फ्रांस की क्रान्ति पर सर्वाधिक प्रभाव किस विचारक का था?
6. राजनीतिक चिन्तन का ....के साथ घनिष्ठ संबंध होता है।
7. प्राचीन भारतीय चिन्तन के प्रमुख स्त्रोत क्या है?
8. प्राचीन भारतीय चिन्तन के विदेशी स्त्रोत कौन से है?
9. अश्वघोष की रचना का क्या नाम है?
10. पाणिनी की रचना का क्या नाम है?

1.5 सारांश

इस प्रकार से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय चिन्तन का इतिहास अत्याधिक प्राचीन है। यह वैदिक काल से प्रारम्भ होकर भारत में इस्लामिक शासन तक माना जाता है। यद्यपि भारतीय चिन्तन के

विषय में पाश्चात्य समीक्षको की दृष्टि सकारात्मक नहीं रही है। इसके बावजूद भारतीय चिन्तन न केवल यर्थाथवादी हैं वरन यह बहुत हद तक आधुनिक भी है। भारतीय चिन्तन के केन्द्र में मानव है। जबकि पाश्चात्य चिन्तन के केन्द्र में मानव नहीं है। इसके बावजूद मैक्समूलर , डनिंग जैसे पाश्चात्य समीक्षकों ने इसे अव्यावहारिक व अनुपुयुक्त माना । उक्त आलोचनायें उपयुक्त नहीं दिखाई पड़ती है। भारतीय चिन्तन अनवरत मानव उपयोगी रहा है।

भारतीय चिन्तन के अनेक स्रोत रहें है। इसमें मुख्य रूप से प्राचीन रचनायें जैसे वेद,पुराण,धर्मसूत्र,उपनिषद, महाकाव्य आदि। इसके अतिरिक्त समय-समय पर विदेशी विद्वानों के विवरण ने भी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इसके अतिरिक्त अलग-अलग कालखण्डों में आई विभिन्न रचनाओं जैसे अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, एवं शुक्रनीति ने भी इसमें योगदान दिया है। प्राचीन भारतीय चिन्तन शिलालेखों, स्तंभलेखों , गुफालेखों, एवमं ताम्रलेखों में भी परिलक्षित होता है। भारतीय चिन्तन धर्म एवमं एवं राजनीति को एक साथ जोड़कर देखता है। इसमें राजनीति की पवित्रता पर बल है। इसमें आध्यात्मिकता पर झुकाव है। इसके साथ ही भारतीय चिन्तन में राज्य को अपरिहार्य माना गया है। भारतीय चिन्तन में शासन एवं प्रशासन के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण रखा गया है। इसमें कठोर दण्ड की व्यवस्था दिखाई पड़ती है। भारतीय चिन्तन में राजा के कार्यक्षेत्र को व्यापक माना गया है। उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय चिन्तन एकपक्षीय पुरातनपंथी एवं अधूरा नहीं है वरन यह पूर्णत व्यावहारिक एवमं आधुनिक है।

1.6 शब्दावली

पाश्चात्य- पश्चिमी भूभाग अथवा पश्चिम के देश जैसे यूनान, इंग्लैण्ड, फ्रांस

औपनिवेशिक कालः- भारत में बिटिश शासन के समय को औपनिवेशिक काल कहा जाता है। पूर्वाग्रहः- पहले से निर्णय लेकर (तय करके) कार्य करना ही पूर्वाग्रह कहलाता है।

आदर्शवादः- अच्छी स्थिति , आदर्श स्थिति की कल्पना करना तथा जो लागू करने में मुश्किल हो आदर्शवाद के अन्तर्गत आता है।

1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, 2. सत्य, 3. यूनान, 4. अर्थशास्त्र 5. रूसो 6. यर्थातवाद 7. वेद, पुराण, शिलालेख, स्तूप, ग्रन्थ, 8. स्काइलेक्स, मेगस्थनीज, हवेनसांग, फाहयान ,

9. बुद्धचरित, 10. अष्टध्यायी

1.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. राव एम0वी0 कृष्णा, स्टडीज इन कौटिल्या

2. समस्त्रे आर0 , कौटिल्यस का अर्थशास्त्र

3. परमात्मा शरण, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं समस्यायें

4. वर्मा , वी0पी0, प्राचीन भारतीय चिन्तन

1.9 सहायक/उपयोगी पाठ सामग्री

1. वेनी प्रसाद, दि स्टेट इन एनसिएंट इण्डिया

2. श्यामलाल पाण्डेय, कौटिल्य की राज व्यवस्था

1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. राजनीतिक चिन्तन से क्या आशय है? भारतीय प्राचीन चिन्तन के प्रमुख स्त्रोत बताइए।

2. प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की प्रमुख विशेषतायें बताइये।

3. प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन क्या है? यह किस प्रकार पाश्चात्य चिन्तन से भिन्न है, स्पष्ट कीजिये।

4. प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के महत्व पर एक निबन्ध लिखिये।

5. राजनीतिक चिन्तन से आप क्या समझते है? इसके प्रमुख चरणों पर प्रकाश डालिये।

6. प्राचीन राजनीतिक चिन्तन के विकास पर निबन्ध लिखिये।

इकाई 2 - राजनीतिक दर्शन: वैदिक काल से छठी शताब्दी ईसा पूर्व

इकाई का स्वरुप

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 प्राचीन भारत के राजनीतिक साहित्य के प्रमुख स्रोत

2.4 वैदिक काल में राजनीतिक विचारधारा

2.4.1 ऋग्वेद में राजनीतिक संकल्पनाएँ

2.4.2 प्राचीन भारतीय राज्यों के प्रकार

2.4.3 प्राचीन भारतीय राजनीतिक संस्थाएँ

2.5 उत्तर वैदिक काल में राजनीतिक विकास

2.6 महाजनपद काल: राज्यों का उदय

2.6.1 महाजनपद काल का ऐतिहासिक परिचय

2.6.2 सोलह महाजनपदों की सूची, राजधानियाँ एवं भौगोलिक स्थिति

2.6.3 राजतंत्रीय राज्यों का विकास

2.6.4 गणतांत्रिक राज्यों की विशेषताएँ

2.7 प्रारंभिक बौद्ध एवं जैन विचारधारा में राजनीति

2.7.1 बौद्ध दर्शन में राज्य की अवधारणा

2.7.2 जैन दर्शन में राजनीतिक विचार

2.8 साराशं

2.9 शब्दावली

2.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

2.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

2.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

2.13 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

सर्वविदित है की भारतीय इतिहास, धर्म एवं सभ्यता सबसे पुरातन सभ्यताओं में है। भारतीय राजनीतिक इतिहास भी प्रारंभ से ही इस सभ्यता का अंश रहा है । वैदिक साहित्य में कई स्थानों में राजनीतिक विचारों का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में राज्यशास्त्र , अथर्ववेद में राजपद से संबधित श्लोक तथा यजुर्वेद में भी राजा द्वारा किये जाने वाले यज्ञों का उल्लेख मिलता है। विदेशी आक्रमणों और अन्य अस्तित्वगत चुनौतियों के कारण भारतीय ग्रन्थ पूर्ण रूप से नहीं सहेजे गए किन्तु इसका

यह अर्थ नहीं की भारतीय वांग्मय में राजनीति से सम्बंधित कोई ज्ञान उपलब्ध नहीं था। भारतीय मानस में राजनीति के पर्यायवाची के रूप में राजधर्म, राजशास्त्र, दंडनीति, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, आदि शब्दों से संबोधित किया गया है। शांतिपर्व एवं मनुस्मृति में राजधर्म का उल्लेख मिलता है हांलाकि यहमुख्यतः क्षत्रीय धर्म से आशय रखता था। राजशास्त्र का भी वर्णन महाभारत में मिलता है जो राजा के जीवन के व्यवहार से सम्बंधित है। दण्डनीति को भी प्राचीन भारतीय राजनीति का महत्त्वपूर्ण स्तम्भ माना गया है जो संप्रभुता का प्रतीक है, मनु कहते हैं की जब लोग सो रहे होते हैं तो दण्ड ही उनकी रक्षा करता है। दण्ड ही सभी को अपने-अपने धर्म में स्थापित रखता है। ऋग्वैदिक काल की जनजातीय व्यवस्था से लेकर उत्तरवैदिक काल में राज्य की अवधारणा के विकास, तथा बौद्ध और जैन धर्मों के उदय के साथ राजनीतिक विचारधाराओं में आए परिवर्तनों का विश्लेषण शामिल है। यह कालखंड भारतीय राजनीतिक चिंतन के निर्माण का स्वर्णिम युग है, जहाँ हमें राज्य, सत्ता, न्याय और धर्म की अवधारणाओं का प्रारंभिक रूप देखने को मिलता है।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप:

- वैदिक एवं उत्तर वैदिक काल की राजनीतिक विचारधारा को समझ सकेंगे।
- प्राचीन भारतीय राज्यों के विभिन्न प्रकारों एवं शासन-संस्थाओं (सभा, समिति, विदथ) का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- महाजनपद काल में राजतंत्र एवं गणतंत्रीय व्यवस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन कर सकेंगे।
- बौद्ध एवं जैन दर्शन में राज्य एवं शासन की अवधारणाओं को समझ सकेंगे।
- प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन की समकालीन प्रासंगिकता का आकलन कर सकेंगे।

2. 3 प्राचीन भारत के राजनीतिक साहित्य के प्रमुख स्रोत

भारतीय साहित्य आध्यात्मिक दृष्टिकोण पर आधारित रहा है इसीलिए लम्बे समय तक किसी अन्य सामाजिक क्षेत्र का अलग से अध्ययन एवं संकलन प्राप्त नहीं होता। भारतीय साहित्य जीवन के प्रति एक समग्र दृष्टि प्रदान करता है जिसका केंद्र अध्यात्म है। सभी लेखक अपनी समग्रता में राजनीति को भी एक महत्वपूर्ण पहलू मान कर उस पर अपनी टिप्पणी की हैं। वैदिक साहित्य राजनीतिक विचारों का प्राचीनतम स्रोत है। ऋग्वेद में राजा के निर्वाचन, राज्याभिषेक तथा सभा, समिति, विदथ जैसी संस्थाओं का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद में राजत्व व्यवस्था के सिद्धांतों का निर्माण हो चुका था। ब्राह्मण ग्रंथों में राज्याभिषेक, शासनाधीश की पदवियाँ एवं राज्यों के प्रकार वर्णित हैं। शतपथ

ब्राह्मण में आनुवंशिक राजत्व का उल्लेख है। उपनिषदों, विशेषतः बृहदारण्यक एवं छान्दोग्योपनिषद्, में बिम्बिसार-पूर्व राजनीतिक अवस्था की जानकारी मिलती है। पुराण भी राजनीतिक अवस्थाओं के लिए महत्वपूर्ण स्रोत हैं। 'वंशानुचरित' नामक अंग में राजवंशों की तालिकाएँ एवं राजनीतिक घटनाओं का वर्णन है। अग्नि पुराण में राजा को विभिन्न देवताओं का अंश बताया है। मार्कण्डेय एवं मत्स्य पुराण में राजधर्म को सभी धर्मों का सार कहा गया है। रामायण भी राजनीतिक चेतना का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें 'अर्थशास्त्र' शब्द राजनीतिशास्त्र के लिए प्रयुक्त हुआ है। राज्य, राष्ट्र, जनपद जैसे शब्द क्षेत्रीय राज्य की संकल्पना को दर्शाते हैं। राजा के लिए 'सम्राट', 'चक्रवर्ती' जैसी उपाधियों का प्रयोग हुआ है। अयोध्याकाण्ड एवं युद्धकाण्ड में प्रशासनिक एवं न्यायव्यवस्था, अंतर्राज्यीय सम्बन्धों हेतु षाड्गुण्य, चतुर्विध उपायों का विस्तृत वर्णन है। महाभारत को तो राजनीतिक विचारों का कोष कहा जा सकता है। 'राजधर्म' की व्यवस्थित विवेचना शांतिपर्व में भीष्म द्वारा की गई है। इसमें बृहस्पति, शुक्र, भारद्वाज आदि राजनीतिक विचारकों का उल्लेख है। महाभारत में राजशास्त्र, राजधर्म, दण्डनीति जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है। शांतिपर्व, अनुशासनपर्व, सभापर्व (नारदनीति), उद्योगपर्व (विदुरनीति) आदि विभिन्न पर्वों में राजनीतिक सिद्धांत बिखरे हुए हैं। स्मृतियाँ भी राजधर्म की विवेचना का महत्वपूर्ण माध्यम हैं। मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, बृहस्पति, कात्यायन की स्मृतियाँ उल्लेखनीय हैं। इनमें आदर्श राजा के कर्तव्य एवं अधिकार, दण्ड की आवश्यकता, मंत्रियों एवं पार्षदों के कर्तव्य, राज्य के अंग, अंतर्राज्य सम्बन्ध, न्यायतंत्र की विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। बौद्ध एवं जैन साहित्य राज्य व्यवस्था की भिन्न झलक प्रस्तुत करते हैं। त्रिपिटक, विशेषतः दीघनिकाय, में राज्योत्पत्ति का क्रमबद्ध सिद्धांत प्राप्त होता है। विनयपिटक में बौद्ध संघ के नियम गणराज्यों से लिए गए बताए गए हैं। जातकों में राजा के कर्तव्यों, न्याय प्रशासन एवं आर्थिक गतिविधियों का उल्लेख है। जैन आचारांगसूत्र में विभिन्न राज्यों का वर्णन है। उत्तराध्ययनसूत्र जैन राजनीतिक विचारों का प्राचीनतम ग्रंथ है।

2.4 वैदिक काल में राजनीतिक विचारधारा

ऋग्वेद में आर्यों को उनकी पाँच प्रमुख कबीलीय संरचना के कारण पंचजन कहा गया है। ये पाँच कबीले थे- पुरु, यदु, तुर्वश, द्रुह्य और अनु। इसके अतिरिक्त भरत, क्रिव एवं त्रित्सु आर्य शासक वंश के थे। भरत कुल के नाम पर ही इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा, जिनके पुरोहित महर्षि वशिष्ठ थे।कालान्तर में भरत वंश के राजा सुदास तथा अन्य दस जनों -पुरु, यदु, तुर्वश, अनु, द्रुह्य, अकिन, पक्थ, भलानस, विषणिन और शिव के मध्य दाशराज्ञ युद्ध परुष्णी (रावी) नदी के किनारे लड़ा गया, जिसमें सुदास को विजय मिली। कुछ समय पश्चात् पराजित राजा पुरु और भरत के बीच मैत्री स्थापित होने से एक नवीन कुरु वंश की स्थापना हुई।

ऋग्वैदिक काल में समाज कबीले के रूप में संगठित था जिसे जन कहा जाता था । कबीले या जन का प्रशासन कबीले का मुखिया करता था, जिसे राजन कहा जाता था। इस समय राजा का

पद आनुवंशिक हो चुका था। राजा को जनस्य गोपा (जनता का रक्षक) तथा पुरचेत्ता (नगर का ज्ञाता) कहा जाता था। राजा के लिए अन्य उपाधियाँ जैसे विशापति, गणपति, ग्रामणी आदि भी थीं । कबीले के लोग स्वेच्छा से राजा को **बलि** नामक कर देते थे। राष्ट्र की क्षेत्रीय अवधारणा धीरे-धीरे विकसित हो रही थी, क्योंकि ऋग्वेद के 10वें मण्डल में राजा से राष्ट्र की रक्षा करने को कहा गया है। उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद में जन शब्द 275 बार आया है, जबकि जनपद शब्द का उल्लेख एक बार भी नहीं मिलता, जो इस काल में स्थिर क्षेत्रीय राज्य के अपेक्षा भ्रमणशील कबीली व्यवस्था को दर्शाता है।

राजा कोई भी निर्णय कबायली संगठनों की सलाह से लेता था। राजा की सहायता हेतु प्रमुख अधिकारी थे पुरोहित, सेनानी एवं ग्रामणी। पुरोहित का पद प्रायः प्रायः वंशानुगत होता था। लड़ाकू दल के प्रधान ग्रामणी कहलाते थे। सैन्य संचालन व्रात, गण, ग्राम व सर्ध नामक कबीलाई टुकड़ियाँ करती थीं। ऋग्वेद में युद्ध मुख्यतः धनुष-बाणों से होता था तथा पुरपथरिष्णु नामक यन्त्र का भी उल्लेख मिलता है, जो दुर्गों को गिराने के काम आता था। कुछ प्रमुख पदाधिकारी एवं उनके कार्य इस प्रकार हैं सूत, रथकार, कर्मार आदि पदाधिकारी रत्नी कहे जाते थे इनकी संख्या राजा सहित लगभग 12 थी, जो राज्याभिषेक के समय उपस्थित रहते थे।'पुरप' दुर्गपति होते थे। स्पश गुप्तचर होते थे, जो जनता की गतिविधियों पर नज़र रखते थे। दूत समय-समय पर संधि-विग्रह के प्रस्ताव लेकर राजा के पास जाता था। वाजपति गोचर भूमि का अधिकारी होता था।कुलप परिवार का मुखिया होता था। भागदुध एक विशिष्ट अधिकारी था, जो राजा के अनुयायियों के मध्य बलि यानि भेंट का समुचित बँटवारा एवं कर का निर्धारण करता था।

2.4.1 ऋग्वेद में राजनीतिक संकल्पनाएँ

ऋग्वेद, जो भारत का सबसे प्राचीन ग्रंथ है, राजनीतिक विचारधारा के विकास की प्रारंभिक अवस्था को दर्शाता है। ऋग्वेद में **राजन्** शब्द का प्रयोग शासक या नेता के लिए किया गया है, जो उस समय की राजनीतिक व्यवस्था का सूचक है। राजा को गोप यानी रक्षक और गोविन्द जो गायों का स्वामी भी कहा गया है, जो पशुपालन-प्रधान अर्थव्यवस्था में शासक की भूमिका को दर्शाता है। ऋग्वेद में सभा और समिति दो महत्वपूर्ण राजनीतिक संस्थाओं का उल्लेख मिलता है। सभा संभवतः कुलीनों की एक छोटी परिषद थी, जबकि समिति राजा की अध्यक्षता में आयोजित एक बड़ी सभा थी। ये दोनों संस्थाएँ उस समय की सामूहिक निर्णय प्रक्रिया को दर्शाती हैं। विदथ नामक एक अन्य संस्था का भी उल्लेख है, जो धार्मिक और सामाजिक गतिविधियों का केंद्र थी। ऋग्वेद काल में राजा निरंकुश नहीं था; वह जनता के सहयोग से शासन करता था। जन शब्द का प्रयोग जनता या प्रजा के लिए किया गया है। विश का अर्थ जनपद या समुदाय है, और ग्राम का तात्पर्य गाँव से था। राजनीतिक संगठन की यह बहुस्तरीय संरचना दर्शाती है कि प्रारंभिक वैदिक समाज में एक संगठित राजनीतिक व्यवस्था विद्यमान थी। राजा का चुनाव किस प्रकार होता था, इस बारे में ऋग्वेद में स्पष्ट

जानकारी नहीं है। तथापि, कुछ सूक्तों से यह अनुमान लगाया जाता है कि राजा का पद वंशानुगत भी होता था और जनता की सहमति से भी। नरिष्ठ शब्द का प्रयोग युद्धों में नेतृत्व करने वाले व्यक्ति के लिए होता था। ऋग्वेद में धर्म शब्द का प्रयोग राजनीतिक संदर्भ में बहुत कम मिलता है, लेकिन ऋत यानी ब्रह्मांडीय व्यवस्था की अवधारणा राजा के कर्तव्यों को निर्धारित करती थी। राजा को ऋत का पालन करने वाला एवं सामाजिक व्यवस्था का रक्षक माना जाता था। राजा का मुख्य कर्तव्य प्रजा की रक्षा करना और युद्धों में विजय प्राप्त करना था।

2.4.2 प्राचीन भारतीय राज्यों के प्रकार

- **राज्य एवं साम्राज्य -** ऋग्वेद में राज्य का सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है। इन्द्र, वरुण, सोम, सूर्य आदि देवताओं के लिए राजा विशेषण का प्रयोग किया गया है। यजुर्वेद में राजसूय यज्ञ के माध्यम से राजा की पदवी प्राप्त करने का विधान है। राजा राज्य का स्वामी होता था तथा उसकी सहायता के लिए मंत्रिपरिषद् एवं विभिन्न अधिकारी नियुक्त होते थे। साम्राज्य का उल्लेख सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में मिलता है। ऋग्वेद में वरुण से साम्राज्य की प्राप्ति के लिए प्रार्थना की गई है। यजुर्वेद में 'साम्राज्याय सुक्रतुः' कहकर साम्राज्य का निर्देश किया गया है। अथर्ववेद में सम्राट के अभिषेक के साथ-साथ उसकी पत्नी के लिए 'साम्राज्ञी' पद का भी प्रयोग हुआ है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार राज्य अवर होता है तथा साम्राज्य श्रेष्ठ। राजा के लिए राजसूय यज्ञ तथा सम्राट के लिए वाजपेय यज्ञ का विधान है।
- **माहाराज्य -** हालाँकि संहिताओं में 'महाराजा' पद का प्रयोग नहीं मिलता, किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण में इसका उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार वृत्र के वध के पश्चात इन्द्र को महेन्द्र की पदवी प्राप्त हुई और वह महाराज कहलाने लगा। यह स्पष्ट है कि महाराज की पदवी का पात्र वही था जो किसी प्रबल प्रतिद्वंद्वी को पराजित करता था।
- **स्वाराज्य -** ऋग्वेद का प्रथम मण्डल का 80वाँ सूक्त स्वाराज्य सूक्त कहलाता है, जिसके प्रत्येक मंत्र में 'अर्चन्ननु स्वराज्यम्' का प्रयोग हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण में इस प्रणाली का प्रचलन पश्चिम दिशा में बताया गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार वाजपेय यज्ञ करने वाला विद्वान् स्वाराज्य प्राप्त करता है। डॉ. के.पी. जायसवाल के अनुसार समान अधिकार वाले व्यक्तियों में से गुणों के आधार पर चुना गया व्यक्ति 'स्वराट्' बनता था। स्वराट् विष्णुतुल्य तेजस्वी एवं स्वतंत्र राजा होता है।
- **भौज्य -** ऋग्वेद में इन्द्र को भोज कहा गया है, जो उदार दानी एवं युद्ध में शत्रुओं को परास्त करने वाला होता है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार भौज्य शासन प्रणाली दक्षिण दिशा में

सात्वतों में प्रचलित थी। बौद्ध साहित्य एवं अशोक के शिलालेखों से पता चलता है कि भोज राजा वंशक्रमागत नहीं होते थे। खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख में भोज एवं राष्ट्रीक गणराज्यों का उल्लेख है।

- **वैराज्य -** ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार वैराज्य शासन प्रणाली हिमालयीय उपत्यका के राज्यों - उत्तरकुरु, उत्तरमद्र आदि में प्रचलित थी। यजुर्वेद इसका प्रचलन दक्षिण में बताता है। आधुनिक विद्वानों ने इसे राजहीन प्रणाली एवं गणतंत्रीय शासन व्यवस्था स्वीकार किया है। यह संघीय शासन प्रणाली से मिलती-जुलती थी, जिसमें प्रशासन का उत्तरदायित्व एक व्यक्ति पर न होकर एक समूह पर होता था। अथर्ववेद में विराट् शासन प्रणाली की निंदा की गई है, क्योंकि इसमें दण्ड का भय न होने से समाज में अराजकता फैल जाती थी।
- **आधिपत्य -** वेदों में आधिपत्य एवं अधिपति पद का अनेक बार प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद में आधिपत्यम्, अधिपतिः, अधिपतयः, अधिपत्नी आदि अनेक शब्द मिलते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार अधिपति का पड़ोसी जनपदों पर ऐसा अधिकार होता था कि वे कर देने के लिए बाध्य थे।
- **सार्वभौम -** ऐतरेय ब्राह्मण में सार्वभौम शासन प्रणाली का उल्लेख है, जिसके प्रशासक को एकराट् कहा गया है। यह पूर्व से पश्चिम तथा उत्तर से दक्षिण तक विस्तृत भूमि में एकमात्र स्वामित्व का द्योतक है। इसे सर्वायुषः विशेषण से विभूषित किया गया है, जिसका अर्थ है कि एकराट् आजन्म सत्ता का उपभोग करता था।
- **पारमेष्ठ्य -** यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में परमेष्ठी पद का प्रयोग हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण में 'राजानं राजपितरम्' का उल्लेख इस बात का संकेत है कि यह शासन पद्धति वंशानुगत राजव्यवस्था की सम अर्थी थी। महाभारत के अनुसार इस व्यवस्था में प्रजा में शांति स्थापना को सर्वाधिक महत्व दिया जाता था।
- **जानराज्य -** यजुर्वेद में जानराज्य नामक पृथक् शासन प्रणाली का उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण में इसकी व्याख्या जनानां राज्याय यानी जनों के राज्य के लिए के रूप में की गई है। यह जनतंत्रात्मक शासन प्रणाली थी। ऋग्वेद में राजा सुश्रवा का 20 जनराज्यों से युद्ध तथा सुदास का 10 जनराजाओं से दाशराज्ञ युद्ध का वर्णन इस बात का प्रमाण है कि प्राचीनतम काल में भी जानराज्यों का अस्तित्व था।

- **अधिराज्य -**इसका उल्लेख ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में मिलता है इसका प्रशासक अधिराज कहलाता था। यह सावधान व हितचिंतक है जिसे उग्र तथा चेत्ता कहा गया है जिससे इस काल में कठोर शासन की सूचना प्राप्त होती है। यह हमेशा विजयी होता है इसीलिए इसे राजाओं का भी राजा कहा जाता है।
- **विप्रराज्य -** एक बिल्कुल अलग प्रकार की शासन प्रणाली जो ब्राह्मणों-विद्वानों द्वारा विकसित व संचालित की गई उसका उल्लेख भी इस काल में मिलता है जिसे विप्रराज्य कहते हैं। विद्वान् ऋषिगणों ने इसे समुद्रतुल्य विस्तृत बताया।
- **समर्यराज्य -** समर्य यानी श्रेष्ठ या सम्पन्न राज्य का उल्लेख भी ऋग्वेद के एक मंत्र में मिलता है।, मुख्यतः यह सम्पन्न वैश्यों का राज्य है जो व्यापार की उन्नति के कारण बना।

इतनी भिन्न प्रकार की शासन पद्धातियाँ उस काल में प्रचलित थी वर्तमान पद्धति से पूर्ण रूप से न सही किन्तु प्रजा पालन रक्षण जैसी प्रणालियाँ वैदिक काल में प्रचलित थी। यह उस पश्चिमी राजनीतिक दृष्टिकोण का खंडन करता है जो भारत के प्राचीन साहित्य में शासन सम्बंधित विचारों को नकारता है ।

2.4.3 प्राचीन भारतीय राजनीतिक संस्थाएँ

वैदिक काल में राजा की निरंकुशता पर नियंत्रण हेतु अनेक संस्थाएँ थीं। अथर्ववेद के अनुसार **सभा और समिति प्रजापति की दो पुत्रियाँ** हैं, जो परस्पर एकमत होकर राजा को सलाह देती थीं।

सभा - सभा की उत्पत्ति ऋग्वेद के उत्तरकाल में हुई जिसका व्युत्पत्तिपरक अर्थ होता है सहमति यह सर्वमान्य संस्था थी। यह श्रेष्ठ एवं संभ्रान्त लोगों की संस्था थी इसके लिए इसे वरिष्ठा भी कहा जाता है । यह समिति की अपेक्षा छोटी थी तथा इसके सदस्यों को सभेय कहा जाता था। अथर्ववेद में सभा को नरिष्टा यानी अनुलंघनीय कहा गया है, जिससे स्पष्ट है कि सभा के निर्णय अन्तिम होते थे। सदस्यों को पितरः यानी पिता कहकर सम्बोधित किया जाता था तथा इसका अध्यक्ष सभापति कहलाता था। सभा का प्रमुख कार्य न्याय प्रदान करना था। अंततः यह कहा जा सकता है की वैदिक काल में राजा भी सर्व सम्मति से निर्णय लेता था ।

समिति - समिति दो शब्द सम ओर इति से मिलकर बना है जिसका अर्थ है एकत्र करना यह एक आम जनप्रतिनिधि सभा थी । समिति राजा का निर्वाचन करती थी तथा उस पर पूर्ण नियंत्रण रखती थी आवश्यकता पड़ने पर वह राजा को हटा और पुनः स्थापित भी कर सकती थी। ऋग्वेद में एक मंत्र आता है जिसमें समिति का वर्णन समान लक्ष्य, नीति एवं मन के साथ कार्य करने वाली संस्था के रूप में है - समानं व्रत सह चित्ततेषाम्। समानो मन्त्रः समितिः समानी। सजा सदैव समिति में उपस्थित

होता था अन्यथा उसे असत्य राजा घोषित कर दिया जाता था। अथर्ववेद के अनुसार इसकी बैठक राज्याभिषेक के साथ साथ राष्ट्रीय संकट यानी युद्धकाल जैसे समय पर भी होती थी। समिति में राजकीय विषयों के साथ-साथ गैर-राजनीतिक विषय जैसे दार्शनिक विषयों पर भी चर्चा होती थी उदाहरण के रूप में आरुणिपुत्र श्वेतकेतु पंचाल देशीय लोगों को समिति में आया था, जहाँ जीवन पुत्र प्रवाहण जैबलि ने उससे पाँच प्रश्न पूछे, जिनका उत्तर वह नहीं दे पाया था इससे स्पष्ट है कि समिति राष्ट्रीय अकादमी का भी कार्य करती थी।

विदथ (सर्वप्राचीन संस्था) - विदथ का अर्थ था ज्ञान, लाभ, एवं सत्ता , जिसे 'जनसभा' भी कहते हैं। इसके माध्यम से सैनिक, नागरिक, तथा धार्मिक कार्य किये जाते थे युद्ध में लूटी गयी वस्तुओं, उपहारों एवं भेटों का वितरण इसी संस्था द्वारा होता था। ऋग्वैदिक काल में स्त्रियाँ भी सभा और विदथ में भाग लेती थीं। योषा नामक स्त्री के विदथ में सहभागिता ग्रहण करने का विवरण प्राप्त होता है।

रत्नी - अथर्ववेद में इसका वर्णन मिलता है इसके अंतर्गत धीवर, रथकार, लौहकर्मकार, विद्वान सूत, गामप्रमुख आदि आते हैं जो राजा का चयन करते थे इसीलिए इन्हें राजकर्तारः कहा जाता था। ये राज्याभिषेक के अवसर पर उपस्थित रहते बाद में ब्राह्मण साहित्य में इन्हें 'रत्निन्' कहा गया।

उपरोक्त संस्थाओं के गठन एवं कार्यान्वयन से यह स्पष्ट होता है की वैदिक काल में सभी वर्ग अपने प्रतिनिधित्व से राज्य के सञ्चालन एवं राजा के निर्णयों में महत्वपूर्ण सहभागिता करते थे।

2.5 उत्तर वैदिक काल में राजनीतिक विकास

उत्तर वैदिक काल में राजनीतिक विकास का सबसे महत्वपूर्ण पहलू राजा की स्थिति में आमूल-चूल परिवर्तन था। ऋग्वैदिक काल में राजन यानी राजा केवल एक कबीले का युद्ध-नेता मात्र था, किन्तु अब वह एक स्थिर एवं संगठित क्षेत्रीय राज्य का सर्वोच्च शासक बन गया। राजा को अब क्षत्रिय जिसका अर्थ क्षेत्र या सत्ता का स्वामी होता कहा जाने लगा, जो उसके बढ़ते हुए राजनीतिक वर्चस्व को दर्शाता है। इस काल के ब्राह्मण ग्रंथों में राज्य की दैवीय उत्पत्ति का सिद्धांत विकसित हुआ; ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार, जब देवता राक्षसों से पराजित हो गए, तो उन्होंने स्वयं सोम को अपना राजा बनाकर एक आदर्श राजतंत्र की स्थापना की। साथ ही, राज्य की अनिवार्यता को सिद्ध करने के लिए **मत्स्य-न्याय** की अवधारणा प्रस्तुत की गई। शतपथ ब्राह्मण स्पष्ट करता है कि मनुष्यों ने अराजकता के भय से ही राजा को अपना स्वामी स्वीकार किया, ताकि समाज में व्यवस्था बनी रहे। राजा का पद अब पूर्णतः वंशानुगत हो गया था तथा राजसूय और अश्वमेध जैसे महायज्ञ उसकी वैधता, प्रतिष्ठा और सार्वभौमिक सत्ता को स्थापित करने के प्रमुख साधन बन गए, जो उसके राजनीतिक प्रभाव क्षेत्र के विस्तार का प्रतीक भी थे।

इसी काल में राजनीतिक चिन्तन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान राज्य के सात अंगों के सिद्धांत के रूप में हुआ, जिसने राज्य को एक जैविक एवं समग्र इकाई के रूप में परिभाषित किया। ये सात अंग थे स्वामी (राजा), अमात्य (मंत्री/ प्रशासक), जनपद (क्षेत्र एवं प्रजा), दुर्ग (राजधानी एवं किले), कोष (खजाना), दण्ड (सेना) तथा मित्र (सहयोगी राज्य)। यह सिद्धांत बाद में कौटिल्य के अर्थशास्त्र की आधारशिला बना। इस काल में राजा के अधिकार और कर्तव्य दोनों का स्पष्ट विधान मिलता है; राजा को प्रजा का भरण-पोषण करने वाला पिता माना गया, जो बदले में प्रजा से बलि या कर प्रायः आय का छठा भाग ग्रहण करता था। उसके प्रमुख कर्तव्य प्रजा की रक्षा, न्याय की स्थापना, धार्मिक यज्ञों का संचालन एवं धर्म की रक्षा थे। प्रशासनिक ढांचे में पुरोहित प्रधान धार्मिक एवं राजनीतिक सलाहकार, सेनानी , ग्रामणी (गाँव का मुखिया), विश्यपति (जनपद प्रमुख), तथा रत्निन् नामक 12 प्रमुख पदाधिकारी (जिनमें सूत, रथकार, क्षत्ता, संग्रहीता, भागदुध आदि शामिल थे) राजा को शासन-संचालन में सहायता करते थे, जो एक जटिल एवं सुव्यवस्थित कार्यपालिका के अस्तित्व को प्रमाणित करता है।

यद्यपि उत्तर वैदिक काल में राजा की शक्ति में अभूतपूर्व वृद्धि हुई, तथापि शासन को नियंत्रित करने वाली संस्थाओं का अस्तित्व बना रहा, हालाँकि उनकी प्रकृति में महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। विदथ का उल्लेख अब विरल हो गया तथा यह संस्था धीरे-धीरे लुप्त होती गई। सभा और समिति दोनों तो अस्तित्व में रहीं, किन्तु राजा के सुदृढ़ होते दैवीय अधिकारों के कारण राजा के निर्वाचन एवं उस पर नियंत्रण रखने जैसी पूर्ववर्ती संप्रभु शक्तियाँ इनसे छीन ली गईं। परिणामस्वरूप, **परिषद्** नामक एक नई, अपेक्षाकृत छोटी एवं विशिष्ट सलाहकार समिति का विकास हुआ, जो राजा के निकटतम सलाहकारों जो विशेषकर पुरोहित एवं वरिष्ठ अमात्यों का एक करीबी मंडल थी और राज्य के नीति-निर्धारण में अधिक प्रभावशाली बनी। न्याय व्यवस्था के क्षेत्र में राजा स्वयं सर्वोच्च न्यायाधीश था, किन्तु सभा और समिति न्यायिक कार्य भी करती थीं, जहाँ अपराधियों को धर्म एवं वैदिक विधानों के अनुसार दण्डित किया जाता था। इस प्रकार, उत्तर वैदिक काल ने यद्यपि राजतंत्रीय निरंकुशता की ओर कदम बढ़ाया, फिर भी सामूहिक सलाहकार संस्थाओं की परंपरा को पूर्णतः समाप्त नहीं किया, बल्कि उन्हें संशोधित स्वरूप में बनाए रखते हुए एक जटिल, बहु-स्तरीय प्रशासनिक एवं न्यायिक ढाँचे की नींव रखी, जो आगे चलकर मौर्य एवं गुप्त काल की परिष्कृत राज्य-व्यवस्था का आधार बना।

उत्तर वैदिक काल में राजा के कर्तव्यों एवं अधिकारों का विस्तृत वर्णन मिलता है। राजा को प्रजा का पालन-पोषण करने वाला पिता माना जाता था। 'शतपथ ब्राह्मण' के अनुसार, राजा प्रजा का भरण-पोषण करता है और बदले में प्रजा राजा को कर देती है। राजा का प्रमुख कर्तव्य प्रजा की रक्षा करना, न्याय देना और धार्मिक कर्मकांडों का संचालन करना था। राजा को यजमान यज्ञ करने वाले के रूप में भी देखा जाता था, क्योंकि राज्य के कल्याण के लिए यज्ञों का आयोजन उसका कर्तव्य

था। राजसूय और अश्वमेध जैसे महायज्ञ राजा की सत्ता और प्रतिष्ठा को प्रदर्शित करते थे। राजसूय यज्ञ राजा के अभिषेक से संबंधित था, जबकि अश्वमेध उसकी सार्वभौमिक सत्ता का प्रतीक था। राजा के अधिकारों की बात करें तो उसे कर लेने, दण्ड देने और युद्ध छेड़ने का अधिकार था। किंतु ये अधिकार धर्म और वेदों द्वारा सीमित थे। राजा को वेदों के अनुसार शासन करना होता था। राजा के दरबार में पुरोहित जो की प्रधान पुजारी होता था उसका विशेष स्थान था, जो राजा को धार्मिक एवं राजनीतिक मामलों में सलाह देता था।

2.6 महाजनपद काल: राज्यों का उदय

2.6.1 महाजनपद काल का ऐतिहासिक परिचय

छठी शताब्दी ईसा पूर्व के आसपास उत्तर भारत में सोलह महाजनपदों का उदय हुआ। यह काल भारतीय इतिहास का एक महत्वपूर्ण मोड़ माना जाता है, जब वैदिक काल की कबीलाई व्यवस्था से संगठित क्षेत्रीय राज्यों में परिवर्तन हुआ। इसी समय बौद्ध और जैन धर्म सहित कई दार्शनिक विचारधाराओं का उदय हुआ। महाजनपद शब्द का अर्थ है बड़ा राज्य या बड़ा क्षेत्र। ये राज्य वैदिक काल के छोटे-छोटे जनपदों के संगठित होकर शक्तिशाली राज्यों में परिवर्तित होने का परिणाम थे। बौद्ध ग्रंथ अंगुत्तर निकाय तथा जैन ग्रंथ भगवतीसूत्र में इन सोलह महाजनपदों की सूची मिलती है।इस काल को द्वितीय नगरीकरण भी कहा जाता है, क्योंकि सिन्धु घाटी सभ्यता के पतन के बाद भारत में पहली बार बड़े-बड़े नगरों का विकास हुआ। लोहे के बढ़ते उपयोग, सिक्कों के विकास और व्यापार मार्गों के विस्तार ने इन राज्यों को आर्थिक रूप से समृद्ध बनाया। महाजनपदों का विस्तार उत्तर-पश्चिम में गांधार से लेकर पूर्व में अंग तथा दक्षिण में अश्मक तक फैला हुआ था।

2.6.2 सोलह महाजनपदों की सूची, राजधानियाँ एवं भौगोलिक स्थिति

बौद्ध एवं जैन ग्रंथों में वर्णित सोलह महाजनपद इस प्रकार हैं:

क्र.सं.	महाजनपद	राजधानी	भौगोलिक स्थिति
1.	**अंग**	चम्पा	आधुनिक बिहार (भागलपुर/मुंगेर के आसपास)
2.	**मगध**	राजगृह (गिरिव्रज)	दक्षिण बिहार (पटना एवं गया क्षेत्र)
3.	**काशी**	वाराणसी	आधुनिक वाराणसी क्षेत्र
4.	**वत्स**	कौशाम्बी	आधुनिक इलाहाबाद (प्रयाग) क्षेत्र
5.	**कोशल**	श्रावस्ती (दक्षिण)	(उत्तर)/अयोध्या आधुनिक अवध क्षेत्र

6.	**वज्जि (वृजि)**	वैशाली	उत्तरी बिहार (वैशाली, मिथिला क्षेत्र)
7.	**मल्ल**	कुशीनारा/पावा	आधुनिक गोरखपुर क्षेत्र
8.	**चेदि**	सुक्तिमती	आधुनिक मध्य प्रदेश
9.	**कुरु**	इन्द्रप्रस्थ/हस्तिनापुर	आधुनिक दिल्ली/मेरठ क्षेत्र
10.	**पांचाल**	कन्याकुब्ज/अहिच्छत्र	आधुनिक रोहिलखंड क्षेत्र
11.	**मत्स्य**	विराटनगर	आधुनिक जयपुर (राजस्थान) क्षेत्र
12.	**शूरसेन**	मथुरा	आधुनिक मथुरा क्षेत्र
13.	**अश्मक (अस्सक)**	पोटाली/पोदना	गोदावरी नदी तट, आधुनिक महाराष्ट्र/आंध्र प्रदेश
14.	**अवन्ति**	उज्जयिनी (उत्तर)/माहिष्मती (दक्षिण)	आधुनिक मध्य प्रदेश
15.	**गांधार**	तक्षशिला	आधुनिक पाकिस्तान (रावलपिंडी/पेशावर)
16.	**कम्बोज**	राजपुरा	आधुनिक अफगानिस्तान/ताजिकिस्तान

इनमें से अश्मक (अस्सक) एकमात्र ऐसा महाजनपद था जो दक्षिण भारत में गोदावरी नदी के तट पर स्थित था। इन महाजनपदों में शासन व्यवस्था दो प्रकार की थी - राजतंत्र और गणतंत्र यानी सांघिक शासन। मगध, कोशल, काशी, वत्स, अवन्ति आदि राजतंत्र थे, जहाँ राजा का वंशानुगत शासन था। वज्जि और मल्ल जैसे राज्य गणतंत्र थे, जहाँ कुलीनों की एक परिषद शासन करती थी। इन महाजनपदों के उदय के साथ ही बड़े-बड़े नगरों का विकास हुआ। राजगृह, श्रावस्ती, वाराणसी, कौशाम्बी, चम्पा आदि प्रमुख नगर थे। इन नगरों में व्यापार, शिल्प और कला का विकास हुआ। नगरों के विकास ने राजनीतिक संगठन को और अधिक जटिल बना दिया।

2.6.3 राजतंत्रीय राज्यों का विकास

राजतंत्रीय राज्यों में राजा सर्वोच्च शासक होता था। राजा की स्थिति वंशानुगत होती थी। मगध, कोशल, वत्स, अवन्ति आदि प्रमुख राजतंत्रीय राज्य थे। इन राज्यों में राजा के अधीन मंत्रिपरिषद्, सेना, कर-प्रणाली आदि का विकास हुआ।

मगध इन राज्यों में सबसे शक्तिशाली बना। हर्यंक वंश के राजा बिम्बिसार (545-493 ईसा पूर्व) ने मगध को एक सुदृढ़ साम्राज्य में परिवर्तित किया। उसने वैवाहिक संबंधों और युद्धों के माध्यम से अपने राज्य का विस्तार किया। उसके पुत्र अजातशत्रु ने गणतांत्रिक वज्जि संघ को पराजित किया।शिशुनाग वंश और फिर नंद वंश ने मगध साम्राज्य को और भी विस्तारित किया। नंद राजाओं ने एक विशाल सेना और कर-प्रणाली का विकास किया। उन्होंने सिंचाई परियोजनाओं को भी प्रोत्साहन दिया। इस प्रकार मगध की सफलता के पीछे सुदृढ़ प्रशासन, कर-प्रणाली और सैन्य शक्ति जैसे अनेक कारण थे। इन सोलह महाजनपदों में मगध सबसे शक्तिशाली राजतंत्रीय राज्यों बना। मगध की सफलता के पीछे सुदृढ़ प्रशासन, कर-प्रणाली और सैन्य शक्ति जैसे अनेक कारण थे। हर्यंक वंश (लगभग 544-413 ईसा पूर्व) के राजा बिम्बिसार (545-493 ईसा पूर्व) ने मगध को एक सुदृढ़ साम्राज्य में परिवर्तित किया। उसने वैवाहिक संबंधों और युद्धों के माध्यम से अपने राज्य का विस्तार किया। बिम्बिसार ने अंग महाजनपद को अपने राज्य में मिला लिया। बिम्बिसार के पुत्र अजातशत्रु ने गणतांत्रिक वज्जि संघ को पराजित किया। हर्यंक वंश के बाद शिशुनाग वंश और फिर नंद वंश ने मगध साम्राज्य को और भी विस्तारित किया। नंद राजाओं ने एक विशाल सेना और सुदृढ़ कर-प्रणाली का विकास किया तथा सिंचाई परियोजनाओं को भी प्रोत्साहन दिया।

2.6.4 **गणतांत्रिक राज्यों की विशेषताएँ**

गणतांत्रिक राज्यों में शासन का संचालन कुलीनों की एक सभा द्वारा होता था। गण या संघ शब्द का प्रयोग इन राज्यों के लिए किया जाता था। इन राज्यों में राजा नहीं होता था, बल्कि गणपति या गणमुख्य सभा का अध्यक्ष होता था। सभा में बहुमत से निर्णय लिए जाते थे। गणतांत्रिक राज्यों में वंशानुगत शासन नहीं होता था। प्रमुख कुलों के सदस्य सभा के सदस्य होते थे। ये कुल या तो क्षत्रिय होते थे या किसी विशेष जाति के। शाक्य, लिच्छवी, मल्ल आदि प्रमुख गणतांत्रिक राज्य थे। बुद्ध स्वयं शाक्य गणराज्य से संबंधित थे। गणतांत्रिक राज्यों की अपनी कमजोरियाँ भी थीं। सभा में आंतरिक कलह और मतभेद आम बात थी। इसी कमजोरी का लाभ उठाकर मगध साम्राज्य ने इन्हें अपने में मिला लिया। फिर भी, गणतांत्रिक व्यवस्था भारतीय राजनीतिक विचारधारा में एक महत्वपूर्ण योगदान है। वज्जि (वृजि) महाजनपद सोलह महाजनपदों में सबसे प्रमुख गणतंत्र था। इसकी राजधानी वैशाली थी। वज्जि संघ वास्तव में आठ गणराज्यों का एक संघ था, जिनमें लिच्छवी, विदेह, नाथ आदि प्रमुख थे। वज्जि संघ की विशेषता यह थी की शासन का संचालन कुलीनों की सभा द्वारा होता था और सभा में सभी निर्णय बहुमत से लिए जाते थे ।प्रत्येक कुल का अपना प्रतिनिधि होता था और सामूहिक निर्णय-प्रक्रिया को महत्व दिया जाता था ।बुद्ध स्वयं शाक्य गणराज्य से संबंधित थे, जो वज्जि संघ का ही एक भाग था। गौतम बुद्ध ने वैशाली में कई बार उपदेश दिए और वहाँ के गणतांत्रिक शासन-तंत्र की प्रशंसा की।

2.7 प्रारंभिक बौद्ध एवं जैन विचारधारा में राजनीति

2.7.1 बौद्ध दर्शन में राज्य की अवधारणा

छठी शताब्दी ईसा पूर्व में बौद्ध धर्म के उदय ने भारतीय राजनीतिक चिंतन को एक नई दिशा प्रदान की। बौद्ध दर्शन में राज्य की उत्पत्ति का सिद्धांत दीघ निकाय के अग्गञ्ञ सुत्त के 27वे सुत्त में वर्णित है। यह सुत्त उस समय प्रचलित ब्राह्मणवादी दैवीय उत्पत्ति के सिद्धांत का खंडन करता है और इसके स्थान पर एक सामाजिक सिद्धांत प्रस्तुत करता है। बुद्ध के अनुसार, प्रारंभ में मानव समाज एक आदर्श स्थिति में था, किंतु धीरे-धीरे लालच, चोरी एवं झगड़े बढ़ने लगे। अराजकता को रोकने के लिए लोगों ने एकत्र होकर निर्णय लिया कि उनमें से एक सदाचारी व्यक्ति को न्याय स्थापित करने एवं दण्ड देने के लिए चुना जाए। इस प्रकार चुने गए शासक को 'महासम्मत' (महान स्वीकृत) कहा गया यह नाम इस तथ्य को दर्शाता है कि उसे जनता द्वारा सामूहिक सहमति से चुना गया था। यह सिद्धांत राज्य की उत्पत्ति को ईश्वरीय आदेश न मानकर मानवीय आवश्यकता एवं सामूहिक निर्णय से जोड़ता है। इसके अतिरिक्त, बौद्ध दर्शन में चक्रवर्ती राजा की अवधारणा भी महत्वपूर्ण है जो की वह शासक होता है जो धर्म के अनुसार शासन करता है तथा जिसके सात रत्न (चक्र, हाथी, घोड़ा, मणि, रानी, कोषाध्यक्ष, सेनापति) होते हैं। बुद्ध ने राजा के लिए दशराजधर्म यानी राजा के दस कर्तव्य का प्रतिपादन किया, जिनमें दान, शील, त्याग, ऋजुता, मृदुता, तप, अक्रोध, अहिंसा, क्षमा और विरोधाभास सम्मिलित हैं। बौद्ध दर्शन शासन को धम्माधिपतेय्य अर्थात धर्म-आधारित लोकतंत्र की संकल्पना से जोड़ता है, जहाँ सत्ता का प्रयोग न्याय, करुणा एवं जवाबदेही द्वारा सीमित होता है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन राजा की सत्ता को नैतिकता, धर्म एवं जन-सहमति से बद्ध मानता है।

2.7.2 जैन दर्शन में राजनीतिक विचार

जैन दर्शन में राजनीतिक चिंतन का आधार अहिंसा का सिद्धांत है, जिसे जैन परंपरा में सर्वोच्च धर्म माना गया है। भगवान महावीर ने अहिंसा को जीवन का मूल सिद्धांत बनाया तथा जियो और जीने दो की अवधारणा प्रतिपादित की। जैन दर्शन के अनुसार, राज्य को नैतिक व्यवस्था का प्रतिनिधि होना चाहिए राज्य न केवल प्रजा की रक्षा करता है, बल्कि उस नैतिक व्यवस्था के दर्शन का प्रचार एवं प्रसार भी करता है। जैन विचारधारा में राज्य का अस्तित्व भोगभूमि से कर्मभूमि में संक्रमण की आवश्यकता से उत्पन्न हुआ, अर्थात् जब समाज में सामाजिक नियंत्रण की आवश्यकता महसूस हुई तब राज्य की स्थापना हुई। जैन ग्रंथ आचारांग सूत्र में गणतांत्रिक राज्यों जैसे मल्ल एवं लिच्छवी गणराज्य का उल्लेख है, जहाँ शासन का संचालन गणसभा अर्थात सामूहिक सभा द्वारा होता था। जैन राजनीतिक विचार में **अनेकांतवाद** एवं **अपरिग्रह** के सिद्धांत भी शासन को प्रभावित करते हैं। जैन दर्शन के अनुसार राजा का प्रमुख कर्तव्य प्रजा की रक्षा, न्याय में निष्पक्षता एवं प्रजा का पालन-पोषण है। रोचक बात यह है कि जैन विचारधारा सार्वभौमिक विजय को आदर्श मानती है, किंतु यह

विजय अहिंसक होनी चाहिए। इस प्रकार जैन दर्शन राज्य एवं शासन को अहिंसा, नैतिकता एवं आध्यात्मिक मुक्ति के व्यापक ढाँचे में स्थापित करता है, जहाँ राज्य की शक्ति का प्रयोग पूर्वनिर्धारित सामाजिक एवं नैतिक व्यवस्था के अधीन होता है।

बौद्ध और जैन धर्म ने 'अहिंसा' को राजनीति में महत्वपूर्ण स्थान दिया। अहिंसा न केवल व्यक्तिगत नैतिकता, बल्कि राज्य की नीति का आधार बनी। राजा को युद्धों से बचना चाहिए और शांतिपूर्ण उपायों से समस्याओं का समाधान करना चाहिए। यह विचार बाद में अशोक के 'धम्म' का आधार बना। अहिंसा का राजनीतिक दर्शन बाद में भारतीय राजनीतिक चिंतन की एक महत्वपूर्ण धारा बना। गांधी ने इसी अहिंसा को स्वतंत्रता संग्राम का हथियार बनाया। इस प्रकार, प्रारंभिक भारतीय राजनीतिक दर्शन ने हिंसा के स्थान पर अहिंसा और नैतिकता पर बल दिया।

2.8 सारांश

वैदिक काल से छठी शताब्दी ईसा पूर्व तक भारतीय राजनीतिक दर्शन ने एक लंबा सफर तय किया। यह यात्रा आदिम जनजातीय व्यवस्था से लेकर एक विशाल साम्राज्य तक की है। इस काल में राज्य, शासन, सत्ता, न्याय और धर्म की अवधारणाओं का विकास हुआ। इस काल की मुख्य विशेषताएँ थीं - राजा की स्थिति का धार्मिक-नैतिक आधार, सभा-समिति जैसी संस्थाएँ, वर्ण व्यवस्था, धर्म और राज्य का गहरा संबंध, गणतांत्रिक व्यवस्थाएँ, और अंततः कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राजनीतिक चिंतन का परिपक्व रूप। भारतीय राजनीतिक दर्शन का यह प्रारंभिक काल विश्व राजनीतिक विचारधारा को महत्वपूर्ण योगदान देता है। 'सप्तांग सिद्धांत', 'मंडल सिद्धांत', 'षाड्गुण्य', 'दशराजधर्म', 'धम्म' की अवधारणाएँ आज भी प्रासंगिक हैं। ये विचारधाराएँ भारतीय राजनीतिक परंपरा का आधार हैं, जो सदियों से विकसित होती रही हैं।

2.9 शब्दावली

- राजन् - वैदिक काल में कबीले के शासक या मुखिया को कहा जाता था।
- मत्स्य - न्याय - बड़ी मछली द्वारा छोटी मछली को निगल जाने की स्थिति, अराजकता का द्योतक।
- सभा - कुलीनों, विद्वानों एवं वरिष्ठ नागरिकों की सलाहकार एवं न्यायिक संस्था।
- समिति - जनप्रतिनिधियों की सर्वोच्च सभा; राजा का निर्वाचन एवं नियंत्रण करने वाली संस्था।
- विदथ - धार्मिक, सैनिक एवं सामाजिक कार्यों को करने वाली जनसभा।

- परिषद् - उत्तर वैदिक काल में विकसित राजा की निकटस्थ सलाहकार समिति।
- बलि - प्राचीन काल में प्रजा द्वारा राजा को दिया जाने वाला कर जो स्वैच्छिक और कभी अनिवार्य भी था।
- अनेकांतवाद - जैन दर्शन का सिद्धांत; वास्तविकता के अनेक पहलुओं को स्वीकार करना।
- अपरिग्रह - जैन दर्शन का सिद्धांत; अनावश्यक संग्रह से बचना।

2.10 अभ्यास प्रश्न

प्रश्न 1 ऋग्वेद में आर्यों को किस नाम से संबोधित किया गया है?

(अ) चतुर्जन (ब) पंचजन (स) षड्जन (द) सप्तजन

प्रश्न 2 निम्नलिखित में से कौन सा राज्य वैदिक काल की शासन पद्धति नहीं है?

(अ) राज्य (ब) साम्राज्य (स) गणतंत्र (द) सार्वभौम

प्रश्न 3 वैदिक काल में राजा के निर्वाचन एवं नियंत्रण हेतु कौन सी संस्था उत्तरदायी थी?

(अ) सभा (ब) समिति (स) विदथ (द) परिषद्

प्रश्न 4 अग्गञ्ञ सुत्त के अनुसार प्रथम राजा को क्या कहा गया?

(अ) चक्रवर्ती (ब) महासम्मत (स) सम्राट (द) अधिराज

प्रश्न 5 उत्तर वैदिक काल में विकसित राजा की निकटस्थ सलाहकार समिति को क्या कहा गया?

(अ) सभा (ब) समिति (स) विदथ (द) परिषद्

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर 1 - (ब) पंचजन, **2 -** (स) गणतंत्र,, **3 -** (ब) समिति, **4 -** (ब) महासम्मत, **5 -** (द) परिषद्

2.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. शर्मा,हरीश चन्द्र - प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं
2. सिंह, उपेन्द्र - A History of Ancient and Early Medieval India - प्राचीन भारतीय राजनीतिक इतिहास।

3. राणा, कमल. (2018). वैदिककाल में 'सभा' और 'समिति' का राजनैतिक महत्व. International Research Journal of Human Resource and Social Sciences, 5(12), 235-237. https://www.aarf.asia/current/2022/Feb/iMojgbdVSb2ItIi.pdf
4. सिंह, आर. के. (2016). प्राचीनतम भारत में ज्ञात एवं प्रचलित शासन पद्धतियाँ. International Journal of Research and Analytical Reviews (IJRAR), 3(4), 167-169. https://www.ijrar.org/papers/IJRAR19D3735.pdf
5. इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय (IGNOU) - ई- ज्ञान कोश (अध्ययन सामग्री)

2.12 **सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री**

1. ऋग्वेद संहिता - वैदिक राजनीतिक संकल्पनाओं का मूल स्रोत।
2. शतपथ ब्राह्मण - राज्य की उत्पत्ति एवं मत्स्य-न्याय की अवधारणा।
3. बौद्ध त्रिपिटक - दीघनिकाय, अंगुत्तरनिकाय, विनयपिटक।
4. जैन आगम - आचारांग सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र। (प्राकृत भारती)
5. भारतीय संस्कृति पोर्टल - www.indicculture.org
6. प्राचीन भारतीय राजनीतिक दर्शन पर लेख एवं शोध पत्र।
7. साहित्य अकादमी - www.sahitya-akademi.gov.in

2.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. ऋग्वैदिक काल में आर्यों को 'पंचजन' क्यों कहा गया?
2. 'मत्स्य-न्याय' की अवधारणा क्या है? 'मत्स्य-न्याय' की स्थिति को रोकने के लिए वैदिक काल में जो उपाय किए गए, क्या वे आज की अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रासंगिक हैं?
3. आधुनिक भारत की संसदीय व्यवस्था के साथ वैदिक कालीन 'सभा' एवं 'समिति' की तुलना कीजिए। क्या हम इन संस्थाओं को आधुनिक संसद का प्रारंभिक रूप मान सकते हैं?
4. वैदिक काल से उत्तर वैदिक काल तक राजा की स्थिति में आए परिवर्तनों का विश्लेषण कीजिए।
5. बौद्ध एवं जैन दर्शन के राजनीतिक विचारों में समानताएँ एवं अंतर स्पष्ट कीजिए। दोनों ने भारतीय राजनीतिक चिंतन को क्या योगदान दिया?

6. क्या प्राचीन भारतीय राजनीतिक दर्शन 'राज्य' और 'धर्म' के बीच विभाजन को स्वीकार करता है? इस दृष्टिकोण का मूल्यांकन उस पश्चिमी विचारधारा के संदर्भ में कीजिए जो 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' की वकालत करती है।

इकाई 3 मनु स्मृति में सामाजिक व्यवस्था

इकाई की संरचना

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 वर्ण व्यवस्था

3.3.1 संस्कार व्यवस्था

3.3.2 आश्रम व्यवस्था

3.3.3 न्याय व्यवस्था

3.3.4 दण्ड व्यवस्था

अभ्यास प्रश्न

3.4 सारांश

3.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

3.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

3.7 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति और परंपरा में धर्मशास्त्रों का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रहा है, जिनमें मनुस्मृति को प्रमुख और आधारभूत ग्रंथ माना जाता है। यह ग्रंथ केवल धार्मिक नियमों का संग्रह नहीं है, बल्कि यह सामाजिक, नैतिक तथा विधिक व्यवस्था का एक सुव्यवस्थित संहिता रूप प्रस्तुत करता है। मनुस्मृति में मानव जीवन के विभिन्न पक्षों धर्म, आचार, व्यवहार, न्याय, कर्तव्य और सामाजिक संगठन का विस्तृत वर्णन मिलता है। मनुस्मृति के अनुसार समाज को व्यवस्थित बनाए रखने के लिए प्रत्येक व्यक्ति के कर्तव्यों और अधिकारों का स्पष्ट निर्धारण आवश्यक है। इस ग्रंथ में यह विचार प्रस्तुत किया गया है कि यदि समाज का प्रत्येक सदस्य अपनेअपने कर्तव्यों का पालन करता है, तो समाज में संतुलन, अनुशासन और समरसता बनी रहती है। यही सामाजिक व्यवस्था का मूल आधार है। मनुस्मृति में सामाजिक व्यवस्था धर्म पर आधारित है। यहाँ धर्म का अर्थ केवल पूजापाठ नहीं है, बल्कि वह आचरण, नैतिकता और सामाजिक उत्तरदायित्व का समग्र रूप है। इस दृष्टि से मनुस्मृति एक ऐसी सामाजिक प्रणाली प्रस्तुत करती है, जिसमें व्यक्ति और समाज दोनों के

विकास का समन्वय दिखाई देता है। इस इकाई में हम मनुस्मृति के अनुसार सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, और दंड व्यवस्था आदि का विस्तार से अध्ययन करेंगे।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी:

- मनुस्मृति के स्वरूप को समझ सकेगा।
- सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा को जान सकेगा।
- वर्ण और आश्रम व्यवस्था का विश्लेषण कर सकेगा।
- सामाजिक नियमों एवं उनके महत्व को समझ सकेगा।

3.3 वर्ण व्यवस्था

भारतीय संस्कृति की सामाजिक व्यवस्था का मूल आधार धर्म, कर्तव्य तथा लोककल्याण रहा है। प्राचीन भारतीय समाज में सामाजिक संगठन को सुव्यवस्थित रखने के लिए वर्णव्यवस्था का निर्माण किया गया। यह व्यवस्था भारतीय समाज की सबसे प्राचीन और महत्वपूर्ण संस्थाओं में से एक है। वेदों, ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषदों, महाभारत, भगवद्गीता तथा स्मृतिग्रन्थों में वर्णव्यवस्था का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। स्मृतियों में विशेष रूप से मनुस्मृति को सामाजिक, धार्मिक एवं नैतिक जीवन का प्रमुख विधान माना गया है। मनुस्मृति में वर्णव्यवस्था को समाज की समुचित व्यवस्था, श्रमविभाजन और कर्तव्यनिर्धारण के लिए आवश्यक बताया गया है। मनुस्मृति में समाज को चार वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में विभाजित किया गया है। यह विभाजन मुख्यतः कर्म, कर्तव्य और सामाजिक उत्तरदायित्वों के आधार पर किया गया था। यद्यपि कालान्तर में यह व्यवस्था जन्मआधारित मानी जाने लगी, तथापि प्रारम्भिक स्वरूप में इसका उद्देश्य समाज में समन्वय और संतुलन स्थापित करना था।

वर्ण व्यवस्था का अर्थ

वर्ण शब्द संस्कृत की 'वृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है वरण करना अथवा चयन करना। वर्ण का सामान्य अर्थ वर्ग या श्रेणी है। समाज में व्यक्तियों के गुण, कर्म तथा स्वभाव के अनुसार उनके कर्तव्यों का निर्धारण ही वर्णव्यवस्था कहलाती है। भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।"(भगवद्गीता 4.13) अर्थात् चार वर्णों की रचना गुण और कर्म के आधार पर की गई है।

मनुस्मृति में वर्णों की उत्पत्ति

मनुस्मृति में वर्णों की उत्पत्ति का वर्णन ब्रह्मा के विभिन्न अंगों से किया गया है

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः।

ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्॥ (मनुस्मृति 1.31)

अर्थात् लोक की वृद्धि और कल्याण के लिए ब्रह्मा ने अपने मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य तथा चरणों से शूद्र को उत्पन्न किया। यह प्रतीकात्मक वर्णन है, जिसका तात्पर्य समाज में विभिन्न कार्यों के विभाजन से है। मुख ज्ञान का, भुजाएँ शक्ति का, जंघाएँ आर्थिक क्रियाओं का तथा चरण सेवा और श्रम का प्रतीक हैं।

ब्राह्मण वर्ण

मनुस्मृति में ब्राह्मण को समाज का सर्वोच्च वर्ण माना गया है। उसका मुख्य कर्तव्य ज्ञानार्जन, अध्यापन तथा धार्मिक कार्यों का सम्पादन करना बताया गया है।

मनुस्मृति में कहा गया है

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।

दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥ (मनुस्मृति 1.88)

अर्थात् अध्ययन करना, दूसरों को पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना तथा दान ग्रहण करनाये ब्राह्मण के छह कर्म हैं। ब्राह्मण का दायित्व समाज को ज्ञान, धर्म और नैतिकता का मार्गदर्शन देना था। उसे संयमी, सत्यवादी, क्षमाशील और आत्मसंयमी होना अपेक्षित था।

क्षत्रिय वर्ण

क्षत्रिय वर्ण का मुख्य कर्तव्य शासन, रक्षा तथा प्रजा का पालन था। मनुस्मृति में कहा गया है

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।

विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥ (मनुस्मृति 1.89)

अर्थात् प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेदों का अध्ययन करना तथा विषयभोगों में अत्यधिक आसक्ति न रखना ये क्षत्रिय के कर्तव्य हैं। क्षत्रिय समाज में राजनीतिक शक्ति का प्रतिनिधित्व करता था। उसका उद्देश्य धर्म की रक्षा तथा न्यायपूर्ण शासन की स्थापना करना था।

वैश्य वर्ण

वैश्य वर्ण का प्रमुख कार्य कृषि, पशुपालन और व्यापार था। मनुस्मृति में कहा गया है

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।

वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥ (मनुस्मृति 1.90)

अर्थात् पशुपालन, दान, यज्ञ, अध्ययन, व्यापार, ऋणव्यवस्था तथा कृषि ये वैश्य के कार्य हैं।

वैश्य वर्ग समाज की आर्थिक व्यवस्था का आधार था। कृषि, व्यापार और वाणिज्य के माध्यम से समाज की समृद्धि का उत्तरदायित्व इसी वर्ग पर था।

शूद्र वर्ण

शूद्र वर्ण का मुख्य कार्य अन्य तीन वर्णों की सेवा करना बताया गया है।

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।

एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥ (मनुस्मृति 1.91)

अर्थात् शूद्र के लिए एक ही कर्म निर्धारित किया गया कि वह बिना द्वेष के अन्य तीन वर्णों की सेवा करे। यद्यपि मनुस्मृति में शूद्र को सेवाकार्य तक सीमित किया गया है, तथापि भारतीय समाज के विकास में श्रम और सेवा का महत्त्व अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है।

वर्ण व्यवस्था का उद्देश्य

मनुस्मृति की वर्णव्यवस्था का मुख्य उद्देश्य समाज में श्रमविभाजन तथा सामाजिक संगठन की स्थापना था। इसके प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं

1. समाज में कार्यों का उचित विभाजन।

2. प्रत्येक व्यक्ति के कर्तव्यों का निर्धारण।

3. सामाजिक अनुशासन एवं व्यवस्था की स्थापना।

4. समाज के विभिन्न वर्गों में पारस्परिक सहयोग की भावना।

5. धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति हेतु अनुकूल व्यवस्था।

वर्ण और धर्म

मनुस्मृति में प्रत्येक वर्ण के लिए अलगअलग धर्म निर्धारित किए गए हैं। वर्णधर्म का पालन ही व्यक्ति के लिए श्रेष्ठ माना गया है। सामाजिक समरसता के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्तव्यों का पालन करने का निर्देश दिया गया।

मनुस्मृति के अनुसार

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

यद्यपि यह श्लोक भगवद्गीता (3.35) में मिलता है, किन्तु इसका भाव मनुस्मृति की वर्णधर्मव्यवस्था के अनुरूप है।

वर्ण व्यवस्था की विशेषताएँ

वर्णव्यवस्था प्राचीन भारतीय समाज की एक महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था थी। इसकी प्रमुख विशेषता कार्यविभाजन एवं कर्तव्यनिर्धारण थी, जिसके अंतर्गत समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों में विभाजित किया गया। प्रत्येक वर्ण के लिए विशिष्ट कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का निर्धारण किया गया था। यह व्यवस्था सामाजिक संगठन, अनुशासन तथा पारस्परिक सहयोग पर आधारित थी। इसका उद्देश्य समाज में समन्वय, स्थिरता और लोककल्याण स्थापित करना था। प्रारम्भिक रूप में यह गुण एवं कर्म पर आधारित मानी जाती थी, जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वभाव और योग्यता के अनुसार समाज की उन्नति में योगदान देता था।

वर्ण व्यवस्था की आलोचना

कालान्तर में वर्ण व्यवस्था के अनेक दोष भी उत्पन्न हुए जन्मआधारित जातिप्रथा का विकास होने लगा। सामाजिक असमानता और ऊँचनीच की भावना। शूद्रों के प्रति भेदभाव। सामाजिक गतिशीलता में बाधा। अस्पृश्यता जैसी कुरीतियों का जन्म। आधुनिक विद्वानों का मत है कि प्रारम्भिक वर्ण व्यवस्था कर्मआधारित थी, किन्तु बाद में यह जन्मआधारित जातिव्यवस्था में परिवर्तित हो गई।

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में मनुस्मृति की वर्ण व्यवस्था

वर्तमान भारतीय समाज समानता, स्वतंत्रता और बन्धुत्व के सिद्धान्तों पर आधारित है। भारत का संविधान सभी नागरिकों को समान अधिकार प्रदान करता है। अतः मनुस्मृति की वर्ण व्यवस्था का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अध्ययन तो महत्वपूर्ण है, किन्तु आधुनिक लोकतांत्रिक समाज में जन्मआधारित भेदभाव स्वीकार्य नहीं है। फिर भी मनुस्मृति की वर्ण व्यवस्था से श्रमविभाजन, कर्तव्यनिष्ठा, सामाजिक उत्तरदायित्व तथा संगठनात्मक दृष्टि जैसी शिक्षाएँ आज भी ग्रहण की जा सकती हैं। मनुस्मृति में वर्ण व्यवस्था भारतीय समाज के संगठन का एक महत्वपूर्ण आधार प्रस्तुत करती है। इसके अनुसार समाज को चार वर्णों में विभाजित कर प्रत्येक वर्ग के लिए विशिष्ट कर्तव्यों का निर्धारण किया गया। इस व्यवस्था का मूल उद्देश्य सामाजिक समन्वय, श्रमविभाजन और धर्मपालन था। यद्यपि बाद में यह व्यवस्था अनेक विकृतियों से ग्रस्त हो गई और सामाजिक असमानता का कारण बनी तथापि इसके मूल स्वरूप में समाज के सुचारु संचालन की भावना निहित थी।

अतः मनुस्मृति की वर्ण व्यवस्था का अध्ययन हमें प्राचीन भारतीय सामाजिक चिंतन, कर्तव्यबोध तथा सांस्कृतिक परम्परा को समझने का अवसर प्रदान करता है। इसके ऐतिहासिक एवं दार्शनिक पक्ष का निष्पक्ष अध्ययन आज भी भारतीय समाजविज्ञान और संस्कृतिअध्ययन के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

3.3.1 संस्कार व्यवस्था

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम एवं समृद्ध संस्कृतियों में से एक है। इसकी महानता का मूल आधार इसकी उत्कृष्ट जीवनपद्धति तथा संस्कारप्रधान व्यवस्था है। भारतीय मनीषियों ने मानव जीवन को केवल जैविक अस्तित्व न मानकर उसे आध्यात्मिक, नैतिक एवं सामाजिक विकास की यात्रा माना है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने मानव जीवन को संस्कारों द्वारा परिष्कृत एवं पवित्र बनाने की व्यवस्था की। भारतीय धर्मशास्त्रों में संस्कारों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। विशेष रूप से मनुस्मृति में संस्कार व्यवस्था का विस्तृत विवेचन मिलता है। 'संस्कार' शब्द संस्कृत धातु "कृ" में "सम्" उपसर्ग तथा "घञ्" प्रत्यय के योग से बना है, जिसका अर्थ है— परिष्कार, शुद्धि, पवित्रीकरण, उत्कृष्टता अथवा योग्यता प्रदान करना। संस्कारों का उद्देश्य मनुष्य के शारीरिक, मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास को सुनिश्चित करना है। मनुस्मृति भारतीय समाज व्यवस्था का एक प्रमुख धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ है, जिसमें मानव जीवन के विविध पक्षों का व्यवस्थित वर्णन मिलता है। इसमें वर्ण, आश्रम, धर्म, आचार, संस्कार तथा सामाजिक कर्तव्यों का विस्तृत निरूपण किया गया है।

संस्कार का स्वरूप

संस्कार वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से मनुष्य के व्यक्तित्व का परिष्कार होता है। संस्कार व्यक्ति के जीवन में अनुशासन, मर्यादा, नैतिकता तथा आध्यात्मिकता का विकास करते हैं। भारतीय परम्परा में कहा गया है"संस्कारो हि गुणान्तराधानम्।" अर्थात् संस्कारों के द्वारा व्यक्ति में श्रेष्ठ गुणों का आधान किया जाता है जिसका अर्थ है कि व्यक्ति के भीतर विद्यमान अवगुणों को निकालकर उसमें अच्छे गुणों, सद्गुणों और श्रेष्ठ संस्कारों का समावेश करना ही संस्कार है। मनुस्मृति में संस्कारों का उद्देश्य व्यक्ति को धार्मिक जीवन के योग्य बनाना तथा उसके दोषों का निवारण करना बताया गया है।

मनुस्मृति में संस्कारों का महत्व

मनुस्मृति में संस्कारों को द्विजों के लिए अनिवार्य माना गया है। मनु के अनुसार मनुष्य जन्म से शूद्र होता है, संस्कारों के द्वारा ही वह द्विजत्व प्राप्त करता है"जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।" अर्थात् मनुष्य जन्म से शूद्र होता है और संस्कारों से द्विज कहलाता है। मनु ने संस्कारों को मनुष्य के

शारीरिक एवं मानसिक दोषों की शुद्धि का साधन माना है। उन्होंने कहा है कि गर्भ एवं बीज से उत्पन्न दोष संस्कारों द्वारा दूर होते हैं

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।

कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥ (मनुस्मृति 2.26)

अर्थात् निषेक आदि संस्कारों द्वारा शरीर का पवित्रीकरण किया जाता है, जो इस लोक और परलोक दोनों में कल्याणकारी है।

मनुस्मृति में वर्णित संस्कार

मनुस्मृति में मुख्यतः गर्भाधान से लेकर विवाह तक अनेक संस्कारों का उल्लेख मिलता है। यद्यपि बाद की परम्परा में सोलह संस्कारों की व्यवस्था प्रसिद्ध हुई, तथापि मनु ने प्रमुख संस्कारों का वर्णन किया है।

1. गर्भाधान संस्कार

यह प्रथम संस्कार है। इसका उद्देश्य उत्तम एवं गुणवान संतान की प्राप्ति है। मनु के अनुसार संतानोत्पत्ति भी धार्मिक नियमों के अनुसार होनी चाहिए।

निषेकाद् बैजिकं चैनो गर्भिकं चापमृज्यते। (मनुस्मृति 2.27)

अर्थात् गर्भाधान संस्कार से बीज एवं गर्भ के दोष दूर होते हैं।

2. पुंसवन संस्कार

गर्भधारण के पश्चात् गर्भ की रक्षा तथा उसकी उत्तम वृद्धि के लिए यह संस्कार किया जाता है। इसका उद्देश्य गर्भस्थ शिशु के शारीरिक एवं मानसिक विकास की कामना करना है।

3. सीमन्तोन्नयन संस्कार

यह संस्कार गर्भवती स्त्री की सुरक्षा तथा मानसिक प्रसन्नता के लिए किया जाता है। मनु ने गर्भवती स्त्री की देखभाल एवं उसके सम्मान पर विशेष बल दिया है।

4. जातकर्म संस्कार

शिशु के जन्म के तुरंत बाद यह संस्कार सम्पन्न किया जाता है। इसका उद्देश्य नवजात शिशु के शुभ जीवन की कामना करना तथा उसे धार्मिक जीवन की ओर प्रेरित करना है।

प्राङ्नाभिवर्धनात् पुंसो जातकर्म विधीयते। (मनुस्मृति 2.29)

अर्थात् नाल काटने से पूर्व जातकर्म संस्कार का विधान है।

5. नामकरण संस्कार

जन्म के दसवें या बारहवें दिन नामकरण संस्कार किया जाता है।

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वा प्रकल्पयेत्। (मनुस्मृति 2.30)

अर्थात् दसवें या बारहवें दिन बालक का नामकरण करना चाहिए। मनु ने नामकरण के लिए भी नियम निर्धारित किए हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के नामों के स्वरूप भिन्न बताए गए हैं।

6. निष्क्रमण संस्कार

शिशु को पहली बार घर से बाहर लाकर सूर्य तथा प्राकृतिक वातावरण से परिचित कराने के लिए निष्क्रमण संस्कार किया जाता है।

7. अन्नप्राशन संस्कार

जब शिशु पहली बार अन्न ग्रहण करता है, तब यह संस्कार सम्पन्न किया जाता है।

षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले। (मनुस्मृति 2.34)

अर्थात् छठे महीने में अन्नप्राशन संस्कार करना चाहिए।

8. चूडाकर्म (मुंडन) संस्कार

यह संस्कार बालक के शारीरिक एवं मानसिक विकास से सम्बद्ध माना गया है।

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।

प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात्।। (मनुस्मृति 2.35)

अर्थात् प्रथम अथवा तृतीय वर्ष में चूडाकर्म करना चाहिए।

9. कर्णवेध संस्कार

कान छेदन की प्रक्रिया को कर्णवेध कहा जाता है। इसका धार्मिक एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी महत्व माना गया है।

10. उपनयन संस्कार

मनुस्मृति में उपनयन संस्कार का विशेष महत्व है। इसे द्विजत्व का वास्तविक प्रारम्भ माना गया है।

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।

गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥ (मनुस्मृति 2.36)

अर्थात् ब्राह्मण का उपनयन आठवें, क्षत्रिय का ग्यारहवें तथा वैश्य का बारहवें वर्ष में होना चाहिए।

उपनयन के बाद बालक वेदाध्ययन के योग्य बनता है। इसे दूसरा जन्म माना गया है।

11. वेदारम्भ संस्कार

उपनयन के पश्चात् गुरु के सान्निध्य में वेदाध्ययन का प्रारम्भ किया जाता है। यह संस्कार ज्ञान, अनुशासन एवं सदाचार की शिक्षा देता है।

12. केशान्त संस्कार

ब्रह्मचर्य जीवन के उत्तरार्द्ध में केशान्त संस्कार किया जाता है। यह व्यक्ति के जीवन में परिपक्वता का प्रतीक है।

13. समावर्तन संस्कार

विद्या प्राप्ति के पश्चात् जब छात्र गुरु के आश्रम से गृहस्थ जीवन में प्रवेश हेतु लौटता है, तब समावर्तन संस्कार किया जाता है।

यह संस्कार शिक्षासमापन एवं सामाजिक उत्तरदायित्वों के प्रारम्भ का प्रतीक है।

14. विवाह संस्कार

मनुस्मृति में विवाह को अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्कार माना गया है। विवाह के माध्यम से व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है।

सन्तानोत्पादनार्थं हि विवाहः परिकीर्तितः।

विवाह केवल दाम्पत्य जीवन नहीं, बल्कि धर्म, अर्थ और सन्तानोत्पत्ति का आधार माना गया है। मनु ने विवाह के आठ प्रकारों का वर्णन किया है— ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच।

इनमें ब्राह्म विवाह को सर्वोत्तम माना गया है।

मनुस्मृति की संस्कार व्यवस्था की विशेषताएँ

1. जीवनपर्यन्त व्यवस्था – गर्भाधान से विवाह तक प्रत्येक अवस्था के लिए संस्कार निर्धारित हैं।

2. धार्मिक आधार – सभी संस्कार वैदिक मन्त्रों एवं धार्मिक विधानों पर आधारित हैं।

3. चरित्र निर्माण – संस्कार व्यक्ति के नैतिक एवं चारित्रिक विकास में सहायक हैं।

4. सामाजिक अनुशासन – संस्कारों से व्यक्ति समाज की मर्यादाओं का पालन करना सीखता है।

5. आध्यात्मिक दृष्टिकोण – संस्कारों का अन्तिम लक्ष्य आत्मिक शुद्धि एवं मोक्ष प्राप्ति है।

संस्कार व्यवस्था की वर्तमान प्रासंगिकता

आज के वैज्ञानिक एवं भौतिकवादी युग में भी संस्कारों का महत्व कम नहीं हुआ है। आधुनिक समाज में नैतिक मूल्यों के पतन, पारिवारिक विघटन एवं सामाजिक अव्यवस्था की समस्याओं का समाधान संस्कारों के माध्यम से किया जा सकता है। संस्कार व्यक्ति को अनुशासित, उत्तरदायी तथा नैतिक बनाते हैं। यद्यपि मनुस्मृति की कुछ व्यवस्थाएँ आधुनिक लोकतांत्रिक एवं समतामूलक दृष्टिकोण से विवादास्पद मानी जाती हैं तथापि संस्कारों की अवधारणा आज भी मानव व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास में अत्यन्त उपयोगी है। मनुस्मृति में वर्णित संस्कार व्यवस्था भारतीय संस्कृति की अमूल्य धरोहर है। संस्कार मानव जीवन को पवित्र, परिष्कृत एवं अनुशासित बनाते हैं। मनु ने संस्कारों को व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास का साधन माना है। गर्भाधान से विवाह तक निर्धारित संस्कार जीवन के प्रत्येक चरण को अर्थपूर्ण एवं मर्यादित बनाते हैं। संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति केवल सामाजिक प्राणी ही नहीं, बल्कि आदर्श, कर्तव्यनिष्ठ एवं आध्यात्मिक व्यक्तित्व के रूप में विकसित होता है। अतः मनुस्मृति की संस्कार व्यवस्था भारतीय जीवनदर्शन की एक महत्वपूर्ण एवं स्थायी उपलब्धि है, जिसकी प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है।

3.3.2 आश्रम व्यवस्था

भारतीय संस्कृति की महान विशेषता यह है कि उसने मानव जीवन को केवल भौतिक सुखसुविधाओं तक सीमित नहीं रखा, अपितु उसके सर्वांगीण विकास के लिए एक सुव्यवस्थित जीवनपद्धति का निर्माण किया। इस जीवनपद्धति का प्रमुख आधार वर्ण व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था है। वर्ण व्यवस्था समाज के संगठन से संबंधित है, जबकि आश्रम व्यवस्था व्यक्ति के जीवन के क्रमबद्ध विकास का मार्ग प्रशस्त करती है। भारतीय मनीषियों ने मानव जीवन को सौ वर्ष का मानकर उसे चार आश्रमों ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास में विभाजित किया। इन चारों आश्रमों का उद्देश्य मनुष्य को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की प्राप्ति हेतु योग्य बनाना है। प्राचीन धर्मशास्त्रों में आश्रम व्यवस्था का विस्तृत विवेचन मिलता है, किन्तु मनुस्मृति में इसका सर्वाधिक व्यवस्थित और प्रामाणिक निरूपण प्राप्त होता है। मनु ने प्रत्येक आश्रम के कर्तव्यों, नियमों तथा उद्देश्यों का स्पष्ट प्रतिपादन किया है। आश्रम व्यवस्था के माध्यम से व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक विकास की परिकल्पना की गई है।

आश्रम शब्द का अर्थ

'आश्रम' शब्द संस्कृत धातु 'श्रम्' से बना है, जिसका अर्थ है—परिश्रम करना या साधना करना। जिस अवस्था में मनुष्य विशेष प्रकार की साधना और कर्तव्यों का पालन करता है, उसे आश्रम कहते हैं। मनुस्मृति में कहा गया है

"ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।

एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः॥"(मनुस्मृति, 6.87)

अर्थात् ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी ये चार पृथक् आश्रम हैं।

आश्रम व्यवस्था की अवधारणा

आश्रम व्यवस्था मानव जीवन को क्रमिक रूप से विकसित करने की व्यवस्था है। इसका उद्देश्य जीवन के विभिन्न चरणों में मनुष्य के कर्तव्यों का निर्धारण करना तथा उसे अन्ततः मोक्ष की प्राप्ति के योग्य बनाना है। मनुस्मृति के अनुसार आश्रम व्यवस्था केवल धार्मिक प्रणाली नहीं, बल्कि सामाजिक अनुशासन एवं नैतिक जीवन का आधार है।

मनु कहते हैं—

"ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।"(मनुस्मृति, 6.35)

अर्थात् देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण से मुक्त होकर मनुष्य को मोक्ष की ओर अग्रसर होना चाहिए।

1. ब्रह्मचर्य आश्रम

ब्रह्मचर्य का अर्थ

ब्रह्मचर्य आश्रम मानव जीवन का प्रथम चरण है। इसमें विद्यार्थी गुरु के आश्रम में निवास करके वेदों का अध्ययन, इन्द्रियनिग्रह तथा चरित्र निर्माण करता है। मनुस्मृति में कहा गया है—

"आचार्याधीनो वसेद् ब्रह्मचारी।" (मनुस्मृति, 2.108)

अर्थात् ब्रह्मचारी को आचार्य के अधीन रहना चाहिए।

ब्रह्मचारी के कर्तव्य

1. गुरु सेवा करना।
2. वेदों का अध्ययन करना।

3. सत्य बोलना।

4. इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना।

5. संयमित जीवन व्यतीत करना।

मनु कहते हैं— "नित्यं स्नात्वा शुचिर्भूत्वा गुरोराज्ञां समाचरेत्।"

अर्थात् ब्रह्मचारी को सदैव शुद्ध होकर गुरु की आज्ञा का पालन करना चाहिए।

ब्रह्मचर्य आश्रम का महत्व

यह आश्रम सम्पूर्ण जीवन की नींव है। इसी अवस्था में व्यक्ति ज्ञान, अनुशासन, विनय, सदाचार और आत्मसंयम सीखता है। यदि ब्रह्मचर्य आश्रम सुदृढ़ हो, तो सम्पूर्ण जीवन सफल बन जाता है।

2. गृहस्थ आश्रम

गृहस्थ आश्रम का स्वरूप

ब्रह्मचर्य के पश्चात् व्यक्ति विवाह करके गृहस्थ जीवन में प्रवेश करता है। मनुस्मृति में गृहस्थ आश्रम को समस्त आश्रमों का आधार माना गया है। मनु कहते हैं

"यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।

तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥" (मनुस्मृति, 3.77)

अर्थात् जैसे सभी प्राणी वायु पर आश्रित रहते हैं, वैसे ही सभी आश्रम गृहस्थ पर आश्रित हैं।

गृहस्थ के प्रमुख कर्तव्य

1. विवाह और परिवार का पालन।

2. सन्तानोत्पत्ति।

3. अतिथि सत्कार।

4. यज्ञ एवं दान।

5. मातापिता तथा समाज की सेवा।

मनुस्मृति में कहा गया है

"अतिथिदेवो भव" की भावना के अनुसार गृहस्थ को अतिथि का सम्मान करना चाहिए।

पंचमहायज्ञ

मनु ने गृहस्थ के लिए प्रतिदिन पाँच महायज्ञों का विधान किया है

1. ब्रह्मयज्ञ – वेदाध्ययन।
2. देवयज्ञ – देवपूजा।
3. पितृयज्ञ – श्राद्ध एवं तर्पण।
4. भूतयज्ञ – पशुपक्षियों को अन्न देना।
5. मनुष्ययज्ञ – अतिथि सेवा।

गृहस्थ आश्रम का महत्व

गृहस्थ आश्रम को आश्रम व्यवस्था का केन्द्र कहा गया है, क्योंकि यही समाज की आर्थिक, धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्था को संचालित करता है। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी भी गृहस्थ पर निर्भर रहते हैं।

3. वानप्रस्थ आश्रम

वानप्रस्थ का अर्थ

जब व्यक्ति अपने पुत्रपौत्रों को देखकर गृहस्थ धर्म से निवृत्त होने लगता है, तब उसे वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करना चाहिए।

मनुस्मृति में कहा गया है-

> "गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलिपलितमात्मनः।
> अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥" (मनुस्मृति, 6.2)

अर्थात् जब व्यक्ति अपने शरीर में वृद्धावस्था के लक्षण तथा पुत्र के पुत्र को देखे, तब वन में जाकर वानप्रस्थ ग्रहण करे।

वानप्रस्थ के कर्तव्य

1. इन्द्रियनिग्रह।
2. तपस्या।
3. ध्यान एवं उपासना।
4. सरल जीवन।
5. सांसारिक आसक्तियों का त्याग।

मनुस्मृति में कहा गया है—

"स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात् दान्तो मैत्रः समाहितः।" (मनुस्मृति, 6.8)

अर्थात् वानप्रस्थी को सदैव स्वाध्याय, संयम और ध्यान में लगे रहना चाहिए।

वानप्रस्थ आश्रम का महत्व

यह आश्रम गृहस्थ और संन्यास के बीच की संक्रमण अवस्था है। इसमें व्यक्ति सांसारिक जीवन से धीरेधीरे विरक्त होकर आध्यात्मिक जीवन की ओर अग्रसर होता है।

4. संन्यास आश्रम

संन्यास का अर्थ

संन्यास आश्रम मानव जीवन की अंतिम अवस्था है। इसमें व्यक्ति समस्त सांसारिक बंधनों का त्याग करके मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है।

मनुस्मृति में कहा गया है-

"ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।" (मनुस्मृति, 6.35)

अर्थात् तीनों ऋणों से मुक्त होकर मनुष्य को मोक्ष में मन लगाना चाहिए।

संन्यासी के कर्तव्य

1. अहिंसा का पालन।

2. सत्य का आचरण।

3. लोभ एवं मोह का त्याग।

4. आत्मचिन्तन।

5. परमात्मा की उपासना।

मनु कहते हैं "एक एव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायवान्।" (मनुस्मृति, 6.42)

अर्थात् संन्यासी को अकेले रहकर आत्मसिद्धि का प्रयत्न करना चाहिए।

संन्यास आश्रम का महत्व

संन्यास आश्रम का अंतिम उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति है। यह आत्मज्ञान, वैराग्य और परम शान्ति का मार्ग है।

आश्रम व्यवस्था की विशेषताएँ

1. जीवन का क्रमबद्ध विभाजन – प्रत्येक अवस्था के लिए निश्चित कर्तव्य निर्धारित किए गए।

2. सर्वांगीण विकास – शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक उन्नति।

3. पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का समन्वय।

4. अनुशासन और संयम – प्रत्येक आश्रम में नियमों का पालन अनिवार्य।

5. सामाजिक समन्वय – व्यक्ति और समाज के बीच संतुलन स्थापित करना।

6. मोक्ष की प्राप्ति – जीवन का अंतिम लक्ष्य आध्यात्मिक उन्नति है।

आश्रम व्यवस्था की प्रासंगिकता

यद्यपि आधुनिक समाज में आश्रम व्यवस्था अपने पारम्परिक स्वरूप में नहीं दिखाई देती, तथापि उसके सिद्धान्त आज भी अत्यन्त प्रासंगिक हैं। विद्यार्थी जीवन में अनुशासन, गृहस्थ जीवन में उत्तरदायित्व, वृद्धावस्था में वैराग्य तथा अन्तिम जीवन में आध्यात्मिकता-ये सभी आज भी मानव जीवन के लिए उपयोगी हैं। आधुनिक शिक्षा प्रणाली में ब्रह्मचर्य के आदर्श, पारिवारिक जीवन में गृहस्थ धर्म की भावना, सेवानिवृत्ति के पश्चात् सामाजिक एवं आध्यात्मिक सेवा की प्रवृत्ति तथा जीवन के अन्तिम चरण में आत्मचिन्तनये सभी आश्रम व्यवस्था के ही आधुनिक रूप हैं। मनुस्मृति में प्रतिपादित आश्रम व्यवस्था भारतीय संस्कृति की एक अद्वितीय देन है। यह केवल धार्मिक व्यवस्था नहीं, बल्कि सम्पूर्ण मानव जीवन के वैज्ञानिक एवं नैतिक संगठन का आदर्श है। मनु ने मानव जीवन को चार चरणों में विभाजित करके प्रत्येक अवस्था के कर्तव्यों एवं उद्देश्यों का अत्यन्त सूक्ष्म एवं व्यावहारिक विवेचन किया है। ब्रह्मचर्य में शिक्षा एवं संयम, गृहस्थ में कर्तव्य एवं सेवा, वानप्रस्थ में वैराग्य एवं तप तथा संन्यास में मोक्ष की साधना-ये चारों मिलकर मानव जीवन को पूर्णता प्रदान करते हैं। अतः कहा जा सकता है कि मनुस्मृति की आश्रम व्यवस्था भारतीय जीवनदर्शन का आधारस्तम्भ है, जो व्यक्ति को अनुशासित, उत्तरदायी, नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन जीने की प्रेरणा प्रदान करती है।

3.3.3 न्याय व्यवस्था

भारतीय संस्कृति में न्याय की परम्परा अत्यन्त प्राचीन एवं समृद्ध रही है। वैदिक साहित्य से लेकर धर्मशास्त्रों तक न्याय को सामाजिक व्यवस्था का आधार माना गया है। प्राचीन भारतीय विधिव्यवस्था में धर्म और न्याय परस्पर संबद्ध थे तथा न्याय का उद्देश्य केवल अपराधियों को

दण्डित करना नहीं, बल्कि समाज में धर्म, शान्ति और व्यवस्था की स्थापना करना था। धर्मशास्त्रीय परम्परा में मनुस्मृति का विशेष स्थान है। यह ग्रन्थ केवल धार्मिक नियमों का संकलन नहीं, अपितु सामाजिक, राजनीतिक तथा विधिक सिद्धान्तों का भी महत्त्वपूर्ण स्रोत है। मनुस्मृति के सप्तम, अष्टम और नवम अध्यायों में राजधर्म, न्याय व्यवस्था, व्यवहार, साक्ष्य और दण्डनीति का विस्तृत विवेचन मिलता है। मनु ने न्याय को राज्य का प्राण तथा राजा का सर्वोच्च कर्तव्य माना है।

मनुस्मृति के अनुसार न्याय का मूल आधार धर्म है। मनु का प्रसिद्ध कथन है - "धर्मो रक्षति रक्षितः" (मनुस्मृति 8.15), अर्थात् जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है। इस सिद्धान्त के माध्यम से मनु यह स्पष्ट करते हैं कि न्याय का उद्देश्य धर्म की स्थापना तथा सामाजिक संतुलन की रक्षा करना है। यदि समाज में न्याय का अभाव हो जाए तो अराजकता, हिंसा और अन्याय का प्रसार हो जाता है। इसलिए राजा और राज्य दोनों का प्रथम दायित्व न्याय की स्थापना करना है। मनुस्मृति में राजा को न्याय व्यवस्था का केन्द्र माना गया है। राजा केवल शासन करने वाला व्यक्ति नहीं, बल्कि धर्म का संरक्षक और न्याय का पालक है। मनु कहते हैं कि राजा को धर्म के अनुसार पृथ्वी की रक्षा करनी चाहिए- "राजा धर्मेण पृथिवीं रक्षेत्" (मनुस्मृति 7.35)। राजा को न्याय करते समय क्रोध, लोभ, मोह और पक्षपात से दूर रहने का निर्देश दिया गया है। वह अपने व्यक्तिगत हित या भावनाओं के आधार पर निर्णय नहीं कर सकता, बल्कि उसे धर्मशास्त्र, लोकाचार और न्याय के सिद्धान्तों के अनुसार निर्णय देना चाहिए।

मनुस्मृति में न्यायिक संस्था को 'सभा' कहा गया है। राजा विद्वान् ब्राह्मणों, मन्त्रियों और न्यायविदों की सहायता से न्याय करता था। मनु कहते हैं- "सभां वा प्रविशेद् राजा वक्तव्यं वा समञ्जसम्" (मनुस्मृति 8.1), अर्थात् राजा सभा में प्रवेश करके उचित और न्यायपूर्ण निर्णय दे। इससे स्पष्ट होता है कि न्यायिक निर्णय एक सुव्यवस्थित प्रक्रिया के अन्तर्गत लिए जाते थे और उनमें विद्वानों की सहभागिता भी रहती थी। न्यायालय को धर्म और सत्य की प्रतिष्ठा का स्थान माना गया था। मनुस्मृति की न्याय व्यवस्था में 'व्यवहार' शब्द का प्रयोग न्यायिक विवादों के लिए किया गया है। मनु ने अठारह प्रकार के व्यवहारों अथवा न्यायिक विवादों का उल्लेख किया है— "अष्टादश पदान्याहुर्व्यवहारस्य तत्त्वतः" (मनुस्मृति 8.4)। इन विवादों में ऋण, धरोहर, विक्रयविवाद, साझेदारी, वेतन, अनुबन्ध, सीमाविवाद, चोरी, हिंसा, स्त्रीपुरुष सम्बन्धी विवाद, उत्तराधिकार, जुआ आदि सम्मिलित थे। इससे स्पष्ट होता है कि मनुस्मृति में न्याय व्यवस्था केवल आपराधिक मामलों तक सीमित नहीं थी, बल्कि नागरिक और सामाजिक विवादों का भी विस्तृत विधान उसमें विद्यमान था।

मनुस्मृति में न्यायिक प्रक्रिया को अत्यन्त व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया गया है। किसी भी विवाद के निस्तारण के लिए अभियोग, उत्तर, साक्ष्य और निर्णय की प्रक्रिया निर्धारित की गई थी। दोनों पक्षों को अपना पक्ष प्रस्तुत करने का अवसर दिया जाता था तथा निर्णय प्रमाणों और साक्ष्यों के

आधार पर किया जाता था। मनु ने साक्ष्य को न्याय का आधार माना है। उनका मत है कि सत्य और प्रमाण के बिना न्याय सम्भव नहीं है।

साक्षियों के सम्बन्ध में भी मनुस्मृति में विस्तृत नियम मिलते हैं। मनु कहते हैं- "साक्षिणः शुचयो ज्ञेयाः" (मनुस्मृति 8.62), अर्थात् साक्षी पवित्र, सत्यवादी और सदाचारी होना चाहिए। न्यायालय में वही व्यक्ति साक्षी बनने के योग्य था जो निष्पक्ष और धर्मनिष्ठ हो। झूठी गवाही को गंभीर अपराध माना गया तथा उसके लिए दण्ड का विधान किया गया। यदि किसी मामले में प्रत्यक्ष साक्ष्य उपलब्ध न हो, तो शपथ और अन्य प्रमाणों के आधार पर निर्णय करने की व्यवस्था भी मनुस्मृति में मिलती है।

मनुस्मृति की न्याय व्यवस्था का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष उसकी दण्डनीति है। मनु ने दण्ड को राज्य की आधारशक्ति माना है। उनके अनुसार दण्ड के भय से ही लोग अनुशासन में रहते हैं और समाज में व्यवस्था बनी रहती है। मनु कहते हैं- "दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः दण्ड एवाभिरक्षति" (मनुस्मृति 7.18), अर्थात् दण्ड ही सम्पूर्ण प्रजा का शासन करता है और वही उसकी रक्षा करता है। इसी प्रकार वे कहते हैं— "दण्डः सुप्तेषु जागर्ति", अर्थात् जब सब लोग सो जाते हैं तब भी दण्ड जागृत रहता है। इन कथनों से स्पष्ट है कि मनु ने दण्ड को सामाजिक अनुशासन और राज्य व्यवस्था की अनिवार्य शक्ति माना है।

मनुस्मृति में अपराधों का वर्गीकरण भी मिलता है। चोरी, डकैती, धोखाधड़ी, हिंसा, व्यभिचार, झूठी गवाही, राजद्रोह आदि अपराधों के लिए अलगअलग दण्ड निर्धारित किए गए थे। दण्ड की व्यवस्था अपराध की प्रकृति, अपराधी की स्थिति तथा अपराध के परिणाम को ध्यान में रखकर की जाती थी। अर्थदण्ड, शारीरिक दण्ड, निर्वासन तथा मृत्युदण्ड आदि दण्डों का उल्लेख मनुस्मृति में प्राप्त होता है। यद्यपि आधुनिक दृष्टि से कुछ दण्डविधान कठोर प्रतीत होते हैं, तथापि उस समय की सामाजिक परिस्थितियों में उनका उद्देश्य समाज में शान्ति और व्यवस्था बनाए रखना था। मनुस्मृति की न्याय व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि राजा स्वयं भी धर्म और न्याय के अधीन है। उसे मनमाने ढंग से शासन करने का अधिकार नहीं है। यदि राजा न्याय से विमुख हो जाता है तो वह स्वयं पाप का भागी बनता है और राज्य के पतन का कारण बनता है। इस प्रकार मनुस्मृति में विधि के शासन (Rule of Law) की भावना स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। मनुस्मृति की न्याय व्यवस्था में लोककल्याण की भावना निहित है। न्याय का उद्देश्य किसी एक वर्ग या व्यक्ति के हित की रक्षा नहीं, बल्कि सम्पूर्ण समाज की शान्ति, सुरक्षा और धर्म की स्थापना करना है। मनु का विश्वास था कि न्यायपूर्ण शासन से राज्य समृद्ध होता है, प्रजा सुखी रहती है और सामाजिक जीवन में संतुलन बना रहता है। यद्यपि आधुनिक युग में समानता, मानवाधिकार और लोकतांत्रिक मूल्यों के विकास के कारण मनुस्मृति की कुछ व्यवस्थाएँ विवाद का विषय रही हैं, फिर भी इसके अनेक सिद्धान्त आज भी प्रासंगिक हैं। निष्पक्ष न्याय, साक्ष्य का महत्त्व, न्यायाधीश की निष्पक्षता, विधि का शासन तथा

लोककल्याण की भावना आधुनिक न्याय व्यवस्था के भी आधारभूत सिद्धान्त हैं। अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मनुस्मृति की न्याय व्यवस्था प्राचीन भारतीय विधिचिन्तन की एक विकसित और संगठित व्यवस्था थी। इसमें धर्म, न्याय और शासन का अद्भुत समन्वय दिखाई देता है। मनु ने न्याय को समाज की स्थिरता और राज्य की समृद्धि का मूल आधार माना है। भारतीय विधिपरम्परा के विकास में मनुस्मृति का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और उसका अध्ययन आज भी भारतीय न्यायदर्शन को समझने के लिए उपयोगी एवं प्रासंगिक है।

3.3.4 दण्ड व्यवस्था

भारतीय संस्कृति के प्राचीन ग्रन्थों में राज्य, समाज और धर्म की सुव्यवस्थित अवधारणा का प्रतिपादन मिलता है। इन ग्रन्थों में मनुस्मृति का विशेष स्थान है। मनुस्मृति केवल एक धार्मिक ग्रन्थ नहीं है, अपितु यह प्राचीन भारतीय समाज की सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक तथा विधिक व्यवस्था का भी महत्त्वपूर्ण स्रोत है। मनु ने समाज की स्थिरता, धर्म की रक्षा और लोककल्याण के लिए न्याय तथा दण्ड की आवश्यकता को स्वीकार किया है। उनके अनुसार यदि समाज में दण्ड का भय समाप्त हो जाए, तो अराजकता, हिंसा, अन्याय और अधर्म का प्रसार हो जाएगा। इसलिए उन्होंने दण्ड को राज्यव्यवस्था का आधार तथा धर्म की रक्षा का प्रमुख साधन माना है। मनुस्मृति में दण्ड व्यवस्था का सर्वाधिक विस्तृत वर्णन सप्तम और अष्टम अध्याय में मिलता है। मनु के अनुसार दण्ड का उद्देश्य केवल अपराधी को कष्ट पहुँचाना नहीं, बल्कि समाज में अनुशासन स्थापित करना, अपराधों को रोकना तथा धर्म की रक्षा करना है। प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में दण्ड को राज्य की शक्ति तथा शासन की आत्मा माना गया है। मनु का विचार है कि दण्ड के अभाव में समाज "मत्स्यन्याय" अर्थात् बड़े द्वारा छोटे के शोषण की स्थिति में पहुँच जाता है। मनुस्मृति में कहा गया है—

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः दण्ड एवाभिरक्षति।

दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥(मनुस्मृति, 7.18)

अर्थात् दण्ड ही सम्पूर्ण प्रजा पर शासन करता है, दण्ड ही उसकी रक्षा करता है, सबके सो जाने पर भी दण्ड जागृत रहता है और विद्वान लोग दण्ड को ही धर्म का स्वरूप मानते हैं।

यह श्लोक मनु की दण्ड सम्बन्धी अवधारणा को स्पष्ट करता है। उनके अनुसार दण्ड केवल दमन का साधन नहीं, बल्कि धर्म, न्याय और सामाजिक व्यवस्था का संरक्षक है।

दण्ड की आवश्यकता

मनु के अनुसार मनुष्य में काम, क्रोध, लोभ और मोह जैसी प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहती हैं। यदि इन पर नियंत्रण न रखा जाए तो व्यक्ति अनुचित कार्य करने लगता है और समाज में

अराजकता उत्पन्न हो जाती है। इसलिए समाज को अनुशासित रखने के लिए दण्ड की व्यवस्था आवश्यक है। मनुस्मृति में कहा गया है—

यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रितः।

शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन् दुर्बलान् बलवत्तराः॥ (मनुस्मृति, 7.20)

अर्थात् यदि राजा अपराधियों को उचित दण्ड न दे, तो शक्तिशाली लोग दुर्बलों को उसी प्रकार खा जाएँगे जैसे बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खा जाती हैं। इस प्रकार मनु के अनुसार दण्ड सामाजिक न्याय और कमजोर वर्गों की रक्षा का साधन है।

दण्ड का स्वरूप

मनुस्मृति में दण्ड को राजा का सबसे महत्त्वपूर्ण अधिकार और कर्तव्य माना गया है। राजा का प्रथम दायित्व धर्म की स्थापना और अपराधों का दमन करना है। मनु कहते हैं—

राजा धर्मेण पृथिवीं रक्षेत्।(मनुस्मृति, 7.35)

अर्थात् राजा को धर्म के अनुसार राज्य की रक्षा करनी चाहिए। यहाँ धर्म की रक्षा का प्रमुख साधन दण्ड व्यवस्था ही है। मनु के अनुसार दण्ड का प्रयोग न्यायपूर्ण, निष्पक्ष और धर्मानुकूल होना चाहिए। यदि दण्ड अन्यायपूर्ण हो, तो उसका परिणाम राज्य और समाज दोनों के लिए हानिकारक होता है।

दण्ड के उद्देश्य

मनुस्मृति में दण्ड के अनेक उद्देश्य बताए गए हैं। प्रथम उद्देश्य समाज में शान्ति और व्यवस्था की स्थापना करना है। दूसरा उद्देश्य अपराधियों को अपराध करने से रोकना है। तीसरा उद्देश्य धर्म की रक्षा करना है। चौथा उद्देश्य निर्दोष व्यक्तियों की सुरक्षा करना है। पाँचवाँ उद्देश्य अपराधी को उसके कृत्य के परिणाम का बोध कराना है। मनु का विश्वास था कि दण्ड के भय से व्यक्ति अनुचित कार्यों से दूर रहता है और समाज में अनुशासन बना रहता है। इस प्रकार दण्ड का उद्देश्य प्रतिशोध नहीं, बल्कि सामाजिक कल्याण है।

अपराध और दण्ड का सम्बन्ध

मनुस्मृति में दण्ड की व्यवस्था अपराध की प्रकृति और गंभीरता के अनुसार निर्धारित की गई है। छोटे अपराधों के लिए हल्के दण्ड तथा गंभीर अपराधों के लिए कठोर दण्ड का विधान किया गया है। मनु का मत है कि दण्ड अपराध के अनुरूप होना चाहिए। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि राजा को दण्ड देते समय अपराधी की आयु, स्थिति, उद्देश्य तथा अपराध के परिणाम का विचार करना चाहिए।

इससे यह स्पष्ट होता है कि मनुस्मृति में दण्ड निर्धारण के लिए न्यायिक विवेक को भी महत्त्व दिया गया है।

दण्ड के प्रकार

मनुस्मृति में विभिन्न प्रकार के दण्डों का उल्लेख मिलता है। इनमें मुख्य रूप से अर्थदण्ड, शारीरिक दण्ड, कारावास, निर्वासन और मृत्युदण्ड का उल्लेख किया गया है।

अर्थदण्ड

अर्थदण्ड का अर्थ है धनराशि के रूप में दण्ड देना। चोरी, अनुबन्ध के उल्लंघन, व्यापारिक विवादों तथा कुछ सामाजिक अपराधों के लिए अर्थदण्ड का विधान था। यह प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था का सबसे प्रचलित दण्ड था।

शारीरिक दण्ड

गंभीर अपराधों के लिए शारीरिक दण्ड दिया जाता था। इसका उद्देश्य अपराधी और समाज दोनों को अपराध के परिणामों के प्रति सचेत करना था।

निर्वासन

राज्यविरोधी कार्य, गंभीर सामाजिक अपराध अथवा समाज की शान्ति भंग करने वाले व्यक्तियों को राज्य से निष्कासित करने की व्यवस्था भी मनुस्मृति में मिलती है।

मृत्युदण्ड

हत्या, राजद्रोह तथा कुछ अत्यन्त गंभीर अपराधों के लिए मृत्युदण्ड का विधान किया गया था। मनु के अनुसार जघन्य अपराधों के प्रति कठोरता समाज की रक्षा के लिए आवश्यक है।

राजा और दण्ड व्यवस्था

मनुस्मृति में राजा को दण्ड का अधिष्ठाता माना गया है। राजा को दण्ड का प्रयोग करते समय धर्म, न्याय और निष्पक्षता का पालन करना चाहिए। यदि राजा अपराधियों को दण्ड नहीं देता, तो वह स्वयं दोष का भागी बनता है।

मनु कहते हैं- "धर्मो रक्षति रक्षितः।"(मनुस्मृति, 8.15)

अर्थात् धर्म की रक्षा करने वाला स्वयं सुरक्षित रहता है। राजा का कर्तव्य है कि वह दण्ड के माध्यम से धर्म की रक्षा करे।

दण्ड और सामाजिक व्यवस्था

मनुस्मृति में दण्ड को सामाजिक व्यवस्था का आधार माना गया है। दण्ड के भय से व्यक्ति अपने कर्तव्यों का पालन करता है। मातापिता, गुरु, व्यापारी, अधिकारी और सामान्य नागरिक सभी दण्ड की व्यवस्था के कारण अनुशासित रहते हैं। यदि दण्ड का अभाव हो जाए, तो समाज में अराजकता फैल जाती है।

मनु ने स्पष्ट किया है कि दण्ड का उद्देश्य केवल अपराधियों को दण्डित करना नहीं, बल्कि समस्त समाज को धर्ममार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करना है।

दण्ड और धर्म का सम्बन्ध

मनुस्मृति में दण्ड और धर्म का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनु के अनुसार दण्ड धर्म की रक्षा का उपकरण है। धर्म के बिना दण्ड अत्याचार बन सकता है और दण्ड के बिना धर्म निर्बल हो जाता है। इसलिए उन्होंने दोनों को परस्पर पूरक माना है।

प्राचीन भारतीय राज्य व्यवस्था में दण्ड का प्रयोग धर्म की स्थापना और लोककल्याण की भावना से किया जाता था। यही कारण है कि मनु ने दण्ड को "धर्मस्वरूप" कहा है।

दण्ड व्यवस्था की विशेषताएँ

मनुस्मृति की दण्ड व्यवस्था की अनेक विशेषताएँ हैं। यह धर्म पर आधारित है। इसमें समाज की सुरक्षा और लोककल्याण की भावना निहित है। अपराध के अनुसार दण्ड निर्धारित करने का सिद्धान्त इसमें स्वीकार किया गया है। दण्ड का उद्देश्य अपराधी का विनाश नहीं, बल्कि सामाजिक व्यवस्था की रक्षा है। राजा को भी धर्म के अधीन रखकर दण्ड के न्यायपूर्ण प्रयोग पर बल दिया गया है।

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन

आधुनिक युग में मानवाधिकार, समानता और लोकतान्त्रिक मूल्यों के विकास के कारण मनुस्मृति की कुछ दण्ड व्यवस्थाएँ कठोर और असमान प्रतीत होती हैं। विशेषतः वर्ण और सामाजिक स्थिति के आधार पर दण्ड की भिन्नता आधुनिक न्याय सिद्धान्तों से मेल नहीं खाती। तथापि दण्ड की आवश्यकता, विधि का शासन, अपराधनिवारण, सामाजिक सुरक्षा और न्यायपूर्ण शासन के सिद्धान्त आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं जितने प्राचीन काल में थे। वर्तमान दण्डशास्त्र भी इस तथ्य को स्वीकार करता है कि कानून और दण्ड के बिना समाज में शान्ति और व्यवस्था की स्थापना सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से मनुस्मृति की दण्ड व्यवस्था भारतीय विधिचिन्तन की एक महत्त्वपूर्ण

ऐतिहासिक उपलब्धि है। मनुस्मृति की दण्ड व्यवस्था प्राचीन भारतीय राजनीतिक और विधिक चिन्तन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। मनु ने दण्ड को धर्म, न्याय और सामाजिक व्यवस्था का आधार माना है। उनके अनुसार दण्ड के अभाव में समाज में अराजकता और अन्याय का प्रसार हो जाता है। इसलिए राजा का सर्वोपरि कर्तव्य है कि वह निष्पक्ष, धर्मसम्मत और न्यायपूर्ण दण्ड व्यवस्था स्थापित करे। मनुस्मृति की दण्ड व्यवस्था का मूल उद्देश्य लोककल्याण, धर्म की रक्षा, अपराधनिवारण तथा सामाजिक संतुलन की स्थापना है। यद्यपि इसकी कुछ व्यवस्थाएँ आधुनिक दृष्टि से विवादास्पद प्रतीत होती हैं, तथापि दण्ड की अनिवार्यता, न्याय की स्थापना तथा विधि के शासन के सम्बन्ध में मनु के विचार आज भी भारतीय विधिदर्शन के अध्ययन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्रासंगिक हैं।

अभ्यास प्रश्न

1. मनुस्मृति किस प्रकार का ग्रंथ है?
   क. वेद ख. उपनिषद ग. धर्मशास्त्र घ. पुराण
2. मनुस्मृति के रचयिता किसे माना जाता है?
   क. व्यास ख. मनु ग. वाल्मीकि घ. याज्ञवल्क्य
3. मनुस्मृति में समाज को कितने वर्णों में विभाजित किया गया है?
   क. 2 ख. 3 ग. 4 घ. 5
4. मनुस्मृति में जीवन को कितने आश्रमों में विभाजित किया गया है?
   क. 4 ख. 3 ग. 2 घ. 5

3.4 सारांश

इस इकाई में मनुस्मृति के आधार पर सामाजिक व्यवस्था का विस्तृत अध्ययन किया गया। मनुस्मृति भारतीय धर्मशास्त्र का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है, जिसमें समाज को सुव्यवस्थित और संतुलित बनाने के लिए विभिन्न नियमों और सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है। इसमें धर्म को सामाजिक व्यवस्था का आधार माना गया है, जो व्यक्ति के आचरण और कर्तव्यों को निर्धारित करता है।अमनुस्मृति में समाज को चार वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में विभाजित किया गया है। यह विभाजन कार्य के आधार पर है, जिससे समाज में संतुलन और समन्वय बना रहता है। इसके साथ ही मानव जीवन को चार आश्रमों ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास में विभाजित किया गया है, जिससे व्यक्ति का सर्वांगीण विकास संभव होता है। इस इकाई में स्त्री की स्थिति को भी महत्वपूर्ण बताया गया है। मनुस्मृति में स्त्री के सम्मान को आवश्यक माना गया है, साथ ही उसके लिए कुछ मर्यादाएँ भी निर्धारित की गई हैं। सामाजिक जीवन को व्यवस्थित रखने के लिए आचारविचार और व्यवहार संबंधी नियमों का भी विस्तृत वर्णन किया गया है, जिनमें "आचारः परमो धर्मः" का सिद्धांत विशेष रूप से महत्वपूर्ण है।

दंड व्यवस्था को सामाजिक अनुशासन बनाए रखने का प्रमुख साधन माना गया है। मनुस्मृति के अनुसार दंड ही समाज की रक्षा करता है और लोगों को अपने कर्तव्यों का पालन करने के लिए प्रेरित करता है। अंततः यह स्पष्ट होता है कि मनुस्मृति की सामाजिक व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य समाज में संतुलन, अनुशासन और समरसता स्थापित करना है। यह व्यवस्था व्यक्ति और समाज दोनों के विकास में सहायक है तथा एक संगठित और स्थिर समाज की स्थापना का मार्ग प्रशस्त करती है।

3.4 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. ग 2. ख 3. ग 4. क

3.5 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

मनुस्मृति

निर्णयसिन्धु

शुद्धिमयुख

3.6 निबन्धात्मक प्रश्न

1. मनुस्मृति के अनुसार आश्रम व्यवस्था क्या है? इसके चार आश्रमों के नाम लिखिए।

2. मनुस्मृति के अनुसार सामाजिक व्यवस्था की संकल्पना क्या है? वर्णन कीजिए

इकाई 4 : मनु का न्याय , कानून एवं दण्ड व्यवस्था

इकाई संरचना

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 सामान्य परिचय
4.3.1 राज्य की उत्पत्ति संबंधी विचार
4.3.2 राजा संबंधी विचार
4.3.3 शासन संबंधी विचार
4.3.4 प्रादेशिक शासन संबंधी विचार
4.3.5 विधायिका संबंधी विचार
4.3.6 कानून, न्याय एवं दण्ड संबंधी विचार
4.3.7 कर व्यवस्था संबंधी विचार
4.3.8 विदेश नीति: मण्डल सिद्धान्त, षाड़गुण्य नीति
4.4 मनु एवं कौटिल्य: एक तुलना
4.5 मूल्यांकन
4.6 सारांश
4.7 शब्दावली
4.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची
4.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
4.11 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

इससे पहले की इकाई में हमने प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन के बारे में अध्ययन किया है |जिसमें यह यह स्पष्ट होता है कि भारतीय चिन्तन का इतिहास अत्याधिक प्राचीन है। यह वैदिक काल से प्रारम्भ होकर भारत में इस्लामिक शासन तक माना जाता है। यद्यपि भारतीय चिन्तन के विषय में पाश्चात्य समीक्षको की दृष्टि सकारात्मक नहीं रही है। इसके बावजूद भारतीय चिन्तन न केवल यर्थाथवादी हैं वरन यह बहुत हद तक आधुनिक भी है।

इस इकाई में हम मनु के राज्य की उत्पत्ति संबंधी विचार तथा राजा और उसके शासन के सम्बन्ध में जिसमें प्रादेशिक शासन का अध्ययन करेंगे |यही नहीं इसके आगे हम मनु के विधायिका संबंधी

विचार,कानून, न्याय एवं दण्ड और कर व्यवस्था के सम्बन्ध में अध्ययन करते हुए विदेश नीतिका भी अध्ययन करेंगे |अंततः हम मनु एवं कौटिल्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करेंगे |

4.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम मनु के -

1.राज्य की उत्पत्ति संबंधी विचार का अध्ययन कर सकेंगे |

3. राजा और उसके शासन के सम्बन्ध में जिसमें प्रादेशिक शासन का अध्ययन करेंगे |

3.विधायिका संबंधी विचार,कानून, न्याय एवं दण्ड और कर व्यवस्था के सम्बन्ध में अध्ययन

4.विदेश नीति का भी अध्ययन करेंगे |

5.मनु एवं कौटिल्य का तुलनात्मक अध्ययन करेंगे |

4.3 सामान्य परिचय

प्राचीन भारतीय चिन्तन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण चिन्तन मनु का माना जाता है। उन्होंने अपनी रचना ''मनुस्मृति'' में राजनीतिक चिन्तन प्रस्तुत किया है। विभिन्न विद्वान इस बात को स्वीकार करते हैं कि धर्म विषयक समस्त ज्ञान मनु के द्वारा प्रारम्भ किया गया। ''मनु स्मृति'' को हिंदू समाज की व्यवस्था की आधारशिला माना जाता है। प्राचीन धर्मशास्त्रों में मनु स्मृति का सर्वाधिक महत्व है।

''मनु स्मृति'' के रचना काल के सन्दर्भ में विद्वानों में मतैव्य नहीं है। महाभारत में भी कई स्थानों पर मनु का उल्लेख आता है। डा0 वी0सी0 सरकार ''मनुस्मृति'' को ईसा से 150 वर्ष पूर्व की रचना मानते हैं। मैक्स मूलर इसे चौथी शताब्दी के बाद की रचना मानते हैं। डा0 हण्टर इसे ईसा से 600 वर्ष पूर्व से अधिक प्राचीन नहीं मानते हैं। कुछ विद्वान इसे रामायण एवं महाभारत काल की रचना मानते हैं। फ्रांसीसी विद्वान रेनेगिनो मनु शब्द को ऐतिहासिकता से जोड़ने के पक्षधर नहीं हैं। उनका मानना है कि मनु की उत्पत्ति मूलधातु मन से हुई है जिसका अर्थ है चिन्तन, मनन और सार्वभौम बुद्धि तथा विचार। मन धातु से ही मनु तथा मानव की उत्पत्ति हुई है। रेनेगिनो का मत है कि जिस प्रकार वेद की रचना का काल निर्धारित नहीं है उसी प्रकार स्मृति की उत्पत्ति के संबंध में प्रयास भी निरर्थक है। स्मृतिया एक लम्बे काल तथा परम्परा का प्रतिनिधित्व होता है। कुछ विद्वानों का मत है कि मनु स्मृति का ज्ञान मनु से नारद, नारद से मार्कण्डेय, मार्कण्डेय से समुति भार्गव, समुति भार्गव से भृगु ऋषि को प्राप्त हुआ। भृगु ऋषि के द्वारा ही मनुस्मृति का संकलन हुआ।

इसके रचना काल के संदर्भ में मतभेद अवश्य है परन्तु एक विधि ग्रन्थ, नियामक ग्रन्थ के रूप में इसकी मान्यता पर सर्वसम्मति है। भारत में गौतम एवं वृहस्पति ने इसको सर्वश्रेष्ठ बताया। जर्मन विद्वान ने तो एक स्थान पर पर लिखा है कि ''मनु स्मृति बाइबिल की अपेक्षा कहीं अधिक अनुपम उत्कृष्ट और बौद्धिक ग्रन्थ है।'' मैकेन्जी व्राउन के शब्दों में '' यह हिन्दू कानून का सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ है।''

''मनु स्मृति'' की विषय वस्तुः- मनु स्मृति में कुल 13 अध्याय है। ''मनु स्मृति'' का अध्यायवार विवरण इस प्रकार है-

1.प्रथम अध्यायः- जगत की उत्पति, भू लोक, अंतरिक्ष ज्ञान, नदी, समुद्र उत्पति, चार वर्ग उत्पति, स्त्री पुरूष उत्पति आदि। कुल 111 से 119 श्लोक तथा संक्षिप्त स्मृति सूची पायी जाती है।

2.द्वितीय अध्यायः- धर्मोपदेश, श्रृति, स्मृति में कहे धर्म की प्रशंसा, सदाचार, यज्ञ, संस्कार , माता-पिता, चारों आश्रम का वर्णन है।

3.तृतीय अध्यायः- ब्रहाचर्य की महिमा, गृहस्थ कर्तव्य, यज्ञ की महिमा आदि का वर्णन है।

4.चर्तुथ अध्यायः- मनुष्य के नित्यकर्मों का वर्णन है, करने तथा न करने योग्य कार्यों का वर्णन।

5.पंचम अध्यायः- स्त्री संबंधी व्याख्या, अन्य शिक्षाओं का उल्लेख है।

6.षष्टम अध्यायः- वानप्रस्थ की अवस्था, वानप्रस्थ की महिमा, सन्यास आश्रम आदि का वर्णन।

7.सप्तम अध्यायः- राज व्यवस्था, प्रशासन के नियम, राज्य की उत्पति, दण्ड की उत्पति, कर तथा सेना संबंधी नियमों का उल्लेख है।

8.अष्टम अध्यायः- दण्ड के नियम, दण्ड से पूर्व छानबीन, अपराधों के लिये दिये जाने वाले दण्डों का विवरण है।

9.नवम्, दशम तथा ग्यारहवें अध्यायः- वैश्य, शूद्रों में धर्म का अनुष्ठान, प्रकार वर्ण संस्कारों की उत्पति आदि का वर्णन है।

10.बारहवें अध्यायः- मोक्ष प्राप्ति के साधन, विभिन्न कार्यों के गुण-दोष पाखण्ड, गुण-दोष आदि का वर्णन है।

4.3.1 राज्य की उत्पति विचार

''मनु स्मृति'' के सातवें अध्याय में राज्य संबंधी विचार प्रस्तुत किये गये हैं। इसी में राज्य की उत्पति एवं साव्यवी सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं। मनु ने राज्य की उत्पति ईश्वर के द्वारा मानी है। इसमें कई जगह सामाजिक अनुंबध सिद्धान्त का भी आभास दिखता है।

मनु स्पष्ट करता है कि राज्य के पूर्व मानव की स्थिति, कष्टपूर्ण, असहनीय थी। इस कष्ट के निवारण के लिये ईश्वर इन्द्र, वायु, सूर्य, अग्नि, वरूण, चन्द्रमा, कुबेर, यम आदि ने सारभूत अंश से राजा का निर्माण किया । इन आठ उत्कृष्ट तत्वों से मिलकर राजा ने न केवल मानव दुखों को दूर किया वरन् उनके कल्याण को सुनिश्चित किया। इन आठ तत्वों से बना राजा विश्व रक्षक, पोषक, समृद्धिकारक होता है। निश्चित रूप से मनु राज्य की उत्पति के दैवीय सिद्धान्त का पोषक है परन्तु उसके इस सिद्धान्त में सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की झलक भी दिखती है। राजा सर्वोच्च है, वह ही सभी के कल्याण का माध्यम है। ''मनुस्मृति'' में राजा का यह दायित्व है कि वह इस भूमि पर सभी दिशाओं में शंति और व्यवस्था कायम रखे।

मनु का दैवीय उत्पति का सिद्धान्त तथा पाश्चात्य दैवीय उत्पति के सिद्धान्त में अंतरः- प्रायः मनु के दैवीय उत्पति के सिद्धान्त की तुलना पाश्चात्य दैवीय उत्पति के सिद्धान्त से की जाती है। इन दोनों में काफी अंतर दिखता है। पाश्चात्य विद्वानों ने दैवीय उत्पति के सिद्धान्त के द्वारा राजा को निरंकुश सत्ता प्रदान की है।

मनु राजा को निरंकुश सत्ता का पक्षधर नहीं है। मनु ने राजा को धर्म, नैतिकता के अधीन रखा है। उसने इस बात पर बल दिया है कि राजा सदा प्रजा का पालन करे तथा उसकी रक्षा करे। राजा को देव का अंश बताया गया परन्तु इसमें उसके गुणों पर योग्यता पर बल दिया गया है न कि उसके

अधिकार, शक्तियों एवं मनमानी पर है। यहां पर मोरबानी का कथन प्रासंगिक लगता है कि - ''राजा को समझना चाहिए कि वह धर्म के नियमों के अधीन है। कोई भी राजा धर्म के विरूद्ध व्यवहार नहीं कर सकता है। धर्म राजाओं एवं मनुष्यों पर एक समान ही शासन करता है। इसके अतिरिक्त राजा राजनीतिक प्रभु जनता के भी अधीन है। वह अपनी शक्तियों के प्रयोग में जनता की आज्ञा पालन की क्षमता से सीमित है।

सालेटोर के शब्दों में-'' मनु ने निःसंदेह यह कहा है कि जनता राजा को गद्दी से उतार सकती है और उसे मार भी सकती है। यदि एवं अपनी मूर्खता से जनता को सताता है।''

मनु ने स्पष्ट किया है कि राजा सभी नियमों एवं कानूनों से बंधा है। वह विशिष्ट है परन्तु साधारण मनुष्यों की तरह दण्ड भोगता है। उसका कहना है कि यदि किसी अपराध में दण्ड एक पण है तो राजा के भंग करने पर उसे सौ पण दण्ड दिया जाना चाहिए क्योंकि राजा अधिक विद्वान एवं योग्य है। इसके अतिरिक्त राजा का प्रशिक्षण, दिनचर्या उसे निरंकुशता की ओर नहीं जाने देते हैं।

इस प्रकार से स्पष्ट हो जाता है कि दैवीय उत्पति सिद्धान्त अपनाये जाने के बावजूद भी मनु का राजा निरंकुश, स्वेच्छाचारी तथा अत्याचारी नहीं है। उसके ऊपर कानून, नैतिकता एवं मर्यादा का नियन्त्रण है।

4.3.2 राजा संबंधी विचार

मनु ने राजा को अनेक राजाओं के सारभूत अंश से निर्मित बताया है। राजा ईश्वर से उत्पन्न है अतः उसका अपमान नहीं हो सकता है। राजा से द्वेष करने का अर्थ है कि स्वयं को विनाश की ओर ले जाना। ''मनु स्मृति'' में तो यहां तक लिखा है कि राजा में अनेक देवता प्रवेश करते हैं। अतः वह स्वयं एक देवता बन जाता है। ''मनु स्मृति'' के अनुसार-''ऐसा राजा इन्द्र अथवा विद्युत के समान एश्वर्यकर्त्ता, पवन के समान सबके प्राणावत, प्रिय तथा हृदय की बात जानने वाला, यम के समान पक्षपात रहित न्यायधीश, सूर्य के समान न्याय, धर्म तथा विद्या का प्रकाश, अग्नि के समान दुष्टों को भस्म करने वाला, वरूण के समान दुष्टों को अनेक प्रकार से बांधने वाला, चन्द्र के समान श्रेष्ठ पुरूषों को आनन्द देने वाला तथा कुबेर के समान कोष भरने वाला होना चाहिए।''

मनु ने राजा के गुणों एवं कर्तव्यों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। वह कहता है कि राजा को प्रजा तथा ब्राह्मणों के प्रति विशेष रूप से संवेदनशील रहना चाहिए। राजा को अपने इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना चाहिए। उसे काम, क्रोध आदि से मुक्त रहना चाहिए। ''मनु स्मृति'' में स्पष्ट किया गया है कि उसे शिकार, जुआ, दिवाशयन, परनिन्दा, परस्त्री प्रेम, मद्यपान, नाच-गाना, चुगलखोरी, ईर्ष्या, परछिद्रान्वेषण, कटुवचन,धन का अपहरण आदि से बचना चाहिए। मनु स्मृति में राजा के लिये मुख्य निर्देश निम्न हैं-

1.वह शस्त्र धन, धान्य, सेना, जल आदि से परिपूर्ण पर्वतीय दुर्ग में हर प्रकार से सुरक्षित निवास करे ताकि वह शत्रुओं से बच सके।

2.राजा स्वजातीय और सर्वगुण सम्पन्न स्त्री से विवाह करे।

3.राजा समय-समय पर यज्ञ का आयोजन करे और ब्राह्मणों को दान करे।

4.प्रजा से कर वसूली ईमानदार एवं योग्य कर्मचारियों के द्वारा किया जाना चाहिए। प्रजा के साथ राजा का संबंध पिता-पुत्र की तरह होना चाहिए।

5.राजा को युद्ध के लिये तैयार रहना चाहिए। युद्ध में मृत्यु से उसे स्वर्ग की प्राप्ति होगी।

6.विभिन्न राजकीय कार्यों के लिये विभिन्न अधिकारियों की नियुक्ति की जाय।

7.राजा को विस्तारवादी नीति को अपनाना चाहिए।

8.अपने सैन्य बल एवं बहादुरी का सदैव प्रदर्शन करना चाहिए।

9.गोपनीय बातों का गोपनीय बनाकर रखना चाहिए। शत्रुओं की योजनाओं को समझने के लिये मजबूत गुप्तचर व्यवस्था रखनी चाहिए।

10.अपने मंत्रियों को सदैव विश्वास में रखना चाहिए।

11.राजा सदैव सर्तक रहे। अविश्वसनीय पर बिल्कुल विश्वास न करे और विश्वसनीय पर पैनी निगाह रखे।

13.राजा को राज्य की रक्षा तथा शत्रु के विनाश के लिये तत्पर रहना चाहिए।

13.राजा को अपने कर्मचारियों, अधिकारियों के आचरण की जांच करते रहना चाहिए। गलत पाने पर उनको पदच्युत कर देना चाहिए।

14.राजा को मृदुभाषी होना चाहिए।

मनु ने राजा की दिनचर्या का भी वर्णन किया है। उसने सम्पूर्ण दिन को तीन भागों में बांटकर प्रत्येक के लिये अलग-अलग कार्य निर्धारित किये हैं। राजा को स्नान एवं ध्यान के बाद ही न्याय का कार्य करना चाहिए। राजकार्यों के संबंध मे अपने मंत्रियों के साथ तथा विदेश मामलों में अपने गुप्तचरों एवं राजदूतों के साथ परामर्श नियमित रूप से करना चाहिए। ’’मनु स्मृति’’ में राजा के गतिशील जीवन की चर्चा की गई है। इसमें राजा को सदैव सजग और सावधान रहने की आशा की जाती है।

युद्ध एवं संकट के समय राजा के कार्यः- मनु स्मृति में युद्ध के समय राजा के कर्तव्यों पर प्रकाश डाला गया है। इसमें स्पष्ट किया गया है कि युद्ध के समय राजा को भयभीत नहीं होना चाहिए और पूरी तैयारी और मनोबल के साथ शत्रु का संहार करना चाहिए। यह राजा का धर्म है कि वह शत्रु का

संहार कर मातृभूमि की रक्षा करें। ''मनु स्मृति'' में स्पष्ट किया गया है कि शांति के समय प्रजा के धान्य का छठा-आठवां भाग प्राप्त करे परन्तु युद्ध के समय वह चौथा भाग भी प्राप्त कर सकता है। आपातकाल में राजा द्वारा अतिरिक्त कर लेना कोई पाप नहीं है।

4.3.3 शासन संबंधी विचार

मनु के अनुसार शासन का मुख्य उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम की प्राप्ति में सहायक होना है। अतः राजा को अपने सहयोगियों के माध्यम से (मंत्रियों) इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। मनु स्मृति में स्पष्ट किया गया है कि राजा को सदैव लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए, जो प्राप्त हो गया है उसे सुरक्षित रखने का प्रयास करना चाहिए। राजकोष को भरने का सदैव प्रयास करना चाहिए। समाज के कमजोर एवं सुपात्र लोगों को दान करना चाहिए। राजा को प्रजा के साथ पुत्रवत वर्ताव करना चाहिए तथा राष्ट्रहित में कठोर भी हो जाना चाहिए। राजा को न्यायी, सिद्धान्तप्रिय तथा मातृभूमि से प्रेम करने वाला होना चाहिए।

राजा को राजकार्य में सहायता देने के लिए मंत्रीयों की व्यवस्था है। ''मनु स्मृति'' में ''मंत्री'' शब्द का प्रयोग नहीं है परन्तु सचिव शब्द का प्रयोग कई बार मिलता है। मनु स्मृति में कहा गया है कि अकेले आदमी से सरल काम भी मुश्किल हो जाता है। अतः शासन के जटिल कार्यों के लिये मंत्री नियुक्त किये जाने चाहिए। वे विद्वान, कर्तव्यपरायण, शास्त्रज्ञाता, कुलीन तथा अनुभवी होने चाहिए।

वह शासन कार्य में एकांत में तथा अलग-अलग तथा आवश्यकतानुसार संयुक्त मत्रंणा करनी चाहिए। मंत्रियों को उनकी योग्यतानुसार कार्य सौंपना चाहिए। यहां पर मनु स्पष्ट करता है -''सूर, दक्ष और कुलीन सदस्य को वित्त विभाग, शुचि आचरण से युक्त व्यक्ति को रत्न एवं खनिज विभाग, सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता मनोवैज्ञानिक, अन्तःकरण से शुद्ध तथा चतुर कुलीन व्यक्ति को संधि विग्रह विभाग का अधिष्ठाता बनाया जाना चाहिए। मंत्रिपरिषद के अमात्य नामक व्यक्ति का दण्ड विभाग, सेना विभाग तथा राजा को राष्ट्र एवं कोष अपने अधीन रखना चाहिए। इनमें से वह ब्राह्मणों को विशेष महत्व देने पर बल देता है। उसका मत है कि -'' इस पृथ्वी पर जो कुछ भी है वह ब्राह्मण ही है। ब्राह्मण ब्रह्मा का ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पुत्र है।'' मनु की मान्यता है कि मत्रंणा अत्यन्त गोपनीय होनी चाहिए। वह इसके लिए मध्याह्न अथवा आधी रात को इसके लिये उपयुक्त मानता है। ''मनु स्मृति'' से यह भी पता चलता है कि उस समय मंत्रीयों का राजा के प्रति उत्तरदायित्व, मत्रंणा की गोपनीयता मिलकर निर्णय लेने की भावना तथा मंत्रीयों में विभागों के बंटवारे की व्यवस्था विकसित हो गई थी। प्रशासनिक कार्यों के संचालन के लिये वह योग्य, अनुभवी तथा ईमानदार कर्मचारी की नियुक्ति का पक्षधर है। भ्रष्ट अधिकारियों पर पैनी निगाह रखते हुए उनके विरूद्ध कठोर कार्यवाही करने चाहिए। कर्मचारियों एवं महत्वपूर्ण पदाधिकारियों पर नजर रखने के लिये गुप्तचर व्यवस्था को प्रभावी बनाया जाना चाहिए। राजदूत के संबंध में मनु ने स्पष्ट किया है कि निर्भीक प्रकृति के, सुवक्ता,देश काल

पहचानने वाले, हृदय एवं मनोभाव को पहचानने वाले, विविध लिपियों के ज्ञाता तथा विश्वासपात्र को राजदूत बनाया जाना चाहिए।

4.3.4 प्रादेशिक प्रशासन संबंधी विचार

मनु ने प्रशसनिक व्यवस्था संबंधी निर्देश अपनी पुस्तक ''मनु स्मृति'' में दिये है। मनु का स्पष्ट मत है कि राजा दो, तीन, पांच और सौ गांवों के बीच अपना राज स्थान स्थापित करें तथा यहां शन्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिये योग्य कर्मचारी नियुक्त करे। ''मनु स्मृति'' में राज्य को क्षेत्रीय आधार पर पुर तथा राष्ट्र को विभाजित किया गया है। पुर या दुर्ग से आशय राजधानी से है जो चारों ओर से सुरक्षित सुविधाओं से पूर्ण तथा स्वस्थ भू-भाग में बसाई जानी चाहिए। शासन को व्यवस्थित रूप से संचालित करने के लिये राष्ट्र को छोटी-बड़ी बस्तियों में विभाजित करना चाहिए। ''मनु स्मृति'' मे स्पष्ट रूप से एक ग्राम, दस ग्राम, सौ ग्राम तथा एक हजार ग्रामों की अलग-अलग संगठनों की व्यवथा है। ग्राम शासन की सबसे छोटी इकाई है इसके अधिकारी को ग्रामिक कहा जाता है। मनु के अनुसार ग्रामिक का मुख्य कार्य शन्ति और व्यवस्था बनाये रखना है। इसको ही राजस्व एकत्र कर 10 ग्रामों के अधिकारी के पास भेजना है। 10 ग्रामों के अधिकारी को दशग्रामपति कहा जाता है। बीस ग्राम के अधिकारी को विशंती, सौ ग्रामों के अधिकारी को शती, तथा एक हजार ग्रामों के पति को सहस्रपति कहा गया है। इन सभी अधिकारियों के कार्यों के निरीक्षण उच्च अधिकारी करता है। प्रत्येक अधिकारी के वेतन का भी उल्लेख मनु स्मृति में मिलता है। ग्रामों के अतिरिक्त नगरों के प्रशासन की भी व्यवस्था की गई है। नगर अधिकारी को स्वार्थ चिन्तक नाम दिया गया है।

4.3.5 विधायिका (परिषद)

मनु ने कार्यपालिका के साथ ही विधायिका अथवा परिषद का उल्लेख किया है। परिषद का अर्थ विधायिका से लिया जाता है। मनु स्मृति में स्पष्ट किया गया है कि परिषद में तीन से दस तक सदस्य होने चाहिए। इन सदस्यों में से तीन वेदों के जानकार होने चाहिए। वेदों की जानकारी के साथ राष्ट्रीय नीतियों को क्रियान्वित करने की क्षमता भी होनी चाहिए। यहां पर मोरवानी का कथन महत्वपूर्ण है- ''परिषद ऐसे विद्वान व्यक्तियों से मिलकर बननी चाहिए जिन्होने वेदों, टीकाओं का अध्ययन किया हो जो अपने तर्कों के संबंध में प्रमाण देने में सक्षम हो।''

मनु स्मृति में कुल, जाति, श्रेणी और जनपद नामक जनता की संघीय संस्था का भी उल्लेख किया। इसमें यह भी बताया गया है कि इन संस्थाओं द्वारा बनाये गये नियमों को वह स्वीकृति प्रदान करे।

4.3.6 कानून-न्याय एवं दण्ड व्यवस्था

मनु स्मृति में सदैव राजा के न्यायपूर्ण आचरण पर बल दिया गया है। न्याय ही दण्ड का आधार है। मनु का यह मानना था कि दण्ड के भय के कारण ही लोग स्थिर रहते है। मनु का कहना है कि राजा का यह कर्तव्य है कि वह देश, काल, अपराध की गुणता आदि पर विचार करके ही अपराधियों को दण्ड देना चाहिए। मनु का मानना है कि राजा दण्ड के भय से ही शासन करता है। यदि राजा

अपराधियों को दण्ड न दे तो बलवान लोग दुर्बलों को वैसे ही पकाने लगेगें जैसे मछलियों को लोहे की छड़ में छेदकर पकाया जाता है। राजा का यह परम कर्तव्य है कि वह राज्य में न्यायोचित दण्ड की व्यवस्था करें। राजा को सदैव तत्पर रहते हुए कुल, जाति, गण और जनपद में जो भी अपने धर्म से विचलित हो तो राजा उन्हें यथोचित दण्ड की व्यवस्था करता है। मनु ने दण्ड के चार प्रकार बताये है-

1. घिग्दण्ड
2. वाग्दण्ड
3. धनदण्ड
4. वधदण्ड

मनु ने दण्ड की महत्ता पर बहुत अधिक बल दिया है। उसकी मान्यता है कि दण्ड के अभाव में राज्य एक क्षण भी नहीं चल सकता है। मनु दण्ड को सामाजिक जीवन का आधार मानता है। वह दण्ड के महत्व को निम्न तर्कों के द्वारा सिद्ध करता है-

1.दण्ड सभी मनुष्यों का रक्षक होता है। यही कारण है कि सभी उसका पालन करते है।

2.यह सर्वोच्च एवं सर्वशक्तिमान होता है।

3.दण्ड की सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था की रक्षा एवं देखभाल करता है।

4.दण्ड राज्य की संपति की रक्षा तथा वृद्धि के लिये अनिवार्य है।

दण्ड के संबंध में मनु स्पष्ट करता है कि यह सर्वोच्च एवं सर्वशक्तिमान तत्व है। अतः दण्ड देने वाला व्यक्ति राज्य में सर्वोच्च होता है। प्राचीन भारतीय साहित्य में व्यक्त दण्ड संबंधी विचार को ही सम्प्रभुता का आधार कहा जाता है।

कानून अथवा विधि संबंधी विचार

मनु ने कानून निर्माणके लिये परिषद अथवा विधायिका का उल्लेख किया है। परिषद के सन्दर्भ में उसका स्पष्ट मत है कि इसका निर्धारण बौद्धिक क्षमता से होना चाहिए न कि संख्या के आधार पर। उसने स्पष्ट किया है कि इसके दस सदस्यों में तीन वेद के ज्ञाता, एक निर्वक्ता, एक भीमांसाकर, एक निसक्त, एक धर्म शास्त्र का कहने वाला तथा तीन व्यक्ति मुख्य व्यवसायों के होने चाहिए। मनु यह भी स्पष्ट करता है कि यदि ऐसे दस व्यक्ति न मिले तो योग्य वेदों के जानकार तीन व्यक्ति ही काफी है।

न्याय संबंधी विचार

मनु स्मृति में न्याय व्यवस्था का विस्तृत विवेचन किया जाता है। मनु के अनुसार सामान्यतः दो प्रकार के विवाद होते हैं - हिंसा के कारण उत्पन्न विवाद तथा धन संबंधी विवाद। मनु का मानना है कि राजा को स्वंय विवादों का समाधान करना चाहिए। यदि वह स्वंय न कर पाये तो योग्य ब्राह्मण

को नियुक्त किया जाना चाहिए। राजा द्वारा नियुक्त ब्राह्मण भी ऐसे तीन अन्य व्यक्तियों के साथ न्यायालय में न्याय करना चाहिए। मनु अपेक्षा करता है कि सभी विवादों का निर्णय पूर्ण निष्पक्षता से करना चाहिए। यदि सत्य असत्य से पराजित होती है तो उसके सदस्य भी पाप से नष्ट हो जाते है। मनु की स्पष्ट मान्यता थी कि न्यायधीश वेदों का जानकार ब्राह्मण व्यक्ति को ही होना चाहिए। शूद्रों को यह महत्वपूर्ण दायित्व नहीं देना चाहिए। न्यायधीशों को शारीरिक भाषा, मुख संकेत तथा मनोविज्ञान समझने की क्षमता रखनी चाहिए। जहां पर निर्णय हो उस स्थान का सभा कहा जाता है। सभा के न्यायधीश को सत्य की रक्षा के लिये दृढ़ प्रतिज्ञ होना चाहिए। सत्यता की जांच करने के लिये लिखित युक्ति तथा साक्षी आदि का परीक्षण करना चाहिए। मनु ने प्रमाणों को भी दो भागों में बांटा है-

1. मानुष प्रमाण
2. दिव्य प्रमाण

मानुष प्रमाणः- मनु ने मानुष प्रमाण को तीन भागों में बांटा है। ये मुख्य रूप से लिखित, युक्ति तथा साक्षी होते है। मनु आगे स्पष्ट करते है कि लिखित प्रमाणों को सर्वाधिक महत्व होता है। इसमें भी यह देखना चाहिए कि बलपूर्वक तो कोई लिखित प्रमाण तैयार नहीं कराया गया है। मनु की स्पष्ट मान्यता थी कि झूठ बोलने वाले, सेवक, शत्रु, सन्यासी, कोढ़ी के ऊपर विश्वास नहीं करना चाहिए। साक्ष्य से पूर्व शपथ का विधान रखना चाहिए। मिथ्या साक्ष्य देने वालों को कठोर दण्ड देना चाहिए। स्त्री के लिये स्त्री साक्षी को स्वीकार करना चाहिए। गवाह के रूप में ब्राह्मण गवाह को विशेष महत्व देना चाहिए। युक्ति प्रमाण के संबंध में मनु कहता है कि यदि किसी व्यक्ति की किसी चीज को कोई 10 वर्ष से अधिक समय से भोग कर रहा है तो वह वस्तु उसी की हो जायेगी। इस संबंध में यह जरूर कहता है कि संबंधित मामला बालक तथा पागल का नहीं होना चाहिए।

दिव्य प्रमाणः- दिव्य प्रमाण में शपथ लेने, जल में डूबना, जलती अग्नि को ग्रहण करना आदि सम्मिलित किये गये है। यह प्रमाण तभी प्रासंगिक होते है जब मानुष प्रमाण विफल हो जाते है। मनु में न्यायिक पुनरावलोकन के तत्व भी मिलते है। वह यह स्पष्ट करते है कि यदि राजा को लगे कि न्याय गलत हो गया है तो वह विवाद का पुनः अवलोकन कर सकता है।

4.3.7 कर व्यवस्था संबंधी विचार

करारोपण के संबंध में भी मनुस्मृति में व्यापक व्यवस्था की गई है। मनु भी प्रजा के साथ पुत्रवत संबंध रखने का हिमायती था। उसकी मान्यता थी कि प्रजा से थोड़ा-3 कर ही लेना चाहिए। वह स्पष्ट करता है कि कर न लेने से राजकोष खाली होता है और राज्य कमजोर होता है वही अत्याधिक, दमनकारी कर नीति से प्रजा की जड़ तथा विश्वास घटता है। कर का निर्धारण सदैव न्यायपूर्ण होना चाहिए। वह कहता है कि कर लगाने का उद्देश्य विलासिता नहीं वरन् जनकल्याण होना चाहिए।

मनु स्मृति में कर की मात्रा का भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है। मनु के अनुसार पशु एवं स्वर्ण का 50 वां भाग, धान्य का छठां भाग, आठवा और बारहवां भाग लेना चाहिए। उसकी मान्यता थी कि अत्याधिक वृद्ध, लंगड़े तथा अंधों से कर नहीं लेना चाहिए। वह स्पष्ट करता है कि कारीगरों, श्रमिकों, बोझा ढोने वालों से एक महीने में एक दिन का काम लेना चाहिए। प्रजा से कर के रूप में ली जाने वाली सामग्री को उसने बलि कहा। व्यापारियों से लिया जाने वाला कर शुल्क कहलाया। किसी व्यक्ति से लिया गया आर्थिक दण्ड अथवा जुर्माना दण्ड कहलाया। उसने इसके अतिरिक्त संतरण कर, पशुकर, आयकर का भी उल्लेख किया है।

4.3.8 विदेश नीति संबंधी विचार

मनु ने विदेश नीति संबंधी दो प्रमुख सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। ये प्रमुख सिद्धान्त निम्न है-

1.मण्डल सिद्धान्तः- मनु के अनुसार राजा को महत्वाकांक्षी होना चाहिए। उसे सदैव अपनी सीमाओं के विस्तार के संबंध में सोचना चाहिए। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये राजा को सदैव मण्डल सिद्धान्त के अनुसार आचरण करना चाहिए। मनु के मण्डल सिद्धान्त का केन्द्र बिन्दु ''विजीगीषु राजा'' होता है।

मनु ने राज्य मण्डल की चार मूल प्रकृतियां बतायी है। जो राजा विजिगीषु राजा की सीमा के पास रहता हो, विजिगीषु तथा उसके विरोधियों में संधि होने पर अनुग्रह करने में तथा विरोध होने पर दण्डित करने में समर्थ हो वह राजा मध्यम है। जो विजिगीषु तथा मध्यम राजाओं के मध्य एकमत होने पर अनुग्रह करने तथा विरोध करने पर निग्रह करने में समर्थ हो तो वह राजा उदासीन है। शत्रु राजा तीन प्रकार के होते है- सहज शत्रु, कृत्रिम शत्रु , राज्य की भूमि के पार्श्ववर्ती शत्रु।

मनु स्पष्ट करता है कि विजिगीषु राजा का चाहिए कि वह शत्रु राजाओं से अलग-अलग या मिलकर साम, दाम, दण्ड, भेद से उनको अपने वश में करे। राजा को सदैव यह प्रयास करना चाहिए कि वह शत्रुओं की कमियों को पता कर अपनी तैयारी करे। साथ ही वह सम्पूर्ण तैयारी को गोपनीय बनाकर रखने पर बल देता है।

3.षाड़गुण्य नीतिः- मनु की यह मान्यता है कि राजा को छः नीतियों का पालन करते हुए न केवल अपने राज्य की रक्षा करनी चाहिए वरन् सीमाओं का विस्तार भी करना चाहिएं वह साम, दाम, दण्ड, भेद के द्वारा राष्ट्रहित में वृद्धि पर बल देता है। इसके लिये उसे निम्न छः नीतियों को अपनाना चाहिए-

1. संधि
3. विग्रह
3. यान
4. आसन
5. द्वैधीभाव

6. सश्रंय

इन छः नीतियों का पालन मौके, परिस्थितियों के अनुसार करना चाहिए। राजा को ऐसे सभी उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए जिससे शत्रु मध्यम तथा उदासीन राजाओं की संख्या न बढ़ सके। इनकी संख्या बढ़ने से मित्र के शत्रु होने तथा पराधीन होने की संभावना बढ़ जाती है।

मनु की मान्यता है कि शंतिकाल में राजा को राजदूत के माध्यम से संबंध संचालन एवं मित्रता को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। राजदूत के ऊपर ही दो राज्यों के बीच अच्छे संबंध बनाने की जिम्मेदारी होती है। अतः राजदूत की नियुक्ति में योग्यता, शास्त्रों का ज्ञान, वाकपटुता तथा देश प्रेम जैसे गुणों पर ध्यान देना चाहिए। मनु के शब्दों में - ''राजा को साम, दाम, दण्ड, भेद का नीति का प्रयोग करके अपने राज्य का विस्तार करना चाहिए। इस कार्य के लिये युद्ध को अंतिम विकल्प के रूप में प्रयोग में लाना चाहिए।

मनु का षाड़गुण्य नीति का प्रावधान आपातकाल के लिये किया गया है। सामान्य काल में राजा से अपेक्षा है कि वह कूटनीति के द्वारा हित संवर्धन करे। मनु ने यह भी स्पष्ट किया है कि विजेता राजा द्वारा पराजित राजा के साथ मानवीय व्यवहार करना चाहिए। विजेता राजा के द्वारा पराजित लोगों के रीति-रिवाज, मर्यादाओं, परम्पराओं का सम्मान किया जाना चाहिए। किसी योग्य व्यक्ति को वहां का राजा नियुक्त कर देना चाहिए। उससे संधि कर उसको मित्र बना लेना चाहिए।

4.4 मनु और कौटिल्य के बीच तुलना

मनु और कौटिल्य प्राचीन भारत के प्रमुख राजनीतिक विचारक थे। उनके विचारों में अनेक बिन्दुओं पर समानता तथा अनेक बिन्दुओं पर असमानता दिखायी पड़ती है। दोनों ही विद्वान प्राचीन भारतीय परम्पराओं रीतियों एवं वर्णाश्रम व्यवस्था को स्वीकार करते हैं। दोनों ही ब्राहमणों को ऊंचा स्थान एवं कम सजा का प्रावधान की व्यवस्था करते है। कौटिल्य सृष्टि के सृजन के सम्बन्ध में स्पष्ट मत नहीं रखता परन्तु मनु का मत है कि ब्राहमणों का जन्म ब्रहमा के मुख से, क्षत्रियों की उत्पति उनकी भुजाओं से, वैश्यों की उत्पति उनके पेट से हुई है। दोनों मानव जीवन का मुख्य उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष मानते है। दोनों ही दण्ड नीति को स्वीकार करते है। मनु के अनुसार दण्ड ही राजा है। राज्य की उत्पति के संबंध में दोनों के विचार समान है। मनु दैवीय उत्पति के सिद्धान्त को तो मानता है परन्तु उसमें समझौते की झलक मिलती है। कौटिल्य भी उत्पति के संबंध में समझौतावादी सिद्धान्त स्वीकार करता है। दोनों ही सावयवी सिद्धान्त (Organic Theory), को स्वीकार करते हुए राज्य रूपी शरीर के सात अंश बताये है। इनमें स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र प्रमुख हैं। दोनों ही राजतन्त्र को श्रेष्ठ शासन माना है। वे राज्य को सर्व सत्ताधारी बताते है। दोनों की राज्य का समान लक्ष्य मानते हैं। दोनों ने प्रशासन में मंत्रियों की भूमिका को स्वीकार किया है। मंत्रियों की योग्यता के संबंध में दोनों के विचार समान है। कौटिल्य ने राजनीतिक व्यवस्था पर अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र में व्यापक व्याख्या की परन्तु मनु ने इतनी व्यापक व्याख्या नहीं की। दोनों ने दण्ड व्यवस्था

में ब्राह्मणों को कम दण्ड देने की वकालत की है। कर व्यवस्था पर दोनों के विचार समान है। वे कर जन कल्याण के लिये लगाने पर बल देते थे। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों अथवा विदेश नीति के संचालन में दोनों ही षाड़गुण्य नीति तथा मण्डल सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

4.5 मूल्यांकन

मनु को प्रथम मानव माना जाता है। उनका ग्रन्थ ''मनुस्मृति'' हिन्दू धर्मशास्त्र की सर्वाधिक प्राचीन रचना मानी जाती है। उन्होंने राज्य, शासन, दण्ड, न्याय, परराष्ट्र नीति पर महत्वपूर्ण विचार दिये। उनका आदर्श राजा प्लेटो के दार्शनिक राजा से अधिक महत्वपूर्ण है। मनु ने राजतंत्र का समर्थन किया परन्तु उसका राजा निरंकुश नहीं है। मनु ने सम्प्रभुता, राजधर्म, प्रशासनिक व्यवस्था, कर व्यवस्था पर महत्वपूर्ण विचार दिये है। राजा पर नियन्त्रण तथा जनकल्याणकारी विचार एक लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना करता है। वह मानवतावादी है। उनके विचारों केन्द्र में मानव है। सामाजिक व्यवस्था को लेकर भी बहुत उत्कृष्ट विचार दिये। वे धर्म, वर्ण व्यवस्था, आश्रम पर महत्वपूर्ण विचार रखते है। वे सभी के विकास एवं कल्याण पर बल देते थे।

मनु के शासन संबंधी विचार बहुत महत्वपूर्ण है। वे अराजकता को समाप्त करने तथा व्यवस्था स्थापित करने पर बल दिया। उन्होनें दण्ड एवं न्यायव्यवस्था पर अत्याधिक बल दिया। उनका राज के कार्यों के संबंध में दृष्टिकोण जनकल्याणकारी है। उनका राजा एक आदर्श राजा है। इसके बावजूद वह व्यवहारिक भी है। वह धूर्त एवं निरंकुश नहीं है। मनु द्वारा प्रतिपादित मण्डल सिद्धान्त तथा षाड़गुण्य नीति आज के समय में भी प्रांसगिक है। आज दुनिया के देश विदेश नीति का आधार इन्हीं सिद्धान्तों को बनाते हैं। संधि, विग्रह, यान, युद्ध संबंधी विचार मनु की अमूल्य देन है जो कि उन्हें राजनीति शास्त्रों में अमर कर देता है।

अभ्यास प्रश्न -

1. मनु की रचना का क्या नाम था?
2. मनु द्वारा प्रतिपादित राज्य की उत्पति का सिद्धान्त क्या है?
3. मनु किस प्रकार की शासन प्रणाली का समर्थक था?
4. मनु वर्ण व्यवस्था का समर्थक था। सत्य/असत्य
5. मनु द्वारा प्रतिपादित षाड़गुण्य नीति तथा मण्डल सिद्धान्त किस से सम्बन्धित है?

4.6 सारांश

मनु प्राचीन भारतीय चिन्तन के मुख्य विचारक है। उन्होंने अपनी कृति ''मनु स्मृति'' में राजनीतिक विचार प्रस्तुत किये। मनु ने राज्य की उत्पति के सम्बन्ध में दैवीय उत्पति के सिद्धान्त को अपनाया। उनका दैवीय उत्पति का सिद्धान्त में समझौतावादी तत्व मिलते हैं। मनु ने राजतन्त्र का समर्थन किया परन्तु उनका शासक नियन्त्रणविहीन न होकर संयमित है। उसे आशा की जाती है कि वह कानूनों का पालन करे तथा रीतियों एंव परम्पराओं से संयमित है। राज्य के संबंध में मनु राज्य रूपी शरीर की

बात करता है। वह राज्य के सात अंगों का साप्तांग सिद्धान्त देता है। मनु ने इन अंगों में राजा को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना है। प्रशासन को मनु ने कई भागों में बांटा है। मनु दण्ड एवं न्याय की व्यवस्था का भी वर्णन करता है। उसका दण्ड संबंधी सिद्धान्त बहुत व्यवहारिक एवं यर्थातवादी है। न्याय संबंधी विचार बहुत व्यापक है जिसमें न्याय के विभिन्न पहलूओं का व्यापक वर्णन किया गया है। मनु ने विदेश नीति के संचालन में मण्डल सिद्धान्त एवं षाड़गुण्य नीति को दिया है। इसमें विभिन्न परिस्थितियों में राजा द्वारा अलग-अलग नीतियां अपनाने पर बल दिया गया है। यह विदेश नीति के निर्धारण का एक व्यवहारिक सिद्धान्त है। यह बदलते विश्व परिदृश्य में बदलती नीति द्वारा राष्ट्रहित के संवर्धन का एक यर्थातवादी समाधान है जो आज के भूमण्डलीकरण के दौर में भी प्रासंगिक है। मनु द्वारा प्रस्तुत उपरोक्त सिद्धान्त बहुत प्रांसगिक है जो मनु को अमर बना देती है।

4.7 शब्दावली

सावयवी सिद्धान्तः- इस सिद्धान्त में राज्य एक जीवधारी मानते हुए उसके विभिन्न अंगों की कल्पना की जाती है ।

दैवीय उत्पतिः- इसके अर्न्तगत राज्य की उत्पति ईश्वर के द्वारा मानी जाती है। इसमें यह स्वीकार किया जाता है कि राज्य को ईश्वर ने बनाया है।

4.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. मनु स्मृति , 2. दैवीय उत्पति का सिद्धान्त, 3.प्रजातन्त्र, 4. सत्य, 5.विदेश नीति के संचालन से

4.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. राव एम0वी0 कृष्णा, स्टडीज इन कौटिल्या
3. समस्त्रे आर0, कौटिल्यस का अर्थशास्त्र
3. परमात्मा शरण, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं समस्यायें
4. वर्मा, वी0पी0, प्राचीन भारतीय चिन्तन

4.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. वेनी प्रसाद, दि स्टेट इन एनसिएंट इण्डिया
3. श्यामलाल पाण्डेय, कौटिल्य की राज व्यवस्था

4.11 निबधात्मक प्रश्नः-

1. मनु के राजनैतिक विचारों पर एक निबन्ध लिखिये।
3. मनु के विदेश नीति संबंधी विचारों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये।
3. मनु के राजनैतिक विचारों का वर्तमान में प्रासगिकता स्पष्ट करते हुए एक निबंध लिखिये।
4. मनु के विचारों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये।

इकाई 5 कौटिल्य के चिंतन में राज्य: उत्पत्ति, प्रकृति एवं विदेश नीति

इकाई की संरचना

5 .1 प्रस्तावना

5 .2 उद्देश्य

5 .3 कौटिल्य और अर्थशास्त्र

5 .4 राज्य की उत्पत्ति: मात्स्यन्याय और सामाजिक अनुबंध

5 .5 राज्य की प्रकृति: सप्तांग सिद्धांत

5 .6 स्वामी (राजा): राजधर्म और राजा के गुण

5 .7 शासन के अन्य अंग: अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड, मित्र

5 .8 राज्य का उद्देश्य: योगक्षेम और धर्मअर्थकाम का समन्वय

5 .9 कौटिल्य की विदेश नीति: मण्डल सिद्धांत और विजिगीषु

5 .10 षाड्गुण्य नीति और चतुर्विध उपाय

5 .11 सारांश

5 .12 अभ्यासार्थ प्रश्न (बहुविकल्पीय)

5 .13 शब्दावली

5 .14 निबंधात्मक प्रश्न

5 .15 संदर्भ ग्रंथ सूची

5 .1 प्रस्तावना

भारतीय राजनीतिक चिन्तन की परम्परा में कौटिल्य (चाणक्य) का अर्थशास्त्र एक अद्वितीय एवं युगांतरकारी ग्रंथ है, जो राज्य, शासन, अर्थव्यवस्था, कूटनीति एवं युद्धनीति का अत्यंत व्यवस्थित एवं व्यावहारिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। जहाँ धर्मशास्त्रपरम्परा राज्य एवं समाज को मुख्यतः नैतिक एवं धार्मिक दृष्टिकोण से देखती है, वहाँ कौटिल्य का दृष्टिकोण मूलतः व्यावहारिक, अनुभवसिद्ध (empirical) एवं यथार्थवादी (realist) है। अर्थशास्त्र को परम्परागत रूप से दण्डनीति

अथवा राजनीतिशास्त्र की श्रेणी में रखा जाता है, जिसका केन्द्रीय सरोकार सत्ता का अर्जन, संरक्षण एवं विस्तार है।

इस इकाई में हम कौटिल्य के राजनीतिक चिन्तन के तीन परस्पर सम्बद्ध आयामों का अध्ययन करेंगे: प्रथम, राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धांत, जिसमें मात्स्यन्याय की अवधारणा एवं प्रथम राजा की नियुक्ति का वर्णन है द्वितीय, राज्य की प्रकृति सम्बन्धी सिद्धांत जिसे सप्तांग सिद्धांत के नाम से जाना जाता है, तथा जिसमें राज्य को सात अंगों से निर्मित एक सावयव (organic) संरचना के रूप में प्रस्तुत किया गया है तथा तृतीय, कौटिल्य की विदेशनीति सम्बन्धी विचारणा जिसे मण्डल सिद्धांत एवं षाड्गुण्य नीति के अंतर्गत समझा जाता है। ये तीनों आयाम परस्पर जुड़े हुए हैं: राज्य की उत्पत्ति की व्याख्या आंतरिक व्यवस्था की आवश्यकता को स्थापित करती है, सप्तांग सिद्धांत राज्य के आंतरिक संगठन को परिभाषित करता है, मण्डल सिद्धांत इस संगठित राज्य के बाह्य सम्बन्धों एवं सुरक्षानीति को व्यवस्थित करता है।

कौटिल्य के चिन्तन का अध्ययन इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है कि वे राज्य को न तो किसी दैवी विधान का परिणाम मानते हैं, न ही पूर्णतः बलप्रयोग का उत्पाद, अपितु एक उपयोगितावादी, आवश्यकता आधारित संस्था के रूप में प्रस्तुत करते हैं, जो मात्स्यन्याय की अव्यवस्था से मुक्ति हेतु उत्पन्न होती है। साथ ही, कौटिल्य का राज्यसिद्धांत पूर्णतः शक्ति केन्द्रित नहीं है योगक्षेम (प्रजा की समृद्धि एवं सुरक्षा) तथा धर्म की अवधारणा इसमें निरंतर उपस्थित रहती है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि कौटिल्य का यथार्थवाद नैतिक उद्देश्यों से अलग नहीं है। इस प्रकार यह इकाई प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की उस यथार्थवादी एवं व्यवहारवादी धारा का परिचय देती है, जो आगे चलकर भारतीय कूटनीतिक एवं सामरिक चिन्तन की एक स्थायी निधि बन गई।

5 .2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात विद्यार्थी निम्नलिखित में सक्षम होंगे:

- कौटिल्य के अर्थशास्त्र के ऐतिहासिक एवं ग्रंथगत परिप्रेक्ष्य को समझ पाना।
- राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी कौटिल्य के सिद्धांत का विश्लेषण कर पाना।
- सप्तांग सिद्धांत के अंतर्गत राज्य के सात अंगों की पहचान करना तथा उनकी अंतर्सम्बद्धता को स्पष्ट कर पाना।
- कौटिल्य की राजधर्म एवं योगक्षेम सम्बन्धी अवधारणाओं की व्याख्या कर पाना।
- कौटिल्य की विदेशनीति सम्बन्धी मण्डल सिद्धांत एवं षाड्गुण्य नीति को समझ पाना।

- कौटिल्य के राजनीतिक चिन्तन में निहित यथार्थवादी (realist) एवं नैतिक तत्वों के मध्य सन्तुलन का आलोचनात्मक मूल्यांकन कर पाना।

5 .3 कौटिल्य और अर्थशास्त्र: ग्रंथगत एवं ऐतिहासिक परिचय

कौटिल्य, जिन्हें चाणक्य के नाम से भी जाना जाता है, मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रसिद्ध मंत्री एवं राजनीतिक मार्गदर्शक थे। परम्परागत मान्यता के अनुसार उनका जीवनकाल लगभग चौथी शताब्दी ईसापूर्व (लगभग 37525 3 ईसापूर्व) माना जाता है तथा यह माना जाता है कि उन्होंने ही चन्द्रगुप्त को नन्द वंश को परास्त कर मौर्य साम्राज्य की स्थापना में सहायता प्रदान की थी। उनका ग्रंथ अर्थशास्त्र संस्कृत भाषा में रचित है। इसे 1905 में शामाशास्त्री द्वारा पुनः प्रकाश में लाया गया, जिन्होंने इसका सम्पादन एवं अनुवाद किया। अर्थशास्त्र 15 अधिकरणों (खण्डों), 150 प्रकरणों एवं लगभग 6000 श्लोकों में विभाजित एक विशाल ग्रंथ है, जो राज्यव्यवस्था के लगभग समस्त पक्षों जैसे राजा के कर्तव्य, मंत्रिपरिषद, प्रशासनिक तंत्र, अर्थव्यवस्था, न्यायव्यवस्था, गुप्तचरतंत्र, सैन्यसंगठन तथा विदेशनीति का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करता है। यह ग्रंथ दण्डनीति की उस परम्परा से सम्बद्ध है, जो शासन को मुख्यतः व्यावहारिक एवं अनुभवजन्य आधार पर समझने का प्रयास करती है, न कि मूलतः धार्मिक अथवा नैतिक आधार पर जैसा कि धर्मशास्त्रपरम्परा में देखा जाता है।

कौटिल्य के विधिस्रोतों में धर्म (शास्त्रोक्त नियम), व्यवहार (प्रचलित रीति), संस्था (व्यावसायिक/सामाजिक प्रथाएँ) तथा राजशासन (राजकीय आदेश) सम्मिलित हैं। कौटिल्य का दृष्टिकोण इस अर्थ में 'यथार्थवादी' (realist) माना जाता है कि वे राजनीति को नैतिक आदर्शों से अनुप्राणित होते हुए भी अंततः शक्ति, सुरक्षा एवं राज्यहित के व्यावहारिक तर्क पर आधारित मानते हैं। यद्यपि विद्वानों में इस बात पर मतभेद है कि कौटिल्य का चिन्तन कितना 'यथार्थवादी' और कितना 'आदर्शवादी' है-क्योंकि अर्थशास्त्र में धर्म, योगक्षेम एवं प्रजाकल्याण का उल्लेख भी निरंतर होता रहता है-तथापि यह सर्वसम्मत है कि कौटिल्य प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में राज्यव्यवस्था के सर्वाधिक व्यवस्थित एवं विश्लेषणात्मक अध्येता हैं। पश्चिमी राजनीतिक चिन्तन में मैकियावेली के साथ कौटिल्य की तुलना अक्सर की जाती है यद्यपि कौटिल्य के चिन्तन में धर्म एवं प्रजाकल्याण की अवधारणा कहीं अधिक केन्द्रीय स्थान रखती है, जिससे यह तुलना सीमित अर्थ में ही सार्थक है।

5 .4 राज्य की उत्पत्ति: मात्स्यन्याय और सामाजिक अनुबंध

कौटिल्य राज्य की उत्पत्ति की व्याख्या अर्थशास्त्र के प्रथम अधिकरण में करते हैं। उनके अनुसार राज्यपूर्व अवस्था एक भयावह अव्यवस्था की स्थिति थी, जिसे उन्होंने 'मात्स्यन्याय' (matsyanyaya) की संज्ञा दी है जिसका शाब्दिक अर्थ में 'मछलियों का न्याय', अर्थात ऐसी

अवस्था जिसमें बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है। यह अवधारणा यह दर्शाती है कि बिना किसी केन्द्रीय दण्डशक्ति के समाज में बलवान निरंतर दुर्बल का शोषण करता रहता है तथा कोई भी व्यक्ति अथवा सम्पत्ति सुरक्षित नहीं रह सकती है।

उनका मानना है कि इस अव्यवस्था से उद्विग्न होकर प्रजा ने मनु वैवस्वत को अपना प्रथम राजा चुना। कौटिल्य के अनुसार राजा का यह दायित्व निश्चित किया गया कि वह प्रजा को 'सुरक्षा एवं व्यवस्था' प्रदान करे, अव्यवस्थाप्रवृत्त व्यक्तियों को दण्डित करे, व्यक्तिगत एवं सामाजिक व्यवस्था (योगक्षेम) को बनाए रखे। इसके प्रतिफल में प्रजा ने राजा को राजस्व के रूप में उत्पादित अन्न का छठा भाग तथा व्यापारिक माल का दसवाँ भाग देना स्वीकार किया। यह व्यवस्था एक प्रकार के परस्पर दायित्व (mutual obligation) को स्थापित करती है राजा प्रजा को सुरक्षा प्रदान करता है, प्रजा राजा को कर के रूप में सहयोग प्रदान करती है।

कौटिल्य के अनुसार राजा को इन्द्र एवं यम के समान कार्य करने का अधिकार प्राप्त है अर्थात राजा पुरस्कार एवं दण्ड का त्वरित एवं निर्णायक प्रयोग कर सकता है। यह तुलना यह दर्शाती है कि राजा का प्राधिकार लौकिक होते हुए भी एक प्रकार की दैवी गरिमा से सम्पन्न माना गया है, यद्यपि उसकी वैधता का मूल आधार उसके कार्य यानि प्रजारक्षण में ही निहित है, न कि किसी पूर्वनिर्धारित दैवी अधिकार में। यदि राजा अपने दायित्व का पालन नहीं करता या प्रजा का उचित रक्षण नहीं करता, तो वह अपनी वैधता खो देता है यह सिद्धांत अर्थशास्त्र में राजा की उत्तरदायिता (accountability) के एक प्रारम्भिक रूप को इंगित करता है।

विद्वानों ने मात्स्यन्याय की अवधारणा की तुलना थॉमस हॉब्स की 'प्रकृति की अवस्था' (state of nature) से की है, जिसमें मानवजीवन 'एकाकी, दरिद्र, क्लिष्ट, क्रूर एवं अल्पकालिक' (solitary, poor, nasty, brutish, and short) होता है। दोनों ही सिद्धांतों में राज्यपूर्व अवस्था को असुरक्षा एवं अव्यवस्था की अवस्था के रूप में चित्रित किया गया है, राज्य की उत्पत्ति को इस अव्यवस्था से मुक्ति के उपाय के रूप में प्रस्तुत किया गया है। तथापि दोनों सिद्धांतों में महत्त्वपूर्ण अंतर भी हैं हॉब्स के सामाजिक अनुबंध में प्रजा अपने प्राकृतिक अधिकारों का पूर्ण समर्पण एक सर्वशक्तिशाली प्रभुसत्ता (Leviathan) को करती है, जबकि कौटिल्य के विवरण में राजा एवं प्रजा के मध्य एक उत्तरदायित्व आधारित सम्बन्ध बना रहता है।

राजा का कर्तव्य (रक्षा एवं योगक्षेम) निरंतर बना रहता है, जो उसकी सत्ता की वैधता का आधार है। इसके अतिरिक्त कौटिल्य के सिद्धांत में धर्म की अवधारणा सतत उपस्थित रहती है, जो हॉब्स की पूर्णतः लौकिक एवं संविदात्मक (contractual) व्यवस्था से भिन्न है। अर्थशास्त्र में दण्डशक्ति एवं राज्यव्यवस्था के यथार्थवादी, संस्थागत आयाम पर अधिक बल दिया गया है, जबकि आगनासुत्त में नैतिक पतन एवं धम्म की केन्द्रीयता अधिक स्पष्ट है।

5 .5 राज्य की प्रकृति: सप्तांग सिद्धांत

राज्य की प्रकृति सम्बन्धी कौटिल्य का सर्वाधिक प्रसिद्ध सिद्धांत 'सप्तांग सिद्धांत' (Saptanga Theory) है, जिसका विस्तृत विवेचन अर्थशास्त्र के षष्ठ अधिकरण ('मण्डलयोनि' नामक प्रकरण) में मिलता है। 'सप्तांग' शब्द का अर्थ है 'सात अंग' कौटिल्य के अनुसार राज्य किसी एक तत्व से निर्मित नहीं होता, अपितु सात परस्परनिर्भर अंगों अथवा 'प्रकृतियों' के संयोग से बनता है। कौटिल्य राज्य की तुलना एक रथ से करते हैं, जिसके सभी अंग परस्पर सुसंगत रूप से जुड़े होने पर ही सुचारू रूप से गतिमान होता है यदि कोई एक अंग दुर्बल अथवा क्षतिग्रस्त हो तो सम्पूर्ण रथ (राज्य) की गति बाधित होती है। यह उपमा राज्य की 'सावयव' (organic) प्रकृति को रेखांकित करती है, अर्थात राज्य एक जीवंत शरीर के समान है, जिसके अंग परस्पर निर्भर एवं पूरक हैं।

सप्तांग के सात अंग, कौटिल्य द्वारा निर्दिष्ट प्राथमिकताक्रम में, निम्नलिखित हैं:

- स्वामी (Svami) — राजा/शासक, सप्तांग का प्रथम एवं केन्द्रीय अंग।
- अमात्य (Amatya) — मंत्री एवं प्रशासनिक अधिकारीवर्ग।
- जनपद (Janapada) — भूक्षेत्र तथा उस पर निवासरत प्रजा।
- दुर्ग (Durga) — सुरक्षा हेतु किलेबन्द राजधानी/दुर्ग।
- कोष (Kosha) — राजकीय कोषागार/राजस्वव्यवस्था।
- दण्ड (Danda) — सैन्यबल/दण्डशक्ति।
- मित्र (Mitra) — मैत्रीसम्बन्ध/सहयोगी राज्य।

कौटिल्य इन अंगों को इस क्रम में रखकर एक स्पष्ट प्राथमिकता संरचना (hierarchy) प्रस्तुत करते हैं स्वामी (राजा) को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है, क्योंकि सम्पूर्ण व्यवस्था का संचालनकेन्द्र राजा ही है, तथा मित्र (बाह्य सहयोगी) को अंत में रखा गया है, क्योंकि यह राज्य का आंतरिक अंग न होकर एक बाह्य सहायक तत्व है। यह उल्लेखनीय है कि सप्तांग सिद्धांत को बाद के ग्रंथों महाभारत, विभिन्न पुराणों तथा धर्मशास्त्रों में भी स्वीकार किया गया, जिससे यह स्पष्ट होता है कि यह सिद्धांत प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की एक स्थायी एवं प्रभावशाली अवधारणा बन गया।

5 .5.1 स्वामी (राजा): राजधर्म और राजा के गुण

सप्तांग में स्वामी (राजा) को प्रथम एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है, क्योंकि उसका चरित्र, बुद्धि एवं सतर्कता ही राज्य के समग्र कल्याण को निर्धारित करती है। कौटिल्य आदर्श राजा में अनेक गुणों की अपेक्षा करते हैं बुद्धिमत्ता (मेधा), सत्यनिष्ठा, ऊर्जा/उत्साह, आत्मअनुशासन एवं

निर्णयक्षमता। राजा को केवल भोगविलासी शासक नहीं, अपितु एक कुशल प्रशासक, सतर्क रणनीतिकार एवं प्रजाहितैषी अभिभावक के रूप में देखा गया है।

कौटिल्य के अनुसार राजा का मूल कर्तव्य अपने व्यक्तिगत सुख की अपेक्षा प्रजाकल्याण को प्राथमिकता देना है। एक सुप्रसिद्ध कथन के अनुसार राजा को अपनी प्रजा के सुख में ही अपना सुख तथा प्रजा के कल्याण में ही अपना कल्याण देखना चाहिए—राजा का निजी हित प्रजाहित से पृथक नहीं माना जा सकता। यह सिद्धांत 'राजधर्म' (Rajadharma) की अवधारणा का आधार बनता है, अर्थात राजा का कर्तव्यधर्म, जो उसे प्रजापालन, न्याय एवं सुरक्षाप्रदान के दायित्व से बाँधता है।

यहाँ ध्यान देने योग्य है कि अर्थशास्त्र में राजा की सत्ता निरंकुश नहीं है यद्यपि राजा सर्वोच्च प्राधिकारी है, तथापि उसकी वैधता उसके धर्मपालन एवं प्रजारक्षण पर निर्भर करती है। यह सिद्धांत हमें आगनासुत्त में वर्णित 'राजा' की निरुक्ति 'जो धम्म द्वारा प्रजा को आनंदित/संतुष्ट करे' की भी याद दिलाता है, जिसमें शासक की वैधता धर्मपालन पर निर्भर मानी गई है। इस प्रकार, यद्यपि अर्थशास्त्र एवं बौद्ध राजनीतिक चिन्तन की पद्धतियाँ भिन्न हैं, परन्तु दोनों में शासक की वैधता को मात्र बल अथवा वंशानुक्रम तक सीमित न मानकर, उसके कर्तव्यपालन से जोड़ने की समान प्रवृत्ति पाई जाती है। कौटिल्य की स्पष्ट मान्यता थी कि राज्य की सफलता राजा पर निर्भर करती है। कौटिल्य को भारत में प्राचीन समय में पाये जाने वाले गणतन्त्रों का पर्याप्त ज्ञान था परन्तु वह योग्य कल्याणकारी राजा का प्रबल समर्थक था। कतिपय यही कारण था कि उसने राजा की योग्यता, गुणों तथा नीतियों का व्यापक उल्लेख अर्थशास्त्र में किया है। बी0पी0 सिंह का स्पष्ट मत है कि ''कौटिल्य की शासन प्रणाली में राजा शासन की धुरी है और शासन संचालन में सक्रिय रूप से भाग लेने और शासन को गति प्रदान करने में राजा का एकमात्र स्थान है।''कौटिल्य राजा में आदर्श रूप देखता है। उसका राजा सर्वगुण सम्पन्न एक आदर्श व्यक्ति है। कौटिल्य के राजा संबंधी विचार प्लेटो के आदर्श राजा या दार्शनिक शासक (Philosopher King) के समान है। वह स्पष्ट करता है कि राजा ढृड़ निश्चयी, विचारशील, सत्यवादी , वृद्धों के प्रति सम्मान का भाव रखने वाला, विवेकपूर्ण,दूरदर्शी उत्साही तथा युद्ध में चतुर होना चाहिए। उसमें कठिन समय में साहस न छोड़ने तथा समस्या को पकड़ने की क्षमता होनी चाहिए। वह राजा में राजकोष की वृद्धि की क्षमता रखने की क्षमता होना आवश्यक मानता है। कौटिल्य राजा में आध्यात्मिक एवं नैतिक गुण को भी आवश्यक मानता है। उसका मानना है कि कुछ गुण स्वभाव से होते है परन्तु कुछ गुण अभ्यास, अध्ययन से विकसित किये जा सकते है। कतिपय यहीं कारण है कि वह राजा की शिक्षा पर बहुत बल देता है। उसकी स्पष्ट मान्यता थी कि '' जिस प्रकार घुन लगी लकड़ी जल्द नष्ट हो जाती है उसी प्रकार अशिक्षित राजकुल बिना किसी युद्ध के नष्ट हो जाते है।'' कौटिल्य के अनुसार राजा को दण्ड नीति, राज्य शासन, सैनिक शिक्षा, मानव शास्त्र, इतिहास, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र का जानकार होना चाहिए। राजा को अपनी इन्द्रियों पर सदैव अंकुश रखना चाहिए। कौटिल्य के सात अंगों के सिद्धान्त में राजा का स्थान सर्वोच्च है। राजा

राज्य रूपी शरीर में मस्तिष्क के समान है। जिस प्रकार मस्तिष्क के अक्षमता का प्रभाव सम्पूर्ण शरीर के अंगों पर पड़ता है उसी प्रकार अयोग्य राजा से सम्पूर्ण राज्य ही अस्वस्थ्य हो जाता है।

5 .5.2 अमात्य (मंत्रीपरिषद)

अमात्य अथवा मंत्रीवर्ग राज्य का द्वितीय महत्त्वपूर्ण अंग है। कौटिल्य मंत्रिपरिषद के गठन पर विशेष बल देते हैं तथा यह स्पष्ट करते हैं कि कोई भी राजा, चाहे वह कितना भी बुद्धिमान हो, सम्पूर्ण शासनकार्य एकाकी रूप से संचालित नहीं कर सकता। मंत्रियों के चयन में निष्ठा, बुद्धि, अनुभव एवं कार्यकुशलता को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। कौटिल्य गुप्तचरव्यवस्था (espionage) के माध्यम से मंत्रियों की निष्ठा की निरंतर जाँच की भी सिफारिश करते हैं, जो उनके यथार्थवादी एवं सतर्क शासनदृष्टिकोण को प्रदर्शित करता है। सामान्यतः अमात्य का अर्थ मंत्री से लिया जाता है। कौटिल्य अमात्य के अन्तर्गत मंत्री एवं प्रशासनिक अधिकारियों दोनों से रखता है। कौटिल्य का मत था कि जिस प्रकार एक पहिये की गाड़ी नहीं चल सकती उसी प्रकार एक व्यक्ति सम्पूर्ण प्रशासन नहीं चला सकता है। राजा को प्रशासन में सहयोगियों से परामर्श लेना चाहिए।

कौटिल्य के अनुसार सभी कार्यों की सफलता अमात्यों पर निर्भर करती है। कृषि आदि कार्यों की सफलता राजवंश अन्तपाल आपत्तियों का प्रतिवाद , उपनिवेशों की स्थापना, अपराधियों को दण्ड तथा राज करो का निग्रह सम्पूर्ण कार्य अमात्यों द्वारा सम्पन्न होते है। कौटिल्य का स्पष्ट मत था कि योग्य, अनुभवी व्यक्ति को बिना किसी पक्षपात के अमात्य बनाना चाहिए। कौटिल्य का मत है कि उनकी चरित्र परीक्षा के बाद नियुक्ति होना चाहिए। अमात्यों को उनकी क्षमता के अनुसार कार्य सौंपे जाने चाहिए।

5 .5.2 जनपद (भूक्षेत्र एवं प्रजा)

जनपद का अर्थ है राज्य का भौगोलिक क्षेत्र तथा उस पर निवासरत प्रजा। कौटिल्य जनपद की समृद्धि हेतु उर्वर भूमि, जलस्रोतों की उपलब्धता, कृषि योग्य भूमि के विस्तार तथा परिश्रमी कृषकवर्ग के बसाव पर बल देते हैं। एक समृद्ध जनपद ही राज्य के कोष एवं सैन्यशक्ति का मूल स्रोत है, अतः जनपद की समृद्धि राज्य की समग्र शक्ति के लिए अनिवार्य मानी गई है। जनपद कौटिल्य के राज्य रूपी शरीर का तीसरा अंग है। कौटिल्य का जनपद से अर्थ उस भू-भाग में निवास करने वाले नागरिकों अथवा निवासियों से है। उसका मानना था कि जनपद के अभाव में राज्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

कौटिल्य का स्पष्ट मत था कि दूसरे प्रदेशों से लोगों को आमंत्रित कर नये जनपद स्थापित किये जाय। प्रत्येक जनपद में कम से कम 100 घर तथा अधिक से अधिक 500 घर वाले गांव बसाये जाय जिसमें किसान एवं शूद्र अधिक हो। एक गांव दूसरे से दो कोस से अधिक दूर न हो।

जनपद के संगठन के संबंध में कौटिल्य स्पष्ट करता है कि ''आठ सौ गांवों के बीच स्थानीय , चार सौ गांवों के बीच द्रोणमुख , दो सौ गांवों के बीच खार्वटिक तथा दस गांवों के समूह के रूप में संग्रहण की स्थापना की जाय। इस प्रकार प्रशासनिक दृष्टि से जनपद , स्थानीय, द्रोणमुख, खार्वटिक , संग्रहण और गांव में बंटा होगा। कौटिल्य राज्य के छोटे आकार में विश्वास करता था।

कौटिल्य जनपद निर्माण की पूरी योजना देता है जिसमें प्रारम्भ में तथा सीमान्त में किले बने हो जिसमें अन्न व पानी प्रचुरता से हो। आपात काल में बन एवं पर्वत में जा रक्षा की जा सके। जनपद के पास शत्रु राजा के विरोधियों की संख्या अधिक होनी चाहिए। शत्रु राज्य कमजोर होना चाहिए। उसके पास घने जंगल हो जो कीमती लकड़ी, हिंसक पशुओं से भरे हो। इसके अन्दर नदी , तालाब हो तथा इसकी जलवायु अच्छी हो। निवासियों में नीच वर्ग की आबादी अधिक हो तथा मेहनती लोगों की अधिकता हो। ऐसा जनपद सम्पन्न जनपद होगा।

कौटिल्य ने जनपद के निवासियों के संदर्भ में स्पष्ट किया है कि वह निष्ठावान , स्वाभिमानी और सम्पन्न होनी चाहिए। वह सरल हदय वाली, राजा के करो को स्वेच्छा से चुकाने वाली होनी चाहिए। प्रजा के अन्दर स्व-अनुशासन तथा कर्तव्य परायणता होनी चाहिए।

5 .5.4 दुर्ग (किलेबन्द राजधानी)

कौटिल्य के सप्तांग सिद्धांत में दुर्ग का आशय राज्य कि राजधानी है। दुर्ग राज्य की सुरक्षा का प्रतीक है यह आक्रमण की स्थिति में रक्षा हेतु आश्रयस्थल, प्रशासनिक केन्द्र तथा कोष एवं संसाधनों के सुरक्षित भण्डारणस्थल के रूप में कार्य करता है। कौटिल्य दुर्गनिर्माण के स्थान, संरचना एवं सुरक्षाव्यवस्था पर विस्तृत निर्देश देते हैं। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में दो तरह के दुर्ग का वर्णन किया हैः-

1. दुर्ग विधान
2. दुर्ग निवेश

दुर्ग विधान का कौटिल्य का आशय मुख्य दुर्ग से है। इसमें वह मुख्य दुर्ग के निर्माण पर बल देता है। दुर्ग निवेश से उसका आशय दुर्ग के अन्दर के भवनों तथा राज्यों के अन्दर महत्वपूर्ण स्थानों पर निर्मित भवनों से है। दुर्ग राज्य की रक्षात्मक आक्रामक शक्ति दोनों का प्रतीक है। प्रत्येक राज्य की सुरक्षा के लिए मजबूत किला आवश्यक होता है। किले में सेना की मोर्चाबंदी , आक्रमण के लिए गुप्त निकास द्वार , गोला बारूद , भोजन का बंदोबस्त होना चाहिए।

कौटिल्य ने दुर्ग को चार श्रेणियों में बांटा हैः-

1.औदक दुर्गः- वह दुर्ग जो चारों ओर से पानी तथा तालाब से घिरा होता है वह औदक दुर्ग कहलाता है।

2.पर्वत दुर्गः- बड़ी चट्टानों से निर्मित , पर्वतों पर स्थित दुर्ग पर्वत दुर्ग कहलाता है।

3.धान्वन दुर्गः- ये ऐसे दुर्ग होते हैं जो ऐसे मरूस्थलीय जगहों पर बने होते है जहां न तो पानी होता और न ही पहुचंना आसान होता है।

4.वन दुर्गः- घने जंगलों में बना दुर्ग जहां का रास्ता बेहद दुर्गम हो उसे वन दुर्ग की संज्ञा दी।

कौटिल्य की मान्यता थी कि औदक और पर्वत दुर्ग संकट के समय राज्य की तथा उसके नागरिकों की रक्षा में सहायक होते हैं, जबकि धान्बन दुर्ग एवं वन दुर्ग संकट के समय राजा की सुरक्षा के लिए आवश्यक एवं अति उपयोगी होते हैं।

5 .5.6 कोष (राजकोष)

कोष अथवा राजकीय कोषागार राज्य की आर्थिक शक्ति का आधार है। कौटिल्य के अनुसार सुदृढ़ कोष के बिना न तो सुसंगठित सेना का पोषण सम्भव है, न ही प्रशासनिक तंत्र का सुचारू संचालन संभव है। इसलिए वे करसंग्रहण, व्यापार एवं अन्य आर्थिक स्रोतों के सुव्यवस्थित प्रबंधन पर अत्यधिक बल देते हैं। राज्य में राजा को अनेक काम करने होते हैं। प्रत्येक कार्य के लिए धन की आवश्यकता होती है। अतः प्रत्येक राज्य में कोष अत्याधिक महत्वपूर्ण होता है। अतः राजा का यह कर्तव्य है कि वह कोष की वृद्धि के लिए सदैव प्रयत्नशील रहे। कौटिल्य का स्पष्ट मत है कि धर्म, अर्थ, काम में अर्थ प्रधान है। सेना, भूमि , समृद्धि आदि सभी में कोष की आवश्यकता होती है। कौटिल्य की स्पष्ट मान्यता थी कि प्रत्येक राज्य को युद्ध के लिए सदैव तत्पर रहना आवश्यक है। युद्ध हो या न हो परन्तु राज्य को तैयार रहना चाहिए। इन सभी कार्यो के लिए यह आवश्यक है कि राज्य के पास पर्याप्त कोष हो। कोष से सेना एवं दुर्ग दोनों की रक्षा होती है।

कौटिल्य का स्पष्ट मत था कि राजा को कोष को प्रचुर करने के लिए प्रयास करना चाहिए। उसे प्रजा से प्राप्त अनाज का छठा भाग, व्यापार से दसवां, पशुओं के व्यापार से प्राप्त पचासंवा भाग सदैव राजा के द्वारा राजकोष में जमा किया जाए। कौटिल्य स्पष्ट करता है कि -‘‘ राजा प्रजा से इस तरह संग्रह करे जैसे माली बगिया से पके-पके फल लेता है। प्रजा यदि कर देने में असमर्थ है तो उसे कच्चे फल की तरह ग्रहण न किया जाय क्योंकि अशक्त प्रजा से कर संग्रह उसमें असंतोष अथवा विद्रोह करने का कारण होता है।

राजस्व वृद्धि के लिए कौटिल्य ने कुछ सिद्धांत बनाये है – पहला परिपुष्ट सिद्धांत जिसके अनुसार धन कि प्राप्ति उद्योगों पर करारोपण द्वारा ही होती है । लेकिन शैशव काल या आरंभिक काल में ही कर नहीं लगाना चाहिए । दूसरा है दौर्लाभ्य का सिद्धांत जिसके अनुसार , ऐसी दुर्लभ सामग्री जो राज्य के लिए अत्यधिक उपयोगी हो , उसे कर मुक्त रखना चाहिए । तीसरा कर मुक्ति का सिद्धांत है जिसके अनुसार कुछ विशेष कारणों जैसे विशेष संस्कार, व्रत, दान और यज्ञ को कर से मुक्त रखना चाहिए।

5 .5.6 दण्ड (सैन्यबल)

दण्ड का अर्थ है सैन्यशक्ति अथवा बलप्रयोग की क्षमता, जो आंतरिक व्यवस्था एवं बाह्य सुरक्षा दोनों के लिए आवश्यक है। कौटिल्य का सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन 'दण्डनीति' की परम्परा में स्थित है, जिसका मूल आधार यह मान्यता है कि बिना दण्डशक्ति के समाज मात्स्यन्याय की अवस्था में लौट सकता है। प्राचीन भारत के सभी चिन्तकों ने दण्ड को बहुत महत्व दिया है। उनके अनुसार अपराध के आधार पर दंड दिया जाना चाहिए तथा गर्भवती स्त्रीयों को दंड नहीं दिया जाना चाहिए । वर्णव्यवस्था के अनुसार दंद्देने कि व्यवस्था की।कौटिल्य ने दैहिक,कायिक और आर्थिक दंड का समर्थन किया है ।

कौटिल्य ने दण्ड का प्रयोग सेना के संदर्भ में किया है। सेना राज्य की सुरक्षा की प्रतीक है। कौटिल्य का मत है कि जिस राजा के पास अच्छा सैन्य बल होता है उसके मित्र तो बनते है साथ ही उसके शत्रु भी मित्र बन जाते है। कौटिल्य सेना में क्षत्रियों को अधिकाधिक शामिल करने की बात करता है। उसकी मान्यता है कि आवश्यकता पड़ने पर अन्य जातियों को भी शामिल किया जा सकता है।

कौटिल्य की मान्यता थी कि सैनिकों को स्वाभिमानी होना चाहिए। राजा को उनकी बेहतर सेवा के लिये , बेहतर वेतन तथा सुविधा के लिए तैयार रहना चाहिए। कौटिल्य ने सेना में हस्ति सेना, अश्व सेना , रथ सेना तथा पैदल सेना का उल्लेख किया है। कौटिल्य इसमें हस्ति सेना को सर्वाधिक महत्व देता है। दण्ड अथवा भय के अभाव में सर्वत्र अराजकता उत्पन्न हो जायेगी। कौटिल्य का मत है कि राजा को आपात काल के लिये सदैव तैयार रहना चाहिए। आपातकाल के समय मित्रों की सहायता से मुकाबला किया जाना चाहिए। ''कौटिल्य ने मित्रों पर विशेष बल दिया है। उसका मानना है कि मित्र वंश परम्परागत , विश्वासी, स्थायी एवं हितैषी होने चाहिए।

5 .5.7 मित्र (मैत्रीसम्बन्ध)

मित्र अथवा सहयोगी राज्य सप्तांग का सातवाँ एवं अंतिम अंग है। यह अंग राज्य की बाह्य सुरक्षा एवं कूटनीतिक स्थिति से सम्बद्ध है विश्वसनीय मित्रराज्यों का होना सैन्य एवं कूटनीतिक दृष्टि से अत्यंत

महत्त्वपूर्ण माना गया है। यही अंग कौटिल्य के मण्डल सिद्धांत (विदेशनीति) से सीधा सम्बन्ध स्थापित करता है, जिसका विस्तृत विवेचन आगे किया जाएगा।

5.5.8 विभिन्न अंगों का तुलनात्मक महत्व

कौटिल्य ने राज्य के सात अंग बताये है। कौटिल्य का स्पष्ट मत है कि राज्य का निर्माण इन सात अंगों से मिलकर हुआ है। अतः प्रत्येक अंग की मजबूती से राज्य शक्तिशाली होगा। वह प्रत्येक अंग को महत्वपूर्ण मानता है। इनमें परस्पर सहयोग से राज्य का संचालन सुचारू हो सकता है। राज्य के सात अंगों के संदर्भ में मनु, भीष्म,शुक्र का मत है कि स्वामी, जनपद,दुर्ग, कोष, दंड और मित्र आदि महत्व की दृष्टि से क्रमानुसार है। कौटिल्य भी सापेक्षिक महत्व की दृष्टि से स्वामी को सर्वाच्च, सर्वशक्तिशाली और महत्वपूर्ण मानता है। वह सम्पूर्ण शासन की आधारशिला मानता है। इसके विपरीत आचार्य भारद्वाज ने इस मत की उपेक्षा करते हुए स्वामी की तुलना में अमात्य को ज्यादा महत्वपूर्ण माना है। कौटिल्य ने अपनी रचना में स्वामी को अधिक महत्वपूर्ण माना है। उसने सम्पूर्ण प्रशासन के केन्द्र में स्वामी को रखा है। उसका मानना है कि एक अयोग्य अमात्य को हटाया जा सकता है। उसके स्थान पर राजा नया अमात्य नियुक्त कर सकता है। वह सम्पूर्ण प्रशासन की आधारशिला राजा को मानता है। कौटिल्य अपने साप्तांग सिद्धान्त के द्वारा राजनीति शास्त्र को अधिक लौकिक स्वरूप प्रदान करता है।

5.5.9 मंत्री परिषद अथवा अमात्य संबंधी विचार

कौटिल्य ने अपनी रचना ‘‘अर्थशास्त्र‘‘ में राजा के लिये मंत्रीपरिषद की आवश्यकता पर बल दिया। उनकी मान्यता थी कि राजा एक रथ है जैसे रथ एक पहिये से नहीं चल सकता, उसी प्रकार मन्त्रियों की सहायता के बिना अकेला राजा राज्य का संचालन नहीं कर सकता। अतः राजा के लिये यह आवश्यक है कि वह योग्य अमात्यों का चुनाव करें। कौटिल्य प्रत्येक कार्य के संचालन पर सद्भावना पर विशेष ध्यान देता है।

महाभारत में स्पष्ट किया गया है कि जिस प्रकार पशु बादलों पर, बाहम्ण वेदों पर , पत्नी पति पर निर्भर करती है , उसी प्रकार राजा भी मंत्रीपरिषद पर निर्भर करता है। मनु ने भी मंत्रीपरिषद की अनिवार्यता पर बल दिया है। कौटिल्य ने भी मंत्रीपरिषद की अनिवार्यता पर बल दिया।

मंत्रीपरिषद का निर्माणः- मंत्रीपरिषद के गठन में कौटिल्य का सर्वाधिक जोर अमात्यों का योग्यता पर है। इसके लिये उसने अत्यंत कठोन नियम एवं मापदण्ड तय किये हैं। उसका मानना है कि क्षमतावान, योग्य और बिना दाग का व्यक्ति को मंत्रीपरिषद में स्थान दिया जान चाहिए। बेनी प्रसाद के शब्दों में ‘‘कौटिल्य के अनुसार निष्कलंक , व्यक्तिगत जीवन, बौद्विक चातुर्य, उचित निर्णय , कर्तव्य की उच्च भावना, लोकप्रियता मंत्रीपरिषद के लिये आवश्यक योग्यतायें होने चाहिए।

मंत्रीपरिषद में मन्त्रियों की संख्या कितनी होगी उसका आकार क्या होगा इस पर कौटिल्य स्पष्ट राय नहीं रखते। मनु ने अमात्यों की संख्या 12, वृहस्पति ने सोलह, शुक्राचार्य ने बीस मन्त्रियों की संख्या सुझायी है। कौटिल्य इस संख्या के संदर्भ में मौन है। वे कार्य के अनुपात तथा योग्यता के आधार पर संख्या निश्चित करने पर बल देता है।

अमात्यों की नियुक्तिः- इस संबंध में उसने सबसे पहले विभिन्न आचार्यों के पर प्रकट किये । कौटिल्य ने आचार्य भारद्वाजक, विशालरक्ष, पराशर, वाटव्याधि और बाहुदंतीपुत्र के विचारों का विश्लेषण किया । कौटिल्य की मान्यता थी कि विद्या, साहस, गुण, दोष, काल और पात्र का विचार करके ही अमात्यों की नियुक्त करें।

कौटिल्य की मान्यता थी कि अर्थशास्त्र के विद्वान, बुद्धिमान, स्मरणशक्ति सम्पन्न, चतुर, उत्साही, प्रभावशील, सहिष्णु, पवित्र, स्वामीभक्त, सुशील, समर्थ, स्वस्थ, धैर्यवान और द्वेषवृत्ति रहित पुरूष ही प्रधानमंत्री के योग्य है।

अमात्यों के आचरण की परीक्षाः- कौटिल्य ने अमात्यों के आचरण की समीक्षा पर विशेष बल दिया। कौटिल्य का मत है कि धर्म, अर्थ, काम तथा भय के आधार पर अमात्यों के आचरण का परीक्षण करना चाहिए। उक्त चारों कसौटियों पर सफल होने के बाद ही अमात्य को मंत्रीपरिषद में नियुक्त करना चाहिए।

मत्रंणा एवं गोपनीयताः- कौटिल्य ने गोपनीय मत्रंणा पर विशेष बल दिया। उसकी मान्यता थी कि मत्रंणा का गोपनीय न होना राजा एवं मंत्रीपरिषद के लिये घातक होता है। जिस प्रकार कछुआ अपने कवच को समेटे होता है और केवल आवश्यकता होने पर उन्हें बाहर करता है। उसी प्रकार भी मंत्रणा गोपनीय होनी चाहिए। मंत्री की सुरक्षा के लिये यह आवश्यक है कि मंत्रणा का स्थान अत्यंत सुरक्षित हो। राजा एवं अन्य मंत्री इतने संयमित और विचारमान हो कि किसी भी चेष्टा से भी गोपनीयता भंग न हो। मंत्रणा का स्थान ऐसा होना चाहिए जहां पक्षी भी झांक न सके तथा आवाज बाहर न जाये। कौटिल्य का मत था कि मंत्रणा सदैव तीन-चार लोंगो के साथ की जानी चाहिए। एक ही व्यक्ति से बार-बार मंत्रणा करने से कई बाद संदेह एवं कठिन प्रश्न का सही हल नहीं निकल पाता है। इसमें कई बार संबंधित मंत्री प्रतिद्वन्द्वी के रूप में कार्य करने लगता है। कौटिल्य तीन से चार मंत्री का पक्षधर है। इससे अधिक मंत्री होने पर प्रायः सुरक्षा एवं अनिर्णय की समस्या उत्पन्न होती है।

मंत्रीपरिषद के कार्यः- कौटिल्य के अनुसार मंत्रीपरिषद के निम्न कार्य हैः-

1.राजा को परामर्श देना।

2.संकट के समय राजा की रक्षा करना।

3.राजा को भ्रष्ट, अनैतिक कार्यों से बचाना।

4.राजा के गुप्त भेदों को किसी के समक्ष उजागर न करें।

5.राजा की मृत्यु का समाचार भी बहार नहीं जाना चाहिए।

राजा एवं मंत्रीपरिषद का संबंधः- राजा एवं मंत्रीपरिषद के संबंधों के विषय में कौटिल्य का विचार है कि राजा सामान्यतः मंत्रीपरिषद के बहुमत के आधार पर कार्य करें। इसके साथ ही यदि परामर्श उचित न हो तो वह स्वविवेक से निर्णय ले सकता है। कौटिल्य ने आगे यह भी स्पष्ट किया है कि अयोग्य, अर्कमण्य, विलासी राजा होने पर उस पर मंत्रीपरिषद का नियन्त्रण आवश्यक है। भारत के प्राचीन ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है। 'दिव्यावदान' में इस बात का उल्लेख मिलता है जब बौद्ध धर्म के प्रति अति श्रद्धालु राजा अशोक ने बौद्ध संघों को अंधाधुध दान देना शुरू कर दिया और राजकोष खाली होने लगा तो मंत्रियों ने युवराज के साथ मिलकर महान अशोक को ऐसा करने से रोका था। कौटिल्य ने स्वयं मौर्य साम्राज्य के महामंत्री के रूप में जिस प्रकार कार्य किया उसमें भी महामंत्री एवं मंत्रीपरिषद की भूमिका का महत्व स्पष्ट होता है।

5 .6 राज्य का उद्देश्य: योगक्षेम और धर्मअर्थकाम का समन्वय

कौटिल्य के अनुसार राज्य का अंतिम उद्देश्य 'योगक्षेम' (Yogakshema) की प्राप्ति है अर्थात प्रजा की योग (समृद्धि) एवं सुरक्षा (क्षेम) का सतत संरक्षण है । यह अवधारणा यह स्पष्ट करती है कि कौटिल्य का राज्यसिद्धांत मात्र शक्तिसंचयन तक सीमित नहीं है, अपितु इसका अंतिम लक्ष्य प्रजाकल्याण ही है। योगक्षेम की प्राप्ति धर्म, दण्ड एवं परिवार (सामाजिक संगठन) के समन्वित प्रयास से सम्भव मानी गई है।

कौटिल्य के चिन्तन में धर्म (नैतिक/सामाजिक व्यवस्था), अर्थ (आर्थिक समृद्धि एवं सत्ता) तथा काम (इन्द्रियसुख/व्यक्तिगत इच्छापूर्ति) के मध्य एक संतुलित समन्वय अपेक्षित है। यद्यपि अर्थशास्त्र का केन्द्रीय सरोकार 'अर्थ' अर्थात सत्ता एवं समृद्धि का अर्जन है, परन्तु कौटिल्य यह स्पष्ट करते हैं कि अर्थ की उपलब्धि धर्म के विरुद्ध नहीं, अपितु उसके अनुरूप होनी चाहिए। यही कारण है कि कुछ विद्वान जैसे आर.पी. कंगले यह मानते हैं कि कौटिल्य का चिन्तन यथार्थवाद एवं नैतिकता का एक सुसंगत मिश्रण प्रस्तुत करता है, न कि पूर्णतः निर्मम सत्ताकेन्द्रित दृष्टिकोण को दिखता है ।

इस सन्दर्भ में यह स्मरणीय है कि सप्तांग के सभी अंग अंततः योगक्षेम की प्राप्ति के साधन हैं स्वामी (राजा) इस उद्देश्य का नेतृत्व करता है, अमात्य इसके क्रियान्वयन में सहायक होते हैं, जनपद इसका आधारस्रोत है, दुर्ग एवं दण्ड इसकी सुरक्षा करते हैं, कोष इसके लिए आवश्यक संसाधन प्रदान करता है, तथा मित्र इसे बाह्य सुरक्षा प्रदान करते हैं। इस प्रकार सप्तांग सिद्धांत एवं योगक्षेम की

अवधारणा परस्पर अंतर्ग्रथित हैं एक राज्य की संरचना को परिभाषित करता है, दूसरा उस संरचना के अंतिम उद्देश्य को प्रदर्शित करता है।

5.7 राज्य के कार्य एवं स्वरूप

कौटिल्य राज्य के स्वरूप के संबंध में साव्ययी रूप में विचार रखते है। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि राज्य सात अंगों जैसे स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र से मिलकर बना है। उसकी मान्यता है कि यह आवश्यक अंग है। कौटिल्य के साव्ययी विचारों से पूर्व की भारतीय चिन्तन में इसकी झलक मिलती है। ऋग्वेद में जहां इसकी झलक मिलती है वहीं यर्जुवेद में कहा गया है कि विराट पुरूष की पीठ राष्ट्र है और उसकी उदर पीठ, जांघ तथा घुटने आदि उसकी प्रजा है।

कौटिल्य द्वारा प्रस्तुत सावयवी सिद्धान्त पूर्णतः स्पष्ट और मौलिक है। इसका उद्भव ऋग्वेद के पुरूष उक्ति में मिलता है। कौटिल्य ने अपने सात अंगों में राजा को सर्वाधिक महत्व दिया है। राजा के बाद मंत्री या अमात्य है जो उसे परामर्श देते है। उनकी सहायता से ही राज्य का संचालन संभव हो पाता है। दुर्ग राज्य की सुरक्षा का कवच है। जनपद अथवा भू-भाग राज्य के अस्तित्व का भैतिक आधार है। जन कल्याण के लिए भरा हुआ कोष आवश्यक है। इसके अतिरिक्त दण्ड भी राज्य का आवश्यक अंग है क्योंकि बिना भय के कानून का पालन सुनिश्चित कराना असंभव है। कौटिल्य इसमें मित्र को भी स्थान देता है। आधुनिक समय में जनसंख्या, निश्चित भू-भाग , सरकार तथा सम्प्रभुता को राज्य का अंग माना जाता है परन्तु कौटिल्य ने इसे साथ मानते हुए इसमें कोष, दुर्ग मित्र को जोड़ा है।

कौटिल्य ने राज्य को पुलिस राज्य नहीं माना है। वह राज्य के व्यापक कार्यों की वकालत करता है। उसका मानना है कि राज्य को व्यक्ति के पूर्ण विकास में सहायता करना चाहिए। उसकी मान्यता थी कि इस परम् उद्देश्य को पाने के लिये राज्य को सभी यत्न करने चाहिए। राज्य के द्वारा नागरिकों में देशभक्ति और कर्तव्य परायणता भरने के प्रयास करने चाहिए। उसका मानना था कि राज्य द्वारा जन कल्याण के सभी कार्य करने चाहिए। कौटिल्य नागरिक सुरक्षा, जनकल्याण को आवश्यक मानता था। वह विदेशी राष्ट्रों पर पैनी नजर रखने की भी वकालत करता था। कौटिल्य के अनुसार राज्य के प्रमुख कार्य निम्न है-

1. राज्य की सुरक्षा करना।
2. शांति और व्यवस्था बनाये रखना।
3. प्रजा की वाह्य और आंतरिक संकटों से रक्षा करना।
4. देश की सीमाओं का विस्तार करना।
5. कृषि को उन्नत करने का सदैव प्रयत्न करना।

6. पशुओं का संरक्षण और संवर्द्धन करने का प्रयत्न करना।

7. व्यापार को बढ़ावा देना।

8. वनों का विस्तार तथा कल-कारखानों का प्रसार करना।

9. सामाजिक, शैक्षणिक कार्यों को करना।

5 .8 कौटिल्य की विदेश नीति: मण्डल सिद्धांत और विजिगीषु

कौटिल्य की विदेशनीति सम्बन्धी सर्वाधिक प्रसिद्ध अवधारणा 'मण्डल सिद्धांत' (Mandala Theory/Rajamandala) है, जिसका विस्तृत विवेचन अर्थशास्त्र के सप्तम अधिकरण में प्राप्त होता है। 'मण्डल' शब्द का अर्थ है 'वर्तुल/चक्र' कौटिल्य अंतरराष्ट्रीय सम्बन्धों को राज्यों के एक ज्यामितीय वर्तुल के रूप में चित्रित करते हैं, जिसके केन्द्र में 'विजिगीषु' (Vijigishu) अर्थात विजय की इच्छा रखने वाला, विस्तारवादी केन्द्रीय शासक स्थित होता है। ध्यातव्य है कि मण्डल की यह अवधारणा सर्वथा नवीन नहीं थी इसके पूर्व संकेत मनुस्मृति तथा ऋग्वेद में भी अल्प रूप में पाए जाते हैं, परन्तु कौटिल्य ने इसे एक सुव्यवस्थित, विश्लेषणात्मक राजनीतिक भूगोल (political geometry) के रूप में विकसित किया। कौटिल्य ने पड़ोसी राज्यों से संबंध संचालन को मंडल सिद्धान्त के नाम से तथा अन्य विदेशी राज्यों के साथ संबंध संचालन को षाडगुण्य नीति के नाम से अभिव्यक्त किया। कौटिल्य का मण्डल सिद्धान्त प्राचीन भारतीय ग्रन्थों पर आधारित है। यह राम राज्य में प्रचलित ''दिग्विजय सिद्धान्त'' पर आधारित है। मण्डल का अर्थ ''राज्यों का वृत्त'' होता है। यह एक प्रकार की रणनीति है जिसमें विषय की आकांक्षा रखने वाला राज्य अपने चारों ओर के अन्य राज्यों को मण्डल मानता है। मण्डल सिद्धान्त एक बारह राज्यों के वृत्तों पर आधारित है। इसके अन्तर्गत मण्डल का केन्द्र ऐसा राज्य होता है जो पड़ोसी राज्य को जीतकर अपने में मिलाने का प्रत्यत्नशील रहता है। इसे वह विजिगीषु राजा कहता है। मंडल में बारह राज्य होते है- विजिगीषु, अरि, मित्र, मित्रमित्र, अरि मित्रमित्र, पार्ष्णिग्राहा, आक्रंद, पार्ष्णिग्रालसार, आंक्रादासार, मध्यम और उदासीन।

कौटिल्य के अनुसार विजिगीषु मंडल के मध्य रहता है। अरि, मित्र, अरिमित्र, मित्र मित्र और अरिमित्र ये पांच राज्य विजीगीषु के सामने तथा पाष्णिग्राह, आंक्रद, पार्ष्णिग्राहासार और आंक्रादासार ये चार राज्य के पीछे रहते है। शेष दो राज्य मध्यम एवं उदासीन बगल में रहते हैं। कौटिल्य के मण्डल सिद्धान्त के बारह राज्यों का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता हैः-

5 .8.1 मण्डल के चार प्रमुख राज्य

कौटिल्य के अनुसार विजिगीषु के दृष्टिकोण से मण्डल में स्थित अन्य राज्यों को चार प्रमुख श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है:

- विजिगीषु (Vijigishu) — विजय की इच्छा रखने वाला केन्द्रीय शासक, जो मण्डल के केन्द्र में स्थित है।
- अरि (Ari) — विजिगीषु का स्वाभाविक शत्रु, जिसकी सीमा विजिगीषु से प्रत्यक्षतः मिलती है।
- मध्यम (Madhyama) — विजिगीषु एवं अरि दोनों की सीमा से सटा हुआ, परन्तु दोनों से अधिक शक्तिशाली राज्य।
- उदासीन (Udasina) — विजिगीषु, अरि एवं मध्यम तीनों से दूर स्थित, तथा तीनों से अधिक शक्तिशाली, तटस्थ राज्य।

इस वर्गीकरण का मूल सिद्धांत यह है: 'समीपवर्ती राज्य स्वाभाविक शत्रु है, तथा शत्रु का शत्रु (अर्थात पड़ोसी का पड़ोसी) स्वाभाविक मित्र है।' यह सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित है कि सीमावर्ती राज्यों के मध्य भूक्षेत्र, संसाधन एवं प्रभाव हेतु प्रतिस्पर्धा स्वाभाविक है, जिससे शत्रुता उत्पन्न होती है, जबकि दूरस्थ राज्य, जिनकी शत्रु से भी प्रतिस्पर्धा है, स्वाभाविक रूप से मित्रराज्य की भूमिका में आ जाते हैं।

5 .8.2 मण्डल के बारह राज्य

1.विजिगीषु राज्यः- अपने राज्य के विस्तार की आकांक्षा रखने वाला विजिगीषु कहलाता है। इसका स्थान मंडल के केन्द्र में होता है।

2.अरिः- विजिगीषु के सामने वाला राज्य जो उसका शत्रु होता है अरि कहलाता हे।

3.मित्रः- अरि के सामने का राजा मित्र कहलाता है। यह विजिगीषु का मित्र और अरि का शत्रु होता है।

4.अरिमित्रः- मित्र के सामने वाला राज्य अरिमित्र कहलाता है। यह अरि का मित्र और विजिगीषु का शत्रु होता है।

5.मित्रमित्रः- अरिमित्र के सामने वाला राज्य मित्रमित्र कहलाता है। मित्र राज्य का मित्र होता है। यही कारण है कि वह विजिगीषु राज्य के साथ भी उसकी मित्रता होती है।

6.अरि मित्रमित्रः- मित्रत्रमित्र के सामने वाला राज्य अरि मित्र-मित्र कहलाता है क्योंकि वह अरिमित्र राज्य का मित्र होता है। अतः अरि राज्य के साथ उसका संबंध मित्रता का रहता है।

7.पार्ष्णिग्राह (पीठ का शत्रु)- विजिगीषु के पीछे जो राज्य रहता है वह पार्ष्णिग्राह कहलाता है। अरि की तरह वह भी विजिगीषु का शत्रु होता है।

8.आंक्रदः- पार्ष्णिग्राह के पीछे जो राज्य होता है उसे आंक्रद कहते है वह विजिगीषु का मित्र होता है।

9.पार्ष्णिग्राहासारः- आंक्राद के पीछे वाला राज्य का पार्ण्णिग्राहासार कहलाता है। यह पार्ण्णिग्राह का मित्र होता है।

10.आंक्रादासारः- पार्ण्णिग्राहासार के पीछे वाला राज्य आंक्रदासार कहताता है। यह आंक्राद का मित्र होता है।

11.मध्यमः- मध्यम ऐसा राज्य है जिसका प्रदेश विजिगीषु और परिराज्य दोनों की सीमा से लगा होता है। दोनों से शक्तिशाली होने के कारण यह दोनों की सहायता भी करता है। जरूरत पड़ने पर यह दोनों से अलग-अलग मुकाबला भी करता है।

12.उदासीनः- राजा का प्रदेश विजिगीषु, अरि, मध्यम इन तीनों से परे पर होता है। यह शक्तिशाली होने के कारण तीनों से मुकाबला भी कर सकता है।

उक्त बारह राज्यों का समूह राज्य मण्डल कहलाता है। कौटिल्य ने इस सिद्धान्त के माध्यम से यह बताने का प्रयास किया है कि भौगोलिक आधार पर कौन मित्र तथा शत्रु हो सकते है।

5 .8.3 बारह राजा और बहत्तर तत्व

कौटिल्य इस मॉडल को और अधिक विस्तृत करते हैं प्रत्येक मुख्य राज्य (विजिगीषु, अरि, मध्यम, उदासीन) का अपना एक मित्र तथा मित्र का मित्र भी होता है, जिससे कुल बारह राजाओं की एक विस्तृत व्यवस्था निर्मित होती है। प्रत्येक राजा के पास सप्तांग के पाँच अंग (अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड,स्वामी एवं मित्र को छोड़कर) होने से साठ तत्वों (5 × 12) की गणना होती है, तथा बारह राजाओं को जोड़ने पर कुल बहत्तर तत्व (72 elements) प्राप्त होते हैं। यह अत्यंत सूक्ष्म एवं विश्लेषणात्मक वर्गीकरण यह दर्शाता है कि कौटिल्य शक्तिसम्बन्धों के विश्लेषण में अत्यंत सतर्क एवं विस्तृत दृष्टिकोण अपनाते हैं।

विद्वानों ने इस सिद्धांत की तुलना आधुनिक 'शक्तिसन्तुलन' (balance of power) के पश्चिमी सिद्धांत से की है, क्योंकि दोनों में यह मान्यता निहित है कि राज्य किसी एक शक्ति को अत्यधिक

प्रभावी होने से रोकने हेतु गठबंधननिर्माण करते हैं, तथा शक्तिसंतुलन में परिवर्तन के साथ मित्रता एवं शत्रुता के सम्बन्ध भी परिवर्तित होते रहते हैं। समकालीन सन्दर्भ में कुछ विश्लेषक भारत की विदेशनीति को विजिगीषुकेन्द्रित मण्डल के रूप में समझने का प्रयास करते हैं, यद्यपि विद्वान यह सावधानी भी बरतते हैं कि इस प्राचीन ढाँचे को आधुनिक भूराजनीति पर अत्यंत यांत्रिक ढंग से नहीं थोपा जाना चाहिए, क्योंकि कौटिल्य का मूल उद्देश्य अपनी शक्तियों एवं दुर्बलताओं के सापेक्ष आकलन हेतु एक विश्लेषणात्मक रूपरेखा प्रस्तुत करना था, न कि किसी निश्चित भौगोलिक नक्शे का निर्धारण।

5 .8.4 मण्डल सिद्धान्त का विश्लेषण:- कौटिल्य का मण्डल सिद्धान्त एक व्यवहारिक एवं दूरदर्शितापूर्ण सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त में कौटिल्य ने राज्य के चारों ओर बनने वाले मण्डल (दूसरे राज्यों के घेरा) का विश्लेषण किया है। उसके मण्डल सिद्धान्त की प्रमुख तत्व निम्न हैः-

1.कौटिल्य का मण्डल सिद्धान्त 12 राज्यों के एक केन्द्र की कल्पना करता है।

2.मण्डल सिद्धान्त में राज्यों को विशेष नाम एवं विशेष प्रकृति का उल्लेख किया गया है।

3.कौटिल्य के अनुसार यह संख्या घट बढ़ सकती है।

4.कौटिल्य के अनुसार मध्यम एवं उदासीन राज्य को छोड़कर अन्य सभी राज्यों की शक्ति लगभग समान है।

5.कौटिल्य की स्पष्ट मान्यता है कि राज्य अपने पड़ोसी का शत्रु तथा उसके पड़ोसी का मित्र होता है।

6.उसकी मान्यता है कि राज्य को पड़ोसी राज्य से सतर्क रहते हुए अपना गठबंधन बनाना चाहिए।

7.यह शक्ति संतुलन के सिद्धान्त पर आधारित है। यह राज्यों के आपसी सहयोग पर आधारित है।

कौटिल्य का मण्डल सिद्धान्त तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार स्थापित किया गया था परन्तु आज की बदली परिस्थितियों में जिसमें भूमण्डलीकरण का दौर है तथा सैनिक शक्ति की अपेक्षा आर्थिक शक्ति का महत्व बढ़ गया है , प्रांसगिक नहीं रह गया है। इसके बावजूद तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए उसकी यह महत्वपूर्ण देन है।

5 .9 षाड्गुण्य नीति और चतुर्विध उपाय

मण्डल में अपनी एवं अन्य राज्यों की सापेक्ष स्थिति का आकलन करने के पश्चात, विजिगीषु को यह निर्णय लेना होता है कि किस राज्य के साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाए। इसके लिए कौटिल्य ने 'षाड्गुण्य' (Shadgunya) अथवा छहसूत्री विदेशनीति प्रस्तुत की है, जो शक्तिसन्तुलन

की सापेक्ष स्थिति के आधार पर अपनाई जाने वाली रणनीतियों का एक व्यवस्थित कोश है। कौटिल्य ने पड़ोसी देशों के साथ व्यवहार के लिये 6 लक्षणों वाली नीति अपनाने पर बल दिया। प्राचीन भारतीय चिन्तन में भी इसके लक्षण मिलते है। मनु के विचारों में तथा महाभारत में भी इसका उल्लेख मिलता है। कौटिल्य की मान्यता थी कि विदेश नीति का निर्धारण इन छः गुणों के आधार पर करना चाहिए। कौटिल्य ने षड़गुण्य नीति को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि -''उनमें दो राजाओं का मेल हो जाना संधि, शत्रु का अपकार करना विग्रह ,उपेक्षा करना, आसन हमला करना यान आत्म सर्मपण करना संश्रय, दोनों से काम लेना द्वैधीभाव कहलाता है।''

षाड़गुण्य नीति का व्यवहारिक पक्षः- कौटिल्य ने षाड़गुण्य नीति का विकास व्यवहारिक आधार पर किया। कौटिल्य यह जानता था कि राजा अथवा राज्य को कई बार ऐसे अवसर देखने पड़ते है जब उनके सामने की चुनौती बहुत शक्तिशाली तथा कई बार चुनौती बेहद कमजोर होती है। ऐसे में राजा को परिस्थितियों के अनुसार नीति बनानी चाहिए तथा कमजोर होने पर विग्रह कर लेना चाहिए। यदि दोनों समान स्थिति में हैं तो आसन को स्वीकार कर लेना चाहिए। यदि राजा स्वयं को सक्षम एवं तैयार समझता है तो उसे यान (चढ़ाई) का सहारा लेना चाहिए। समय, परिस्थितियों के अनुसार नीति में परिवर्तन करके राष्ट्रहित को साधना चाहिए। कौटिल्य की मान्यता थी कि समय के साथ षाड़गुण्य में परिवर्तन किया जाना चाहिए।

5 .9.1 षाड्गुण्य के छह सिद्धांत

1. सन्धि (Sandhi) — शान्तिसन्धि अथवा समझौता जब स्वयं शत्रु से दुर्बल हो, तब शान्ति स्थापित कर समय एवं संसाधन प्राप्त करने की नीति । कौटिल्य के षड़गुण्य नीति का पहला एंव महत्वपूर्ण तत्व है। कौटिल्य का मत है कि यह दो राजाओं के मध्य हुआ समझौता है। यह राजा के द्वारा किया गया उपक्रम है जिसका उद्देश्य अपने को बलशाली बनाना तथा शत्रु को कमजोर करना है। कौटिल्य ने संधि के लिये निम्न आवश्यक परिस्थितियां बतायी हैः-

1.यदि राजा समझता है कि इससे उसके हित सिद्ध होंगे तथा शत्रु को हानि होगी।

2.शत्रु पक्ष के लोगों को कृपा दिखाकर अपने में शामिल करना।

3.शत्रु के साथ संधि कर उसका विश्वास हो जाये तो गुप्तचरों और विष प्रयोग से शत्रु का नाश करना।

4.उत्तम कार्यों के साथ शत्रु के उत्तम कार्यों से लाभ प्राप्त करना।

संधि के प्रकारः-कौटिल्य ने अनेक प्रकार की संधियों का उल्लेख किया है। इसमें से कुछ प्रमुख संधि इस प्रकार हैः-

हीन संधिः- हीन संधि एक विशेष प्रकार की संधि है जो बलवान राजा के साथ एक कमजोर राजा अपनी सुरक्षा और हित सवंर्धन के लिये करता है।

दंडोपनत संधिः- कौटिल्य ने इसके तीन प्रकार बताये है-

अमिष संधिः- जब पराजित राजा विजयी राजा के समक्ष अपनी सेना, धन के साथ सर्मपण कर दे तो उस संधि का अमिष संधि कहते है।

पुरूषांतर संधिः- अपने सेनापति तथा राजकुमार को विजयी राजा को सौंपकर जो संधि की जाती है उसे पुरूषंकर संधि कहते है।

अदृश्य पुरूष संधिः- यह एक विशेष संधि होती है जिसमें यह निश्चित होता है कि विजयी राजा के हित के लिये पराजित सेना या राजा उपक्रम करेगा। यह संधि अदृश्य पुरूष संधि कहलाती है।

देशोपनत संधिः- देशोपनत संधि के निम्न प्रकार होते है-

परिक्रय संधिः-यह वह संधि होती है जिसमें बलवान राजा द्वारा युद्ध में गिरफ्तार किये गये महत्वपूर्ण व्यक्तियों को धन देकर छोड़ा जाता है।

उपग्रह संधिः- यह वह संधि है जिसमें धनराशि निश्चित हो जाती है। यह किस्तवार धन अदा करने बल देती है।

सुवर्ण संधिः- सुविधानुसार निश्चित समय पर नियमित धनराशि देने की संधि सुवर्ण संधि कहलाती है।

कपाल संधिः- यह वह संधि हैं जिसमें संपूर्ण धनराशि तत्काल अदा करने की शर्त होती है। इसे कपाल संधि कहते है।

परिपणित देश संधिः- यह एक प्रकार की रणनीतिक संधि दो राज्यों के बीच होती है। इसमें दो राज्य रणनीति के तहत अलग-अलग दो राज्यों पर हमला करते है।

परिपणित काल संधिः- यह समय (काल) को आधार पर की गई संधि होती है। इसमें दो राज्य एक निश्चित समय पर कार्य करने पर सहमत होते है।

परिपणित कार्य संधिः- यह दो राज्यों के बीच एक निश्चित कार्य को करने का समझौता होता है। इसमें अपने-अपने हिस्से का कार्य तय हो जाता है।

मित्र संधिः- यह एक अलग प्रकार की संधि है जो दो मित्र राजाओं के बीच परस्पर हित पूर्ति के लिये की जाती है।

विषम संधिः- यह दो राज्यों के बीच दो अलग-अलग कार्यों को करने का समझौता है। इसमें एक राज्य हिरण्य का तथा दूसरा भूमि का कार्य करता है।

अति संधिः- यह विशेष संधि है जो उम्मीद से अधिक लाभ प्राप्त होने का प्रतीक है।

भूमि संधिः- यह दो राज्यों के बीच भूमि प्राप्त करने हेतु किया गया समझौता है। इसे भूमि संधि कहते है।

हिरण्य संधिः- यह हिरण्य लाभ के लिये की गई संधि है। यही कारण है कि इसे हिरण्य संधि कहते है।

2. विग्रह (Vigraha) — युद्ध की नीति जब स्वयं शत्रु से अधिक शक्तिशाली हो तथा आक्रमण से लाभ की सम्भावना हो । यह राजा की महत्वपूर्ण नीति है। राजा को युद्ध का सहारा तभी लेना चाहिए जब उसे लगे कि शत्रु कमजोर हो गया है। कौटिल्य ने आगे स्पष्ट किया है कि यदि विजीगीषु राजा को यह लगे कि संधि और विग्रह दोनों से ही समान लाभ प्राप्त हो रहा है तो उसे विग्रह के स्थान पर संधि का सहारा लेना चाहिए।

कौटिल्य ने स्पष्ट किया है कि युद्ध के लिये एक शक्तिशाली सेना आवश्यक है। उसने सेना के चार अंग बताये है- पैदल सैनिक, हाथी, घोड़े , रथ आदि। कौटिल्य उक्त चारों में हाथी पर अधिक बल देता था। सैनिकों की भर्ती के संबंध में वह वंशानुगत सैनिकों को अधिक महत्व देता था। वह क्षत्रियों को अधिकाधिक सेना में रखने का पक्षधर था। यदि संख्या कम हो तो वह वैश्य एवं शूद्रों को भी शामिल करने पर बल देता है।

कौटिल्य ने विजय प्राप्त करने के लिये तीन प्रकार के बल को आवश्यक बताया। ये नैतिक बल, अर्थ बल तथा कूटनीतिक बल है। इसमें से वह नैतिक बल अथवा उत्साह शक्ति पर अधिक बल देता था।

युद्ध के प्रकार - कौटिल्य ने युद्ध के निम्न प्रकार बताये है-

1.प्रकाश युद्धः- यह युद्ध किसी देश या समय को निश्चित कर किया जाता है।

2.लूट युद्धः- यह छोटी सेना को बड़ा दिखाकर किया गया युद्ध है। इसमें किलों को जलाना, लूटपाट करना, धावा बोलना आदि शामिल है।

3.तूष्णी युद्धः- विष या औषधि के माध्यम से शत्रु को नाश करने का तरीका तूष्णी युद्ध कहलाता है।

युद्ध का उपयुक्त समयः- कौटिल्य ने युद्ध की व्यापक योजना प्रस्तुत की है। उसने वर्ष के बारह महीनों का विश्लेषण कर उचित समय का वर्णन किया है। उनका मानना था कि युद्ध में अधिक समय लगने की स्थिति में पौष में, मध्यम समय लगने की स्थिति में चैत्र में, अल्प समय लगने पर जेठ युद्ध का श्रेष्ठ समय है। वह वर्षाकाल को युद्ध के लिये घातक मानता है। यदि भू-प्रदेश अनुकूल है तथा युद्ध टाला नहीं जा सकता तो इस समय भी युद्ध किया जा सकता है।

युद्ध का प्रबंध तथा नियमः- कौटिल्य युद्ध के व्यापक प्रबंध का पक्षधर था। वह मानता था कि युद्ध भूमि में सभी आवश्यकता की पूर्ति का प्रबंध युद्ध से पूर्व कर लेना चाहिए। यह सभी प्रबंध युद्ध भूमि में तैयार रहना चाहिए। इसमें आवश्यक औषधि सामग्री, वैद्य, खाने-पीने की सामग्री , रसोइयों तथा सैनिकों को खुश करने वाली महिलायें भी शामिल है। कौटिल्य युद्ध मैदान के कुछ नियम तय करता है। उसकी मान्यता है कि युद्ध में घायल सैनिकों, भागते सैनिकों तथा आत्मसमर्पण करने वाले सैनिकों पर प्रहार नहीं करना चाहिए। भयभीत एवं गिरे हुए मनोबल वाले सैनिकों को भी नहीं मारना चाहिए।

विजयी राजा के प्रकारः- कौटिल्य ने विजीगीषु राजा के तीन प्रकार बताये है-

1.धर्मविजयीः- धर्मविजयी गौरव एवं प्रतिष्ठा के लिये विजय प्राप्त करना चाहता है।वह शत्रु द्वारा आत्मसमर्पण करने से संतुष्ट हो जाता है।

2.लोभ विजयीः- लोभ विजयी वह राजा होता है जो भूमि एवं धन दोनों देने से संतुष्ट हो जाता है।

3.असुर विजयीः- असुर विजयी राजा वह होता है जो आसुरी प्रवृतियों से युक्त होता है। इसमें वह धन , भूमि, प्राण तथा स्त्री आदि को पाकर ही संतुष्ट होता है।

3. यान -

- यान का अर्थ होता है आक्रमण करना — सैन्यअभियान/कूच की नीति आक्रमण की तैयारी हेतु सेना का संगठित प्रस्था)। इस नीति को तभी अपनाया जाता है जब यह लगे कि उसकी सैनिक शक्ति मजबूत है तथा बिना आक्रमण किये शत्रु को नियन्त्रित नहीं किया जा सकता है। कौटिल्य ने अपनी पुस्तक में यान का व्यापक वर्णन किया है।

4. आसन या तटस्थता:- यह वह अवस्था है जिसमें उचित समय की प्रतीक्षा में राजा चुपचाप तटस्थ होकर बैठा रहता है। यह अपने को मजबूत करते हुए शत्रु पर आक्रमण करने के साही समय की प्रतीक्षा है। कौटिल्य ने आसन के दो प्रकार बताये हैः-

1.विग्रह आसन

2.संघाय आसन

तटस्थता/उदासीनता की नीति जब दोनों पक्षों की शक्ति लगभग सन्तुलित हो, तथा न तो युद्ध न ही सन्धि तत्काल लाभप्रद प्रतीत हो । जब दोनों राजा एक संधि कर चुपचाप बैठ जाते है तो उसे संधाय आसन कहते है। जब विजीगीषु(विजयी) और शत्रु दोनों ही सन्धि करने की इच्छा रखते है तथा परस्पर एक दूसर को नष्ट करने की शक्ति न रखते हो तो कुछ काल युद्ध कर चुप बैठ जाते है।

5. संश्रय (Samshraya) - किसी अधिक शक्तिशाली राज्य की शरण ग्रहण करने की नीति जब स्वयं की शक्ति अत्यंत दुर्बल हो । यह एक प्रकार का आश्रय या शरण है जो कमजोर राज्य बलवान राजा के यहां लेता है। यह तभी होता है जब राजा बेहद कमजोर हो तथा अपनी रक्षा करने में असमर्थ हो।

द्वैधीभाव (Dvaidhibhava) — दोहरी नीति एक शत्रु के साथ सन्धि तथा दूसरे के साथ विग्रह को साथसाथ अपनाने की कूटनीतिक चतुराई । द्वैधीभाव की नीति से कौटिल्य का आशय एक राज्य के प्रति संधि तथा दूसरे के प्रति विग्रह नीति को अपनाने की नीति है। यह राष्ट्रीय उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक से सहायता लेने तथा दूसरे से लड़ने की नीति है। वह विशेष परिस्थितियों में विशेष नीति अपनाने का पक्षधर था। विदेश नीति के संचालन में वह

साम, दाम, दण्ड, भेद आदि की नीति के अपनाने का पक्षधर था। इन चारों में वह साम (समझाना) दाम (पैसे देना) से श्रेष्ठ है तथा भेद (फूट डालना) दण्ड (युद्ध से) श्रेष्ठ है।

कौटिल्य का यह स्पष्ट निर्देश है कि इन छह नीतियों में से किसी का भी चयन यांत्रिक रूप से नहीं, अपितु अपनी शक्ति, शत्रु की शक्ति, समय एवं परिस्थिति के सूक्ष्म आकलन के आधार पर किया जाना चाहिए। यह दृष्टिकोण कौटिल्य के चिन्तन की मूलभूत प्रकृति को उजागर करता है अर्थात निश्चित नैतिक नियमों की अपेक्षा परिस्थितिसापेक्ष व्यावहारिक बुद्धि (situational pragmatism) को प्राथमिकता देता है।

5 .9.2 चतुर्विध उपाय

षाड्गुण्य नीति के साथ साथ कौटिल्य लक्ष्य प्राप्ति हेतु चार 'उपायों' (Upayas) का भी उल्लेख करते हैं, जो किसी भी रणनीति को क्रियान्वित करने के साधन हैं:

- साम (Sama) — समझाने बुझाने अथवा वार्ता द्वारा सहमति प्राप्त करना।
- दान (Dana) — उपहार/प्रलोभन द्वारा सहयोग प्राप्त करना।
- भेद (Bheda) — शत्रुपक्ष में फूट डालना अथवा विभाजन उत्पन्न करना।
- दण्ड (Danda) — बलप्रयोग अथवा सैन्यकार्रवाई, जब अन्य उपाय असफल हो जाएँ।

कौटिल्य के अनुसार एक कुशल शासक को इन उपायों का क्रमिक एवं विवेकपूर्ण प्रयोग करना चाहिए अर्थात पहले साम एवं दान का प्रयास, तत्पश्चात आवश्यकता पड़ने पर भेद, तथा अंतिम विकल्प के रूप में दण्ड। यह क्रम यह दर्शाता है कि कौटिल्य बलप्रयोग को अंतिम उपाय (last resort) मानते हैं, न कि प्रथम विकल्प यद्यपि वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि आवश्यकता पड़ने पर बलप्रयोग से संकोच नहीं किया जाना चाहिए।

5 .9.3 आलोचनात्मक मूल्यांकन

कौटिल्य के मण्डल एवं षाड्गुण्य सिद्धांतों के अकादमिक अध्ययन में कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं का ध्यान रखना आवश्यक है। प्रथम, कौटिल्य को सामान्यतः एक 'यथार्थवादी' (realist) चिन्तक माना जाता है, तथा उनकी पश्चिमी विचारक निकोलो मैकियावेली से तुलना की जाती है विशेष रूप से बलप्रयोग एवं कूटनीतिक चतुराई पर उनके बल के कारण। तथापि अनेक विद्वान यह भी इंगित करते हैं कि अर्थशास्त्र में धर्म एवं प्रजाकल्याण (योगक्षेम) का उल्लेख निरंतर होता रहता है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि कौटिल्य का यथार्थवाद पूर्णतः नैतिकताविहीन नहीं है—अतः कुछ विद्वान उनके चिन्तन को 'यथार्थवाद एवं आदर्शवाद का मिश्रण' (a mix of idealism and realism) मानते हैं।

द्वितीय, मण्डल सिद्धांत की यह मूल मान्यता कि 'पड़ोसी राज्य स्वाभाविक शत्रु है' सार्वभौमिक नियम के रूप में सीमित आलोचना का विषय भी रही है समकालीन अंतरराष्ट्रीय सम्बन्ध सिद्धांत में सहयोग, क्षेत्रीय एकीकरण एवं पारस्परिक निर्भरता जैसी परिघटनाएँ भी देखी जाती हैं, जो इस पूर्णतः संघर्षकेन्द्रित मॉडल से भिन्न हैं। तृतीय, समकालीन सामरिक विश्लेषकों द्वारा मण्डल सिद्धांत को आधुनिक भारतीय विदेशनीति पर सीधे आरोपित करने के प्रयासों में सावधानी आवश्यक है, क्योंकि कौटिल्य का मूल प्रयोजन एक विश्लेषणात्मक रूपरेखा प्रदान करना था, किसी विशिष्ट कालातीत भौगोलिक संरचना का निर्धारण नहीं। तथापि यह असंदिग्ध है कि मण्डल सिद्धांत एवं षाड्गुण्य नीति प्राचीन भारतीय कूटनीतिक चिन्तन की सर्वाधिक सुसंगत एवं विश्लेषणात्मक उपलब्धि है, जिसका तुलनात्मक अध्ययन आधुनिक अंतरराष्ट्रीय सम्बन्ध सिद्धांत के साथ निरंतर किया जाता रहा है।

6.9 कौटिल्य एवं मैकयावेली

कौटिल्य ने पुस्तक "अर्थशास्त्र" तथा मैकियावेली ने अपनी पुस्तक ''दि प्रिंस'' में अपने राजनीतिक विचारों का उल्लेख किया है। कुछ पाश्चात्य विचारक कौटिल्य को मैकियावेली का अग्रदूत मानते है तथा उसकी तुलना मैकियावेली से करते है। कौटिल्य एवं मैकियावेली में अनेक स्थानों पर समानता दिखती है तथा अनेक स्थान पर असमानता दिखती है। मैकियावेली से समानता वाले प्रमुख तत्व निम्न है-

1. दोनों राजा को असीमित शक्तियाँ देने के पक्षधर है। वे राजा को सर्वोच्च निर्णायक मानते है।
2. दोनों ही राज्य की एकता एवं विस्तारवादी नीति के समर्थक हैं।
3. दोनों ने युद्ध को राज्य की विस्तार एवं विदेश नीति का प्रमुख आधार माना है।
4. दोनों ही कठोर राष्ट्रवादी थे। वे राज्य की एकता स्थापित करने के पक्षधर थे।
5. दोनों ही यर्थाथवादी थे। दोनों के राजनीतिक सिद्धान्त यर्थात पर आधारित थे।
6. दोनों ही विदेश नीति पर बड़ा बल दिया। दोनों ही पड़ोसी राज्य को शंका से देखते हैं।
7. दोनों ने गुप्तचर पर विशेष बल दिया। दोनों गुप्तचरों को राज्य की आंख एवं कान माना। दोनों ने गुप्तचरों का विस्तृत विवेचन किया है।
8. दोनों ने राज्य के उद्देश्य की पूर्ति के लिये नैतिकता के उल्लघंन को सही ठहराया है। इसके लिये साम, दाम, दण्ड, भेद की नीति को सही ठहराया है।

कौटिल्य और मैकियावेली में अंतरः- कौटिल्य एवं मैकियावेली में कुछ बिन्दुओं पर अंतर दिखता हैः-

1.कौटिल्य एक आचार्य था। वह सादा एवं संयमित जीवन का समर्थक था। वही मैकियावेली न तो आचार्य था और न ही सन्यासी था।

2.कौटिल्य ने "अर्थशास्त्र" अपने लक्ष्य की प्राप्ति अर्थात मौर्य वंश की स्थापना के बाद की वहीं मैकियावेली ने इसकी रचना अपने जीवन के निराशाजनक पल में की थी। उसने प्रिंस की रचना तब की जब वह राजनीतिक रूप से निष्कासित हो चुका था।

3.प्रिंस केवल राजनीति से सम्बन्धित है जबकि "अर्थशास्त्र" राजनीति तथा मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से जुड़ी है।

4.मैकियावेली मानव के प्रति नकरात्मक दृष्टिकोण रखता है जबकि कौटिल्य का दृष्टिकोण निराशाजनक नहीं है।

5.मैकियावेली का मुख्य उद्देश्य राज्य की सुरक्षा को बनाये रखना है जबकि कौटिल्य का उद्देश्य व्यापक राज्य एवं शासन व्यवस्था का प्रतिपादन करना है।

6.कौटिल्य परम्परावादी है जबकि मैकियावेली आधुनिक है। कौटिल्य राजतन्त्र का समर्थन करता है जबकि मैकियावेली ने राष्ट्रवाद का बीजारोपण किया है।

7.कौटिल्य ने विदेश नीति पर प्रकाश डाला है। इसके लिये राजदूत आदि का व्यापक वर्णन किया है। जबकि मैकियावेली में इसका अभाव है।

5 .10 सारांश

कौटिल्य का अर्थशास्त्र प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन का एक अत्यंत व्यवस्थित एवं यथार्थवादी ग्रंथ है, जो राज्य की उत्पत्ति, प्रकृति एवं विदेशनीति का विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत करता है। राज्य की उत्पत्ति की व्याख्या मात्स्यन्याय की अव्यवस्थाअवस्था से होती है, जिसमें प्रजा ने मनु वैवस्वत को अपना प्रथम राजा निर्वाचित किया, ताकि वह सुरक्षा एवं व्यवस्था (योगक्षेम) प्रदान करे, तथा इसके प्रतिफल में राजस्व प्राप्त करे। राज्य की प्रकृति को कौटिल्य ने सप्तांग सिद्धांत के माध्यम से स्पष्ट किया है, जिसमें राज्य को स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड एवं मित्र—इन सात परस्परनिर्भर अंगों से निर्मित एक सावयव संरचना के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जिसका अंतिम उद्देश्य प्रजा का योगक्षेम है।

कौटिल्य की विदेशनीति सम्बन्धी चिन्तन मण्डल सिद्धांत में प्रतिबिम्बित होता है, जिसमें विजिगीषु (केन्द्रीय शासक) के दृष्टिकोण से अन्य राज्यों को अरि, मध्यम एवं उदासीन की श्रेणियों में वर्गीकृत किया जाता है, तथा 'पड़ोसी राज्य स्वाभाविक शत्रु है' के सिद्धांत पर आधारित बारह राजाओं एवं बहत्तर तत्वों का एक विस्तृत मॉडल प्रस्तुत किया जाता है। इस मॉडल के अंतर्गत क्रियान्वयन हेतु

षाड्गुण्य नीति (सन्धि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय, द्वैधीभाव) तथा चतुर्विध उपाय (साम, दान, भेद, दण्ड) प्रस्तुत किए गए हैं, जो शक्तिसापेक्ष परिस्थिति के अनुसार अपनाए जाते हैं। कौटिल्य का सम्पूर्ण चिन्तन यथार्थवाद एवं नैतिकता (धर्म, योगक्षेम) के मध्य एक सूक्ष्म सन्तुलन प्रस्तुत करता है, जिससे यह न तो पूर्णतः निर्मम सत्ताकेन्द्रित दृष्टिकोण है, न ही मात्र आदर्शवादी उपदेश—अपितु एक व्यावहारिक, अनुभवसिद्ध राजनीतिक दर्शन है, जिसकी प्रासंगिकता समकालीन शासन एवं कूटनीतिक चिन्तन में आज भी अनुभव की जाती है।

5 .11 अभ्यास प्रश्न

1. 'मात्स्यन्याय' शब्द का क्या अर्थ है?

(अ) मछलियों के अधिकार

(ब) जलसंसाधनों का न्यायपूर्ण वितरण

(स) बलवान द्वारा दुर्बल का शोषण (बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है)

(द) नदीतटीय बस्तियों का संगठन

2. अर्थशास्त्र के अनुसार प्रथम राजा के रूप में किसे नियुक्त किया गया था?

(अ) पृथु

(ब) मनु वैवस्वत

(स) इन्द्र

(द) चन्द्रगुप्त

3. सप्तांग सिद्धांत में राज्य के कितने अंग बताए गए हैं?

(अ) सात

(ब) पाँच

(स) नौ

(द) चार

4. सप्तांग में 'दुर्ग' का क्या अर्थ है?

(अ) मंत्रीपरिषद

(ब) राजकोष

(स) सैन्यबल

(द) किलेबन्द राजधानी/सुरक्षास्थल

5. कौटिल्य के अनुसार राज्य का अंतिम उद्देश्य क्या है?

(अ) अधिकाधिक भूक्षेत्र का विस्तार

(ब) कोष की अधिकतम वृद्धि

(स) योगक्षेम (प्रजा की समृद्धि एवं सुरक्षा)

(द) मित्रराज्यों की संख्या में वृद्धि

6. मण्डल सिद्धांत में केन्द्रीय, विजय इच्छुक शासक को क्या कहा गया है?

(अ) अरि

(ब) विजिगीषु

(स) मध्यम

(द) उदासीन

7. षाड्गुण्य नीति में 'सन्धि' का क्या अर्थ है?

(अ) शान्तिसन्धि/समझौता

(ब) युद्ध की घोषणा

(स) सैन्यअभियान

(द) किसी शक्तिशाली राज्य की शरण ग्रहण करना

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. (स), 2. (ब), 3. (अ), 4. (द), 5. (स), 6. (ब), 7. (अ)

5 .13 शब्दावली

अर्थशास्त्र (Arthashastra)-कौटिल्य द्वारा रचित राज्यशासन, अर्थव्यवस्था एवं कूटनीति का प्रसिद्ध ग्रंथ 15 अधिकरणों, 15 0 प्रकरणों एवं लगभग 6000 श्लोकों में विभाजित।

मात्स्यन्याय (Matsyanyaya)- शाब्दिक अर्थ 'मछलियों का न्याय'—अर्थात बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है राज्यशून्य अवस्था में व्याप्त अव्यवस्था एवं बलप्रधान अराजकता की स्थिति।

सप्तांग सिद्धांत (Saptanga Theory)-राज्य के सात अंगों/प्रकृतियों (स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड, मित्र) का सिद्धांत राज्य को एक जीवंत, अंगों से युक्त संरचना के रूप में प्रस्तुत करता है।

स्वामी (Svami)- राजा/शासक सप्तांग में प्रथम एवं केन्द्रीय अंग, जिस पर शेष सभी अंगों की कार्यक्षमता निर्भर करती है।

योगक्षेम (Yogakshema)-प्रजा की समृद्धि (योग) एवं सुरक्षा (क्षेम) राज्य के अस्तित्व का अंतिम उद्देश्य एवं राजा का परम कर्तव्य।

राजधर्म (Rajadharma)-राजा का कर्तव्यधर्म प्रजापालन, न्याय एवं सुरक्षा प्रदान करने का नैतिक एवं राजनीतिक उत्तरदायित्व।

मण्डल सिद्धांत (Mandala Theory/Rajamandala)-राज्यों के वर्तुल (circle of states) के रूप में अंतरराष्ट्रीय सम्बन्धों की व्याख्या अर्थशास्त्र के सप्तम अधिकरण में वर्णित।

विजिगीषु (Vijigishu)- विजय की इच्छा रखने वाला केन्द्रीय शासक, जो मण्डल सिद्धांत के केंद्र में स्थित होता है तथा जिसके दृष्टिकोण से अन्य राज्यों का वर्गीकरण किया जाता है।

अरि (Ari)-विजिगीषु का स्वाभाविक शत्रु सीमावर्ती राज्य, जिसकी सीमा विजिगीषु से मिलती है।

मध्यम (Madhyama)- विजिगीषु एवं अरि दोनों की सीमा से लगा हुआ, परन्तु दोनों से अधिक शक्तिशाली राज्य।

उदासीन (Udasina)-विजिगीषु, अरि एवं मध्यम तीनों से दूर स्थित तथा तीनों से अधिक शक्तिशाली, तटस्थ राज्य।

षाड्गुण्य (Shadgunya)-विदेशनीति के छह सिद्धांत सन्धि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय एवं द्वैधीभाव जो शक्तिसन्तुलन के आधार पर अपनाए जाते हैं।

सन्धि (Sandhi)-शान्तिसन्धि अथवा समझौता दुर्बल अवस्था में शत्रु से शान्ति स्थापित करने की नीति।

विग्रह (Vigraha)-युद्ध की नीति जब स्वयं की शक्ति शत्रु से अधिक हो, तब अपनाई जाने वाली रणनीति।

आसन (Asana) -उदासीनता अथवा तटस्थता की नीति जब दोनों पक्ष सन्तुलित शक्ति में हों।

यान (Yana)-सैन्य अभियान/कूच की नीति आक्रमण की तैयारी हेतु सेना का प्रस्थान।

संश्रय (Samshraya)-किसी शक्तिशाली राज्य की शरण/संरक्षण ग्रहण करने की नीति दुर्बल अवस्था में आत्मसुरक्षा हेतु अपनाई जाती है।

द्वैधीभाव (Dvaidhibhava)-द्विनीति अथवा दोहरी रणनीति एक शत्रु से सन्धि एवं दूसरे से विग्रह को साथसाथ अपनाने की कूटनीतिक चतुराई।

उपाय (Upaya)-लक्ष्यप्राप्ति की चार युक्तियाँ साम (समझाना), दान (उपहार), भेद (फूट डालना) एवं दण्ड (बलप्रयोग)।

दण्डनीति (Dandaniti)-दण्ड एवं बल के माध्यम से शासनव्यवस्था को संचालित करने की नीति अर्थशास्त्र की वैचारिक नींव।

मनु वैवस्वत (Manu Vaivasvata)-अर्थशास्त्र में वर्णित प्रथम राजा, जिसे जनता ने मात्स्यन्याय की अवस्था से मुक्ति हेतु निर्वाचित/नियुक्त किया।

5 .14 निबंधात्मक प्रश्न

1. कौटिल्य के अनुसार राज्य की उत्पत्ति की व्याख्या करते हुए मात्स्यन्याय की अवधारणा एवं इसकी हॉब्सीय राज्य सिद्धांत से तुलना प्रस्तुत कीजिए।

2. सप्तांग सिद्धांत के सात अंगों का विस्तृत विवेचन करते हुए राज्य को एक सावयव (organic) संरचना के रूप में प्रस्तुत करने के औचित्य की समीक्षा कीजिए।

3. कौटिल्य की मण्डल सिद्धांत की विवेचना करते हुए विजिगीषु, अरि, मध्यम एवं उदासीन राज्यों के मध्य सम्बन्धों की व्याख्या कीजिए तथा इसकी आधुनिक 'शक्तिसन्तुलन' सिद्धांत से तुलना कीजिए।

4. षाड्गुण्य नीति के छह सिद्धांतों एवं चतुर्विध उपायों का विश्लेषण करते हुए कौटिल्य के कूटनीतिक चिन्तन में यथार्थवाद एवं व्यावहारिक बुद्धि की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।

5. 'कौटिल्य का राज्यसिद्धांत यथार्थवाद (realism) एवं नैतिकता (धर्म/योगक्षेम) का एक सुसंगत समन्वय प्रस्तुत करता है।' इस कथन की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।

5 .15 संदर्भ ग्रंथ सूची

- Kangle, R. P. (ed. & tr.), The Kautilīya Arthaśāstra, 3 Parts, Bombay: University of Bombay, 196065.
- Shamasastry, R. (tr.), Kautilya's Arthashastra, Bangalore: Government Press, 1915.
- Boesche, Roger, The First Great Political Realist: Kautilya and His Arthashastra, Lanham: Lexington Books, 2002.
- Boesche, Roger, 'Kautilya's Arthaśāstra on War and Diplomacy in Ancient India,' The Journal of Military History, 67(1), 2003, pp. 937.
- Trautmann, Thomas R., Arthashastra: The Science of Wealth, New Delhi: Penguin Books India, 2012.
- Modelski, George, 'Kautilya: Foreign Policy and International System in the Ancient Hindu World,' American Political Science Review, 55 (3), 1964, pp. 549560.
- Olivelle, Patrick (tr.), King, Governance, and Law in Ancient India: Kautilya's Arthashastra, Oxford: Oxford University Press, 2013.
- Sharma, R. S., Aspects of Political Ideas and Institutions in Ancient India, Delhi: Motilal Banarsidass, 1959.
- Sharma, Raj Kumar, Kautilya Mandala Theory, Unit5 , IGNOU Study Material, New Delhi: IGNOU.
- Altekar, A. S., State and Government in Ancient India, Delhi: Motilal Banarsidass, 1949.

- बंद्योपाध्याय, मनोरंजन (अनु.), कौटिल्य अर्थशास्त्र, नई दिल्ली: संस्कृत पुस्तक भण्डार, 2001।
- वर्मा, वी. पी., भारतीय राजनीतिक चिन्तन, आगरा: लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, (विविध संस्करण)।
- झा, गंगानाथ, भारतीय राज्यशास्त्र, इलाहाबाद: हिन्दुस्तानी एकेडमी, (विविध संस्करण)।

इकाई : 6 कौटिल्य का चिंतन : शासन एवं प्रशासन : राजा के कर्तव्य , गुप्तचर एवं मंत्री

इकाई की संरचना

6.1 प्रस्तावना
6.2 उद्देश्य
6.3 प्रशासनिक व्यवस्था
6.4 कानून एवं न्याय संबंधी विचार
6.5 दण्ड एवं गुप्तचर संबंधी विचार
6.6 कौटिल्य के अनुसार राजा का स्थान एवं महत्व
6.7 कौटिल्य के अनुसार आदर्श राजा के गुण
6.8 कौटिल्य के अनुसार राजा के कर्तव्य
6.9 कौटिलय एवं यूनानी विचारक
6.10 सारांश
6.11 शब्दावली
6.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
6.13 संदर्भ ग्रन्थ सूची
6.14 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री
6.15 निबंधात्मक प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारकों में कौटिल्य का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। साधारण ब्राहमण परिवार में जन्म के बावजूद अपनी योग्यता,मेधा,क्षमता तथा साहस से न केवल अपना मुकाम स्थापित किया वरन् अपनी संगठन क्षमता, कूटनीति, शौर्य से नंदवंश का नाश किया। उन्होंने अपनी दूरदृष्टि से नंदवंश के अत्याचार से भारतीय जनमानस को मुक्त कराया साथ ही चन्द्रगुप्त मौर्य को स्थापित करते हुए भारतीय राजनीतिक एकीकरण के द्वारा एक सशक्त राजनीतिक सत्ता की स्थापना की।

विद्वानों का मत था कि कौटिल्य का जन्म 400 ई0 पूर्व तक्षशिला के एक गरीब परिवार में हुआ था। उनको कई नामों से पुकारा जाता था जिसमें विष्णुगुप्त, चाणक्य, कौटिल्य प्रमुख थें। कौटिल्य ने नालंदा विश्वविद्यालय में शिक्षा ग्रहण की। शिक्षा समाप्त होने के साथ वह वहीं प्राध्यापक हो गये। समा्रट महानंद द्वारा सभा में किये गये अपमान ने उसे न केवल झकझोर दिया वरन् उसे सक्रिय

राजनीति में धकेल दिया। नन्द बंश के नाश होने के बाद मौर्य वंश की स्थापना हुई। सिकन्दर के जाने के बाद कौटिल्य ने पंजाब के राजाओं से मैत्री कर यूनानियों को देश से निकाल दिया।

भारतीय राजनीतिक दर्शन में कौटिल्य का महत्वपूर्ण स्थान है। कौटिल्य ने अपनी कृति ''अर्थशास्त्र'' के द्वारा शासन संचालन , राजा के अधिकार , कर्तव्य का व्यापक चित्रण किया है। उसने प्रजा हित के लिये राजा को कठोर परिश्रम एवं कड़े नियम बनाने की वकालत की। वह प्राचीन भारत का संभवतः पहला विद्वान था जिसने राजनीतिक सिद्धान्तों का वर्णन किया। कौटिल्य के द्वारा प्रस्तुत साप्तांग सिद्धान्त ,मण्डल सिद्धान्त तथा षाडगुण्य सिद्धान्त राजनीति शास्त्र को उसकी अमूल्य देन है। उन्होंने अपने ग्रन्थ ''अर्थ शास्त्र'' में इन सिद्धान्तों का वर्णन किया है। उनके ग्रन्थ में प्रन्द्रह अधिकरण एक सौ अस्सी प्रकरण , एक सौ पचास अध्याय तथा छः हजार श्लोक है। इसमें राजनीति के अतिरिक्त , दर्शन,शिक्षाशास्त्रों, नीति शास्त्र, सैन्य शास्त्र, रसायन शास्त्र , इंजीनियरिंग आदि का वर्णन किया गया है।

6.2 उद्देश्य

इकाई के उद्देश्यः- इकाई के निम्न उद्देश्य है-

•कौटिल्य के प्रशासनिक दृष्टिकोण का मूल्यांकन कर सकेंगे।

•राजा के महत्व एवं भूमिका का विश्लेषण कर सकेंगे।

•राजा के गुणों एवं कर्तव्यों का वर्णन कर सकेंगे।

6.3 प्रशासनिक व्यवस्था

कौटिल्य के राजनीतिक चिंतन में प्रशासनिक व्यवस्था (Administrative System) का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। कौटिल्य का मानना था कि किसी भी राज्य की वास्तविक शक्ति केवल उसके राजा, सेना या भौतिक संसाधनों पर निर्भर नहीं करती बल्कि एक सुव्यवस्थित, संगठित, अनुशासित तथा उत्तरदायी प्रशासनिक तंत्र पर भी आधारित होती है। उनके अनुसार यदि प्रशासन मजबूत, दक्ष और पारदर्शी हो, तो राज्य में शांति, सुरक्षा, आर्थिक समृद्धि और सामाजिक संतुलन बनाए रखा जा सकता है। इसके विपरीत यदि प्रशासन कमजोर, भ्रष्ट या अव्यवस्थित हो जाए, तो राज्य की समस्त व्यवस्था प्रभावित होने लगती है। ऐसी स्थिति में कानून व्यवस्था बिगड़ सकती है, जनता में असंतोष बढ़ सकता है और राज्य की स्थिरता भी खतरे में पड़ सकती है। इस प्रकार कौटिल्य प्रशासन को राज्य की रीढ़ मानते हैं, जिसके बिना सुशासन की कल्पना संभव नहीं है।

कौटिल्य ने अपनी प्रसिद्ध कृति अर्थशास्त्र में प्रशासन के विभिन्न पक्षों जैसे प्रशासनिक संगठन, अधिकारियों की नियुक्ति, कार्य विभाजन, नियंत्रण, निरीक्षण, लेखा परीक्षण तथा जवाबदेही पर विस्तार से विचार प्रस्तुत किए हैं। उनके अनुसार प्रशासन का उद्देश्य केवल शासन के आदेशों को

लागू करना नहीं है, बल्कि राज्य के प्रत्येक अंग को सक्रिय, समन्वित और प्रभावी बनाए रखना भी है। राजा चाहे कितना ही योग्य क्यों न हो, यदि प्रशासनिक व्यवस्था कमजोर होगी तो उसकी नीतियाँ सफल नहीं हो पाएँगी। इसलिए कौटिल्य ने प्रशासन को शासन और राज्य संचालन का अनिवार्य उपकरण माना है।

प्रशासनिक व्यवस्था से आशय राज्य के उन सभी संस्थागत ढाँचों, अधिकारियों, विभागों तथा प्रक्रियाओं से है जिनके माध्यम से शासन के कार्य संपादित किए जाते हैं। यह व्यवस्था राज्य को कार्यशील बनाती है और शासन की नीतियों को व्यवहार में परिवर्तित करती है। प्रशासन के अंतर्गत नीति निर्माण, आदेशों का क्रियान्वयन, कानून व्यवस्था की स्थापना, कर संग्रह, न्याय वितरण, सुरक्षा प्रबंधन तथा जनकल्याण संबंधी कार्य सम्मिलित होते हैं। सरल शब्दों में प्रशासन वह माध्यम है जिसके द्वारा राज्य अपनी शक्ति का प्रयोग करता है और प्रजा तक शासन के लाभ पहुँचाता है।

कौटिल्य के अनुसार एक प्रभावी प्रशासन वही है जिसमें प्रत्येक अधिकारी का कार्य स्पष्ट रूप से निर्धारित हो तथा अधिकार और उत्तरदायित्व के बीच संतुलन बना रहे। उन्होंने स्पष्ट कार्य विभाजन पर विशेष बल दिया ताकि प्रशासनिक कार्यों में भ्रम, अव्यवस्था और अधिकारों का टकराव उत्पन्न न हो। जब प्रत्येक अधिकारी अपने दायित्व और सीमाओं को समझता है, तब कार्य अधिक दक्षता और गति से संपन्न होते हैं। इसके साथ ही अधिकारियों की जिम्मेदारी तय होना भी आवश्यक है, क्योंकि जवाबदेही के बिना प्रशासन में शिथिलता और भ्रष्टाचार बढ़ने की संभावना रहती है।

कौटिल्य ने प्रशासन में अनुशासन और नियंत्रण को भी अत्यंत आवश्यक माना है। उनके अनुसार राज्य व्यवस्था को सुचारु बनाए रखने के लिए प्रशासनिक कर्मचारियों पर सतत निगरानी आवश्यक है। यदि नियंत्रण कमजोर हो जाए तो अधिकारी अपने अधिकारों का दुरुपयोग कर सकते हैं। इस कारण उन्होंने निरीक्षण, गुप्तचर व्यवस्था, लेखा परीक्षण और नियमित समीक्षा जैसे उपायों पर बल दिया। ये व्यवस्थाएँ प्रशासनिक दक्षता बनाए रखने के साथ-साथ भ्रष्टाचार पर नियंत्रण स्थापित करने में सहायक होती हैं।

भ्रष्टाचार को कौटिल्य ने प्रशासन का सबसे बड़ा शत्रु माना है। उनका प्रसिद्ध कथन है कि जैसे पानी में तैरती मछली कब पानी पीती है यह जानना कठिन है, उसी प्रकार अधिकारी कब और कैसे राजकोष का दुरुपयोग करते हैं, यह जानना भी कठिन है। इस कथन से स्पष्ट होता है कि कौटिल्य मानव स्वभाव और प्रशासनिक चुनौतियों की गहरी समझ रखते थे। इसलिए उन्होंने भ्रष्टाचार रोकने के लिए कठोर निगरानी, दंड व्यवस्था और गुप्त परीक्षण की व्यवस्था का समर्थन किया।

अंततः कौटिल्य के प्रशासनिक चिंतन का केंद्रीय उद्देश्य जनता के हितों की रक्षा करना था। उनके अनुसार प्रशासन तभी सफल माना जाएगा जब वह प्रजा की सुरक्षा, न्याय, आर्थिक विकास और

कल्याण सुनिश्चित करे। प्रशासन का अंतिम लक्ष्य केवल शासन नियंत्रण नहीं बल्कि लोककल्याण होना चाहिए। इस प्रकार कौटिल्य की प्रशासनिक व्यवस्था शक्ति, अनुशासन, जवाबदेही और जनहित के संतुलन पर आधारित एक अत्यंत विकसित और व्यावहारिक मॉडल प्रस्तुत करती है, जिसकी प्रासंगिकता आज के आधुनिक प्रशासनिक अध्ययन में भी स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

राजा एवं मंत्रिपरिषद के अतिरिक्त प्रशासनिक व्यवस्था के व्यवहारिक संचालन के संबंध में कौटिल्य ने स्पष्ट विचार रखे है। कौटिल्य 'प्रजा प्रेमी' राज्य की कल्पना करता है। जिसमें शासन का मुख्य उद्देश्य जन कल्याण करना है। यही कारण है कि बड़े कार्यों के संचालन के लिये अनेक प्रशासनिक सहयोगियों की आवश्यकता पर बल देता है। वह राजा को सम्पूर्ण प्रशासन का प्रधान मानता है परन्तु प्रशासन हेतु अठारह (18) अन्य प्रशासनिक अधिकारियों का वर्णन करता है। कौटिल्य ने उन्हें अठारह तीर्थों की संज्ञा दी है। ये अठारह तीर्थ इस प्रकार हैः-

1.मंत्रीः- राज्य प्रशासन में राजा के बाद मंत्री का प्रमुख स्थान होता है। मंत्री राजा का विश्वस्त व्यक्ति होता है। वह राजा को परामर्श देता है।

2.पुरोहितः- राज्य प्रशासन में मंत्री के बाद पुरोहित का स्थान होता है। पुरोहित राजा को धर्म एवं नीति के संबंध में संकेत देता है।

3.सेनापतिः- सेनापति की राज्य के प्रशासन में महत्वपूर्ण भूमिका होती है। वह सेना का प्रधान होता है। वह सेना का गठन करता है तथा संकट के समय में सेना का संचालन करता है।

4.दौवारिकः- दौवारिक राजमहल में रक्षकों का प्रधान होता है। उसी के द्वारा राजा के पास कोई प्रार्थना पत्र पहुंचता है।

5.अंतर्वेशिकः- अंतर्वेशिक राजा का अंतपुर में प्रधान अंगरक्षक होता है। राजा की बीमारी की अवस्था में वह राजा की दिनचर्या से संबंधित कार्यों का संपादन करता है।

6.प्रशास्ताः- प्रशास्ता एक पदाधिकारी होता है जो सेना को नियन्त्रण में रखता है। वह शंति और व्यवस्था के लिये जिम्मेदार होता है।

7.युवराजः- युवराज राजा का ज्येष्ठ पुत्र और राज्य का उत्तराधिकारी होता है।

8.समाहतीः- कौटिल्य की प्रशासनिक व्यवस्था में समाहती को एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उसका स्थान वित्तमंत्री के समान है। उसका मुख्य कार्य वार्षिक बजट प्रस्तुत करना होता है। वह सम्पूर्ण आय-व्यय का लेखा-जोखा रखता है। वह राज्य के आय को बढ़ाने के लिये कर लगाने तथा उसकी वसूली की व्यवस्था करता है।

9.सन्निधाताः- सन्निधाता राज्य का एक उच्च पदाधिकारी होता है। वह राजकोष का अध्यक्ष होता है। उसका मुख्य कार्य राजकोष का भलिभांति संग्रह और पर्यवेक्षण करना है।

10.प्रदेष्टा आयुक्तः- प्रदेष्टा आयुक्त एक उच्च पदाधिकारी होता है। वह कार्यपालिका तथा न्यायिक दोनों कार्यों का संपादन करता है। उसका मुख्य कार्य अपराधों का दमन करना तथा जो राज कर नहीं देते उनसे कर वसूल करना या दंड देना होता है।

11.नायकः- यह सेना का संचालक होता है। वह एक सैनिक पदाधिकारी होता है।

12.पौर व्यावहारिकः- पौर व्यावहारिक नगर का न्यायिक पदाधिकारी होता है।

13.कर्मांतिकः- कर्मांतिक खान उद्योगों का अधिकारी होता है। वह राज्य के कल कारखाने एवं उद्योगों की देख-रेख करता है।

14.मंत्रिपरिषद का अध्यक्षः- मंत्रीपरिषद का अध्यक्ष प्रधानमंत्री होता हैं इसके अलावा कौटिल्य ने अन्य विभागाध्यक्षों का उल्लेख किया है जो प्रशासन के दृष्टि से आवश्यक होते हैं। इसमें पोतवाध्यक्ष, गणिकाध्यक्ष आदि प्रमुख हैं।

15.दंडपालः- यह सेना एवं पुलिस का मुख्य अधिकारी होता है।

16.दुर्गपालः- यह दुर्ग का प्रभारी होता है। यह राज्य के समस्त दुर्गों की देखभाल करता है।

17.अंतपाल या सीमारक्षकः- यह मुख्य अधिकारी होता है जो सीमावर्ती प्रदेशों की रक्षा करता है।

18.आटविक - आटविक वन संपति की रक्षा करता है।

प्रशासनिक विभागाध्यक्ष

कौटिल्य ने प्रशासन का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उसने विभिन्न विभागों के अध्यक्षों का वर्णन इस प्रकार किया हैः-

1.कोषाध्यक्षः- कोषाध्यक्ष राजकोष का स्वामी होता है। वह कोष को सम्पन्न रखता है। वह विभिन्न विशेषज्ञों की अनुमति से कोष में विभिन्न रत्नों, आभूषणों को भी रखता है।

2.सीताध्यक्षः- राज्य में कृषि से प्राप्त अनाज के रूप कर के संग्रहण का जिम्मेदार होता है। यह इन अनाजों का भंडारण करता है। यह कृषि का जानकार भी होता है।

3.पठ्याध्यक्षः- पठ्याध्यक्ष एक महत्वपूर्ण अधिकारी होता है। यह राज्य में क्रय विक्रय वाली वस्तुओं की व्यवस्था करता है।

4.आयुधागाराध्यक्षः- आयुधगार का अध्यक्ष युद्ध एवं अस्त्र शस्त्र संबंधी चीजों की व्यवस्था करता है।

5.पोतवाध्यक्षः- पोतवाध्यक्ष के पास महत्वपूर्ण जिम्मेदारी होती है। वह समस्त नापतौल की व्यवस्था का जिम्मेदार होता है।

6.शुल्काध्यक्षः- यह वह पदाधिकारी होता है जो राज्य की समस्त शुल्क या चुंगी की व्यवस्था पर नियन्त्रण रखता है।

7.सूत्राध्यक्षः-यह वह पदाधिकारी होता है जो सूत संबधी समस्त व्यवसाय का निर्धारण करता है। यह सूत,रस्सी आदि की निगरानी करता है।

8.सुराध्यक्षः- यह आबकारी विभाग का प्रमुख होता है। यह समस्त मादक पदार्थों जैसे भांग, गांजा, शराब आदि पर नियन्त्रण रखता है।

9.सूनाध्यक्षः- सूनाध्यक्ष के पास वधशाला की जिम्मेदारी होती है। यह पशुओं, मछलियों, पक्षिओं तथा जंगली जानवरों की निगरानी करता है।

10.मुद्राध्यक्षः- यह मुद्रा के निर्माण , संचालन के प्रति जिम्मेदार होता है। इसका दायित्व अत्याधिक महत्वपूर्ण होता है।

11.रथाध्यक्षः- यह रथ सेना का प्रभारी होता है। यह राज्य की सुरक्षा के लिये प्रभावी रथ सेना के निर्माण के लिये जिम्मेदार होता है।

12.अश्वाध्यक्षः- यह घोड़ों की रक्षा के लिये कार्य करता है। वह राज्य में अनेक स्थानों पर घुड़सालों का निर्माण करवाता है।

13.गजशाला अध्यक्षः- यह हाथियों के सम्पूर्ण प्रबंधन के लिये उत्तरदायी होता है। वह उनकी सुरक्षा , उनके आहार का भी प्रबंध करता है।

14.गणिकाध्यक्षः- इसका कार्य राज्य में गणिकाओं (वेश्याओं) की निगरानी करना होता है।

15.नौकाध्यक्षः- नौकाध्यक्ष नौकाओं के निर्माण, नौका मार्गों पर उनके निर्बाध संचालन के लिये जिम्मेदार होता है।

16.गोध्यक्षः- यह गोवंश की रक्षा तथा उनके विकास के लिये जिम्मेदार होता है।

17.सुवर्णाध्यक्षः- यह राज्य के अन्दर सोने चांदी के कार्य करने के लिये स्थान बनवाने तथा उनकी निगरानी का कार्य करता है।

18.कोष्ठगाराध्यक्षः- कोष्ठगाराध्यक्ष राज्य में अनाजों के भंडार की व्यवस्था करता है।

19.कुप्याध्यक्षः- यह वह पदाधिकारी होता है जो जंगल में उपलब्ध वनस्पितियों एवं अन्य सामग्रियों की रक्षा करता है।
स्थानीय शासन

कौटिल्य ने प्रशासन के सबसे निचले हिस्से पर अर्थात स्थानीय शासन का भी उल्लेख किया है। वह राजा के द्वारा गो, स्थानिक और नगराध्यक्ष आदि अधिकारियों की नियुक्ति का समर्थन करता है। उसके द्वारा वर्णित प्रमुख स्थानीय प्रशासन के अधिकारी निम्न हैः-

1.गोपः- यह स्थानीय शासन का प्रमुख पदाधिकारी था। वह पांच से दस ग्रामों का जिम्मेदार था। इन ग्रामों की सम्पूर्ण जिम्मेदारी गोप की होती है।

2.स्थानिकः- यह गोप के ऊपर स्थापित एक महत्वपूर्ण पदाधिकारी था। जिले के समस्त गोप उसके अधीन थे।

3.नगराध्यक्षः- प्रत्येक नगर का अध्यक्ष नगराध्यक्ष कहलाता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कौटिल्य ने प्रशासन की व्यापक एवं सुचारू व्यवस्था की थी। उसने प्रशासन के प्रत्येक पहलू पर न केवल ध्यान दिया वरन उसके लिये अलग विभाग एवं पदाधिकारी नियुक्त किया। कौटिल्य ने प्रशासन को अनेक भागों में बांटा। कौटिल्य की सम्पूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था में स्थानीय प्रशासन को भी स्थान दिया गया है। वह सत्ता के केन्द्रियकरण के स्थान पर विकेन्द्रियकरण का समर्थक था।

6.4 कानून एवं न्याय संबंधी विचार

कौटिल्य ने कानूनों के सख्ती से पालन पर बल दिया। कौटिल्य का कानून अनुभववाद और आध्यात्मवाद पर आधारित है। उसके कानून का आधार धर्म है। उसकी मान्यता थी कि जो राज्य कानून का पालन तथा न्याय सुनिश्चित नहीं कर पाते वह शीघ्र नष्ट हो जाते है। उसकी मान्यता थी कि राज्य का उद्देश्य प्रजा के जीवन एवं संपत्ति की रक्षा करना है। असमाजिक तत्वों तथा अव्यवस्था उत्पन्न करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करना है। वह कानून एवं दण्ड को सगी बहनों की तरह मानता है जो राज्य को स्थायित्व और नागरिक जीवन में सुधार का संचार करता है।

कानून का उद्देश्यः- कानून का उद्देश्य व्यक्ति और समाज का कल्याण करना है। यह व्यक्ति और समाज दोनों के सभी पहलुओं का समाधान कल्याणकारी रूप में करता है।

कानून की परिभाषाः- कौटिल्य के अनुसार कानून शाही आदेश है जो स्वीकृति के द्वारा लागू किया जाता है। कानून सभी शाही आदेशों का प्रतिरूप है। उउन्होंने राजा को वरूण के समान माना है। वह सर्वोच्च एवं सर्वश्रेष्ठ न्यायधीश की भूमिका भी अदा करता है।

कानून के स्त्रोतः- कौटिल्य ने कानून के चार स्त्रोत बताये हैः-

1. धार्मिक उपदेश
2. व्यवहारिक अथवा साथियों का व्यवहार

3. समाज के रीति रिवाज और परम्परा

4. राजकीय आदेश

कौटिल्य ने उपरोक्त के सदंर्भ में एक स्थान पर लिखा है कि ‘‘धर्म व्यवहार, चरित्र राजाज्ञा ये विवाद के निर्णायक साधन होने के कारण राष्ट्र के चार पैर माने जाते हैं।

कानून का वर्गीकरणः- कौटिल्य ने कानून का व्यापक वर्गीकरण किया है। उन्होनें इसको निम्न भागों में बांटा हैः-

1.विवाह संबंधी कानूनः- कौटिल्य ने अपनी पुस्तक ‘‘अर्थशास्त्र‘‘ में विवाह पर व्यापक विमर्श किया है। इसमें उन्होनें धर्म विवाह, स्त्री का पुर्न विवाह , पति-पत्नी द्वेष , पर पुरूष अनुसरण और पुर्न विवाह पर व्यापक चर्चा कर इनके नियम और कानून का वर्णन किया है।

2.दाय अथवा उत्तराधिकार विषयक कानूनः- कौटिल्य ने अपनी पुस्तक ‘‘अर्थशास्त्र‘‘ में उत्तराधिकार का सामान्य नियम पैतृक क्रम से विशेषाधिकार, पुत्रक्रम से विशेषाधिकार का वर्णन किया है। उसकी मान्यता है कि माता-पिता या पिता के जीवित रहते लड़के संपत्ति के उत्तराधिकारी नहीं होते। पिता के न रहने पर वह संपति का बटवारा कर सकते है। संयुक्त परिवारों में रहने वाले पुत्रों तथा पौत्र चौथी पीढ़ी तक अविभाजित पैतृक संपति के बराबर के हकदार है जिसका कोई उत्तराधिकारी न हो उसे राज्य ले लेवे। उसकी मान्यता है कि पलित, पलित की संतान , मूर्ख, अंधा कोढ़ी उत्तराधिकार के अधिकारी नहीं होगें।

3.अचल संपति संबंधी कानूनः- इसके अन्तर्गत कौटिल्य ने संपति के बेचने, सीमा विवाद , कर की छूट, गांवों का बंदोबस्त, सामूहिक कार्यों में शामिल न होने का मुआवजा आदि का वर्णन इसके अन्तर्गत किया गया है। इसमें कर की छूट , रास्ते को रोकना, गांवों का बंदोबस्त भी शामिल है।

4.ऋण संबंधी कानूनः- कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में ऋण , ब्याज के नियम , एक व्यक्ति पर अनेक व्यक्ति के कर्जा संबंधी कानूनों का वर्णन किया है। वह ब्याज के संदर्भ में कहता है कि 100 पण पर सवा पण ब्याज लेना चाहिए। ऋण देने वालों तथा लेने वालों के चरित्र की निगरानी होनी चाहिए। अन्न संबंधी ब्याज फसल के आधे से अधिक नहीं होनी चाहिए।

5.धरोहर संबंधी कानूनः- इसके अन्तर्गत धरोहर , गिरवी, उधार की वस्तु को लौटाने गिनकर रखी गई धरोहर आदि के संबंध में व्यापक चर्चा की गई है।

6.दास और श्रमिक संबंधी कानूनः-कौटिल्य ने अपनी पुस्तक ‘‘अर्थशास्त्र‘‘ में दास , श्रमिक और नौकरों के वेतन पर भी प्रकाश डाला है। उन्होंने यूनानी विचारकों की तरह दास प्रथा को स्वीकार किया है। वह निम्न जातियों तथा अनार्यों को दास बनाने पर बल देता है। विशेष स्थिति में यदि उच्च

कुल का व्यक्ति दास बन गया हो तो उसे मुक्त कर देना चाहिए। कौटिल्य का मत है कि यदि दासी से संतान उत्पन्न हो जाए तो उसे दासता से मुक्त कर दिया जाना चाहिए।

7.साझेदारी विषयक कानूनः- कौटिल्य ने स्पष्ट किया है कि ठेके पर मजदूरी करने वाले मजदूर प्राप्त मजदूरी को आपस में बांट लें। व्यापारी को माल खरीदने से बेचने तक हुए खर्चे को जोड़ने के बाद बेचने से प्राप्त धन से हुए लाभ को साझीदार से बांट लेना चाहिए।

8.क्रय-विक्रय संबंधी कानूनः- कौटिल्य ने क्रय-विक्रय संबंधी नियमों का विस्तृत उल्लेख अपनी पुस्तक में किया है। उन्होने स्पष्ट किया है कि क्रय-विक्रय करने वाले व्यापारियों का बयान ; एक दिन में , किसानों का क्रय-विक्रय तीन दिन तथा दूध वालों का बयाना 5 दिन में वापस किया जा सकता है।

9.स्व-स्वामी संबंधी कानूनः- कौटिल्य ने स्व-स्वामी संबंधी कानूनों का भी उल्लेख किया है। उसका मत है कि यदि कोई व्यक्ति किसी संपति को उपभोग कर रहा है तो उस पर उसी का स्वामित्व माना जाना चाहिए। वह आगे और अधिक स्पष्ट करता है और कहता है कि यदि कोई व्यक्ति दस वर्ष तक किसी संपति पर अपना अधिकार खो देता है तो उस पर उसका दावा नहीं रह जाता है।

10.निंदा संबंधी कानूनः- कौटिल्य ने निंदा संबंधी अथवा विवाद के संबंध में स्पष्ट किया है कि किसी को धमकाना, निदां करना , वाक्यारूष्य नामक अपराध के अन्तर्गत है।

11.जुआ संबंधी कानूनः- जुआ पर पैनी नजर रखने का समर्थक था। उसका यह मानना था कि धूताध्यक्ष को अपनी निगरानी में नियत स्थान पर जुआ खलने की व्यवस्था करनी चाहिए। इसका उल्लंघन करने वालों को दण्ड की व्यवस्था की है।

न्याय संबंधी विचार

प्राचीन भारतीय चिन्तकों के अनुरूप कौटिल्य भी स्वधर्म के पालन पर बहुत जोर देता है। उसकी मान्यता थी कि स्वधर्म पालन से न केवल स्वतः व्यवस्था बनती है वरन् लोक परलोक दोनों सुधरता है। इसके बावजूद जो नागरिक कानून का उल्लघंन करते है। उनको दंडित करने की भी व्यवस्था वह करता है। उसकी मान्यता थी कि न्याय कि बिना प्रजा धर्म, अर्थ, कात और मोक्ष्ज्ञ से वंचित हो जाता है। अतः न्याय के द्वारा ही प्रजा के उक्त परम् लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। यही कारण है कि कौटिल्य ने न्याय पर बहुत अधिक जोर दिया है। कतिपय यही कारण है कि कौटिल्य न्याय को राज्य का प्राण मानता है।

न्यायधीश की नियुक्तिः- कौटिल्य ने अपने राजनीतिक दर्शन का आधार राजा को माना है। उनकी मान्यता एक योग्य, कर्तव्यपरायण तथा जनकल्याणकारी राजा की है। इसके बावजूद न्याय व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिये वह न्यायधीशों की नियुक्ति का पक्षधर था। उसकी मान्यता थी कि उच्चतर

न्यायालय में तीन धर्मस्थ न्यायधीश तथा तीन अमार्त्य होने चाहिए जो एक साथ बैठकर विवादों का निपटारा कर सके। इन न्यायाधीशों की नियुक्ति राजा के द्वारा की जायेगी।

न्यायपालिका का संगठनः-कौटिल्य ने अपनी पुस्तक “अर्थशास्त्र“ में चार स्थानों पर न्यायपालिका के गठन का सुझाव दिया।उसके द्वारा की गई न्यायपालिका की व्यवस्था इस प्रकार हैः-

1.जनपद संधि न्यायालयः- यह वह न्यायालय था जो दो राज्यों या गांवों की सीमा पर स्थापित किया जाता था। यही कारण है कि इसे संधि न्यायालय भी कहा जाता है।

2.संग्रहण न्यायालयः- कौटिल्य की न्यायपालिका की मुख्य इकाई थी। इसमें 10 गांवों के केन्द्र में स्थापित न्यायलय को संग्रहण न्यायालय कहा गया।

3.द्रोणमुख न्यायालयः- यह कौटिल्य की न्याय व्यवस्था की एक अन्य महत्वपूर्ण इकाई थी। इसका क्षेत्र और अधिक व्यापक था। इसे चार सौ गांवों के केन्द्र में स्थापित किया गया। इसका कर्मक्षेत्र संग्रहण न्यायालय से व्यापक था।

4.स्थानीय न्यायालयः- स्थानीय न्यायालय द्रोणमुख न्यायालय की अगली कड़ी था। इसका कार्यक्षेत्र द्रोणमुख न्यायालय से भी व्यापक था। इसमें आठ सौ गांवों का समाहित कराया गया। यह आठ सौ गांवों के केन्द्र में स्थापित एक न्यायालय था।

न्यायपालिका का वर्गीकरण (प्रकारः-कौटिल्य ने विवाद के स्वरूप के आधार पर न्यायालयों को दो भागों में बांटा --

1. दीवानी अथवा धर्मस्थलीय या व्यवहार न्यायालय
2. फौजदारी अथवा कष्टक शोधन न्यायालय

दीवानी अथवा धर्मस्थलीय या व्यवहार न्यायालयः- धर्मस्थलीय न्यायालय वह न्यायालय है जो नागरिकों के परस्पर व्यवहार से उत्पन्न होने वाले विवादों का निपटारा करते है। इस तरह के विवादों को कौटिल्य ने व्यवहार की संज्ञा दी है। इसमें मुख्य रूप से सम्पति , संविदा, उत्तराधिकार, विवाह , ऋण , धरोहर, साझेदारी आदि संबंधित विवाद आते है।

फौजदारी अथवा कष्टकशोधन न्यायालयः- कौटिल्य के अनुसार कष्टकशोधन न्यायालय वह न्यायालय है जिनका उद्देश्य राज्य के कष्टक अथवा शत्रुओं को राज्य से दूर रखना है। इसका मुख्य लक्ष्य राजा अथवा राज्य के विरूद्ध किये जाने वाले अपराधों पर विचार करना है। इसके अर्न्तगत मुख्य रूप से प्रजा के प्रतिदिन के सम्पर्क के धोबी,जुल्रीर्, रंगरेज, सुनार, वैद्य, नट आदि के द्वारा प्रजा के शोषण आदि के मामले आते है। इसमें कर्मचारियों के द्वारा प्रजा के उत्पीड़न के मामले भी आते है। कौटिल्य ने इन सभी अपराधों को कष्टक की श्रेणी में रखा है। इन अपराधों का पता लगाने के लिये गुप्तचरों की व्यवस्था पर बल दिया।

कौटिल्य की सम्पूर्ण न्यायव्यवस्था आधुनिक है। वह न्याय की निष्पक्षता पर बहुत बल देता था। वह न्याय व्यवस्था के विकेन्द्रिकरण का हिमायती था। उसने उच्चतर न्यायालय में तीन धर्मस्थ न्यायधीश तथा तीन अमात्यों पर बल दिया तथा निर्णय सर्वसम्मति या बहुमत से करने पर बल दिया जो कि आज के समय (ज्यूरी) बहु सदस्यीय न्यायिक पीठ के रूप में विद्यमान है। उन्होंने न्याय व्यवस्था को निष्पक्ष बनाने के लिये सम्पूर्ण प्रक्रिया, गवाही के लिखे जाने पर बल दिया। उसकी मान्यता थी कि न्याय प्रदान करने की व्यवस्था में लिंग तथा वर्ग के आधार पर भेदभाव नहीं करना चाहिए। उसने न्यायधीशों पर भी निगरानी पर बल दिया है। यह कार्य गुप्तचर विभाग को दिया गया। यदि न्यायधीश नियमों की अनदेखी करता है तो उसे दण्डित किया जाना चाहिए।

दण्ड एवं गुप्तचर व्यवस्थाः-कौटिल्य ने न्याय व्यवस्था के साथ दण्ड व्यवस्था का भी वर्णन किया है। कौटिल्य ने दण्ड के औचित्य एवं दण्ड के प्रकार का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। कौटिल्य का दण्ड संबंधी विचार बहुत तार्किक एवं यर्थातवादी है। उसकी मान्यता है कि काम, क्रोध, लोभ, मान, मद, हर्ष आदि छः शत्रु न जाने कब मनुष्य को उत्तेजित कर दे तथा मनुष्य को अधर्म, दुराचरण की ओर ले जाते है। ऐसी स्थिति में अराजकता उत्पन्न हो जायेगी। चारों ओर ‘मत्स्य न्याय’ की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी, जिसमें बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है। इस स्थिति से बचने के लिये कौटिल्य ने एक प्रभावी दण्ड व्यवस्था की कल्पना की जिसमें कानून तोड़ने तथा अव्यवस्था उत्पन्न करने वाले को त्वरित रूप से दण्डित करने की बात की गई।

दण्ड का स्वरूपः- कौटिल्य की मान्यता थी कि समाज में धर्म बना रहे तथा समाज में लोककल्याण स्थापित हो इसी उद्देश्य के लिये दण्ड का प्रयोग किया जाना चाहिए। कौटिल्य के अनुसार राजा ही दण्ड देने का अधिकारी होता है अतः उसका दण्ड सुधारात्मक होना चाहिए। उसके द्वारा प्रतिशोधात्मक दण्ड नहीं देना चाहिए। दण्ड सुधार के लिये कल्याण के लिये होना चाहिए।

6.5 दण्ड एवं गुप्तचर संबंधी विचार

1. कौटिल्य दण्ड के निर्धारण में समानता के सिद्धान्त को नहीं मानता है। उसका मानना है कि महिलाओं और बच्चों को कम दण्ड मिलना चाहिए। उसने वर्ण व्यवस्था के आधार पर भी भेद किया है। उसका मानना है कि ब्राहमणों को भी कम दण्ड मिलना चाहिए। कौटिल्य का मानना था कि दण्ड का निर्धारण अपराध, अपराध की परिस्थितियों, वर्ण, लिंग के आधार पर करना चाहिए।

दण्ड के प्रकारः- कौटिल्य ने तीन प्रकार के दण्ड बताये हैः-

1.शारीरिक दण्डः- शारीरिक दण्ड में वह कोड़े मारना, अंग छेदन, हाथ-पैर बांधकर उल्टा लटकाना, ब्राहमण अथवा उच्च जातियों के माथे पर चिन्ह अंकित करने को शामिल करता है। उसने पाप काने वाले पुरूष को अन्य दण्ड भी बताये है। इसमें मुख्य रूप से बेंत मारना, थप्पड़ मारना, बांए हाथ को बांये पैर से तथा दांये हाथ को दांये पैर से पीछे बांधना। दोनों हाथ आपस में बांधकर लटका देना,

नाखुन में सुई चुभाना, घी पिलाकर धूप या आग के पास बैठाना। जाड़े की रात में गीले विस्तर पर सुलाना। वह कहता है कि माता-पिता को गाली देने वाले की जिह्वा काट लेनी चाहिए। राजा अथवा राज्य के भेद खोलने वाले को भी यदि दण्ड दिया जाना चाहिए।

प्राणदण्डः- कौटिल्य ने विभिन्न अपराधों के लिये प्राणदण्ड का भी प्रावधान किया है। यदि झगड़े में किसी की मृत्यु हो गई हो तो दूसरे को प्राणदण्ड दे दिया जाए। बलात्कार करने तथा जीभ काटने वाले , सेंध लगाकर चोरी करने, हाथी, घोड़े तथा रथ को नुकसान पहुंचाने वाले को भी मृत्यु दण्ड दिया जाना चाहिए। माता-पिता ,पुत्र भाई, आचार्य के हत्यारे को भी यही दण्ड दिया जाना चाहिए। अपने पति, पुत्र, गुरू को विष देने वाली स्त्री को गाय से कुचलवा कर मारा जाये। ब्राहमणी के साथ व्याभिचार करने वाले शूद्र को जिंदा जला दिया जाए। रानी के साथ व्याभिचार करने वाले को जीवित भून दिया जाय।

2. आर्थिक दण्डः- कौटिल्य ने आर्थिक दण्ड को तीन भागों में बांटा हैः-

1. प्रथम साहस दण्ड
2. मध्यम साहस दण्ड
3. उत्तम साहस दण्ड

प्रथम साहस दण्डः- प्रथम साहस दण्ड में 48 से 96 पण तक का जुर्माना लगाने की व्यवस्था की गई है।

मध्यम साहस दण्ड:- मध्यम साहस दण्ड को दो सौ से पांच सौ पण तक की जुर्माने की व्यवस्था की गई है।

उत्तम साहस दण्डः- इसमें पांच सौ से 1 हजार पण तक के जुर्माने की व्यवस्था की गई है।

कारागार अथवा जेलः- कौटिल्य ने अपराधियों के लिये जेल की व्यवस्था की है। उसकी मान्यता है कि यदि कोई ब्राहमण राज्य के विरूद्ध षणयंत्र करे तो उसे आजीवन कैद में डाल देना चाहिए। कौटिल्य ने स्पष्ट किया है कि न्यायधीशों तथा समाहार्ता से सजा जाये लोगों को कारागृह में रखना चाहिए। कारागृह में स्त्री पुरूष के लिये अलग-अलग स्थान होना चाहिए। कारागार की पर्याप्त सुरक्षा होनी चाहिए।

कौटिल्य ने शुभ अवसरों पर कैदियों को मुक्त करने की व्यवस्था की। वह कौटिल्य का मानवीय दृष्टिकोण था। उसने आगे स्पष्ट किया है कि विजय पर राजकुमार के राज्याभिषेक के समय, राजपुत्र के जन्मोत्सव पर कैदियों को मुक्त कर देना चाहिए।

राज्य अधिकारियों के लिए दण्डः- कौटिल्य का मत था कि प्रत्येक राज्य अधिकारियों को अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए। यदि कोई अधिकारी नियमित आय का कम दिखाता है तो वह राजधर्म

का अपहरण करता है। उसकी अक्षमता, अयोग्यता से यदि यह कमी होती है तो उसे उसी क्रम में दण्डित करना चाहिए। यदि कोई अधिकरी राजकोष में अधिक धन जमा कराता है तो उसकी भी जांच करा कर उसको दण्डित करना चाहिए क्योंकि उसकी वसूली प्रजा को प्रताड़ित कर हुई होगी। यदि अधिकारी ने धन का गबन करते हुए जमा नहीं किया है तो उसे कठोर दण्ड मिलना चाहिए।

वेश्वावृत्ति के लिये दण्डः- कौटिल्य ने स्पष्ट किया है कि यदि कोई पुरूष कामना रहित महिला से शारीरिक संबंध बनाता है तो उसे उत्तम साहस दण्ड देना चाहिए। राजा की सेवा में नियुक्त गणिका को प्रताड़ित करने वाले व्यक्ति को बहत्तर हजार पण दण्ड देना चाहिए। राजा की आज्ञा पर कोई वैश्या यदि किसी विशिष्ट व्यक्ति के पास जाने से इंकार कर दे तो उसे 1 हजार कोड़े लगवाये जाने चाहिए। पूरी रात का शुल्क ले बहाना बनाने पर शुल्क का आठ गुना दण्ड लिया जाना चाहिए।

2.गुप्तचर व्यवस्था

कौटिल्य ने गुप्तचर को प्रशासन को महत्वपूर्ण हिस्सा माना था। उसकी मान्यता थी कि बगैर प्रभावी गुप्तचर व्यवस्था के एक सुरक्षित, प्रगतिशील राज्य का निर्माण नहीं किया जा सकता है। भारत में प्राचीन काल से ही गुप्तचर व्यवस्था पर अत्याधिक बल रहा है। रामायण तथा महाभारत में गुप्तचर व्यवस्था का वर्णन मिलता है। कौटिल्य ने सर्वप्रथम गुप्तचर व्यवस्था को स्थापित किया। उसने गुप्तचरों के प्रकार, कार्य तथा भूमिका का विस्तृत वर्णन किया। उसने दो प्रकार के गुप्तचर बतायेः-

1. स्थायी गुप्तचर
2. भ्रमणशील गुप्तचर

स्थायी गुप्तचर:-कौटिल्य ने स्थाई गुप्तचरों को पांच भागों में बांटा हैः-

कापरिक गुप्तचरः- दूसरों के रहस्य को जानने वाला एवं दबंग किस्म का गुप्तचर होता है। यह सामान्यतः विद्यार्थी की वेशभूषा में रहता है।

उदास्थित गुप्तचरः- यह सन्यासी रूप में रहने वाला बुद्धिमान तथा सदाचारी व्यक्ति होता है।

गृहपलिक गुप्तचरः- गरीब किसान के वेश में रहने वाला एक बुद्धिमान व्यक्ति होता है।

वैदेहक:- गरीब व्यापारी के वेश में बुद्धिमान गुप्तचर को वैदेहक कहा जाता है।

तापस गुप्तचरः- जीविका के लिये सिर के बाल साफ कराये अथवा जहां रखे राजा का कार्य करने वाला व्यक्ति तापस गुप्तचर कहलाता है। ये सामान्यतः विद्यार्थियों के साथ नगर के पास आश्रम बना कर रहते है।

भ्रमणशील गुप्तचर:- ये एक स्थान से दूसरे स्थान जाकर कार्य करते है अतः इन्हें भ्रमणशील अथवा संचार गुप्तचर कहते है।

इसके प्रमुख प्रकार निम्न हैः-

सत्री गुप्तचरः- ये राजा के संबंधी नहीं होते परन्तु इनका पालन राजा के लिये आवश्यक होता है। ये वशीकरण, धर्मशास्त्र, नाचने गाने, ज्योतिष में अति पारंगत होते है।

तीक्ष्ण गुप्तचरः- ये वे गुप्तचर होते है जो धन के लिये बड़े जोखिम उठा लेते है। वे हाथी, बाघ, सांप आदि से भिड़ जाते है। इन्हें तीक्ष्ण गुप्तचर कहते है।

रसद गुप्तचरः- अपने निकट संबंधियों से संबंध न रखने वाला, कठोर एवं क्रूर स्वभाव के व्यक्ति को रसद (विष देने वाला) गुप्तचर कहा जाता है।

परिव्राजिका गुप्तचरः-धन की इच्छुक ऐसी स्त्री जो अमात्यों के घर जाती हो, दबंग हो, बाहमणी हो तथा रनिवास में सम्मान हो, को परिव्राजिका गुप्तचर कहा जाता है।

उभयवेतन भोगी गुप्तचरः- यह दोहरा वेतन पाने वाले , दूसरे राज्यों की गतिविधियों का पता लगाने वाले गुप्तचर होते है। ये दूसरे राज्य में जा नौकरी करते है और दोहरा वेतन लेते है।

विषकन्याः- यह वह स्त्री थी जो विष का सेवन कर पाली जाती थी। इसे राज्य हित में शत्रु के पास भेजा जाता था जहां वह अपने सौन्दर्य, यौवन, हावभाव से शत्रु को भोग के लिये तैयार कर लेती थी। यही शत्रु के विनाश का कारण बनता था।

गुप्तचरों के कार्यः- कौटिल्य ने गुप्तचरों के प्रमुख कार्य निम्न बताये हैः-

1.गुप्तचर को उच्चाधिकारियों तथा अन्य अधिकारियों के आचरण का पता लगाकर राजा को सूचित करना चाहिए।

2.यदि कोई कर्मचारी विद्रोही प्रवृति का है तो उसकी सूचना तत्काल राजा को देनी चाहिए।

3.ऐसे षड़यत्रों की सूचना राजा को देना जो राजा के विरूद्ध प्रजा द्वारा रचे गये हो।

4.जनता के मनोभावों को पढ़ना तथा अंसतोष के कारणों को राजा के समक्ष प्रस्तुत करना।

कौटिल्य के शब्दों में-''राज्य में कर्मचारियों एवं प्रजा की शत्रुता जानने के लिए गुप्तचरों की नियुक्ति की जाए। राजा धन एवं मान द्वारा गुप्तचरों को संतुष्ट रखे।''उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कौटिल्य ने गुप्तचर व्यवस्था का विश्लेषण बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से किया है।

कौटिल्य भारतीय राजदर्शन का जनक है। कुछ पाश्चात्य विचारक भी यह मानते है कि प्राचीन भारतीय विद्वानों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण विचारक कौटिल्य है। राजनीतिक दर्शन में कौटिल्य के महत्व को हम निम्न बिन्दुओं के द्वारा दर्शा सकते हैः-

1.कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ अर्थशास्त्र में पूर्व भारतीय विद्वानों भारद्वाज, मनु, वृहस्पति के विचारों का मिश्रण सुव्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया।

2.कौटिल्य पहला भारतीय विचारक था जिसने राजनीति को धर्म, नैतिकता से अलग एक स्वतन्त्र विषय के रूप में न केवल देखा वरन् उसकी व्याख्या भी की।

3.कौटिल्य ने राजनीति का व्यवहारिक एवं यर्थाथवादी स्वरूप प्रस्तुत किया। उसने केन्द्रीकृत एवं सुदृढ़ शासन की वकालत की। अपने सिद्धान्तों के आधार पर कोई मौर्य वंश की स्थापना की।

4.कौटिल्य ने राज्य के कार्यों का जो वर्णन किया है उसमें लोककल्याणकारी राज्य के बीच निहित दिखायी पड़ते है।

5.कौटिल्य राजतंत्र का समर्थक है परन्तु उसका राजा एक योग्य ईमानदार और नियन्त्रित राजा है। वह कुछ हद तक प्लेटो के दार्शनिक राजा की तरह है।

6.कौटिल्य ने व्यापक प्रशासनिक व्यवस्था का उल्लेख किया है। उसने प्रशासन को 18 भाग में विभाजित किया है। उसका प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण उसकी महत्वपूर्ण देन है।

7.कौटिल्य ने कानून के शासन पर बल दिया। कानून अनुभव तथा आध्यात्म पर आधारित है।

8.कौटिल्य ने न्याय के लिये स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष नयाय विभाग की स्थापना पर बल दिया। उसने न्यायधीशों की नियुक्ति एवं कार्यों की स्पष्ट व्याख्या की।

9.कौटिल्य ने दण्ड की व्यापक व्यवस्था की। उसने दण्ड का स्वरूप, दण्ड के निर्धारण सिद्धान्त, प्रकार का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया। उसका दण्ड सिद्धान्त पूर्णतः व्यवहारिक है।

10.कौटिल्य ने राजपूत तथा राज्य की सीमा के अंदर गुप्तचरों के ऊपर व्यापक वर्णन किया है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वह मण्डल सिद्धान्त के द्वारा विदेश नीति संचालन तथा राष्ट्र की सीमा को सुरक्षित रखने तथा विस्तार की नीति को स्पष्ट करता है।

11.उसने धर्म एवं राजनीति पर विचार किया। आंतरिक एवं विदेशनीति धर्म पर आधारित होनी चाहिए। उसने राजनीति को धर्म आधारित बताया परन्तु कुछ स्थानों पर वह उसे स्वतन्त्र भी रखता है। वह धार्मिक संस्थाओं पर राज्य के नियन्त्रण का पक्षधर है।

6.6 कौटिल्य के अनुसार राजा का स्थान एवं महत्व

कौटिल्य के राजनीतिक चिंतन में राजा राज्य व्यवस्था का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। कौटिल्य ने राज्य को सप्तांग सिद्धांत के माध्यम से समझाया, जिसमें स्वामी (राजा) को प्रथम स्थान दिया गया है। यह इस बात का संकेत है कि राज्य के अन्य सभी अंग अमात्य (मंत्री), जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड (सेना) तथा मित्र राजा के नेतृत्व और दिशानिर्देशन में कार्य करते हैं। कौटिल्य के अनुसार राज्य की स्थिरता, शक्ति और समृद्धि काफी हद तक राजा की योग्यता, चरित्र, बुद्धिमत्ता तथा प्रशासनिक दक्षता पर निर्भर करती है। यदि राजा योग्य, अनुशासित और दूरदर्शी है तो राज्य सुचारु रूप से संचालित होता

है इसके विपरीत यदि राजा दुर्बल, आलसी या अयोग्य हो, तो राज्य में अव्यवस्था, भ्रष्टाचार और अस्थिरता उत्पन्न हो सकती है।

कौटिल्य राजा को केवल सत्ता का उपभोग करने वाला व्यक्ति नहीं मानते, बल्कि उसे राज्य व्यवस्था की आत्मा मानते हैं। उनके अनुसार राजा का अस्तित्व प्रजा के कल्याण से जुड़ा हुआ है। इसीलिए उन्होंने कहा "प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है, और प्रजा के हित में ही राजा का हित है।"यह कथन कौटिल्य के राजनीतिक चिंतन का मूल आधार प्रस्तुत करता है। इससे स्पष्ट होता है कि राजा और प्रजा के हित परस्पर जुड़े हुए हैं। राजा का वास्तविक सुख व्यक्तिगत विलासिता में नहीं, बल्कि प्रजा की सुरक्षा, समृद्धि और संतोष में निहित है। यदि प्रजा दुखी, असुरक्षित या असंतुष्ट होगी तो राज्य की स्थिरता भी संकट में पड़ जाएगी।कौटिल्य का यह दृष्टिकोण राजा को उत्तरदायी शासक के रूप में स्थापित करता है। यद्यपि राजा अत्यंत शक्तिशाली है, फिर भी उसकी शक्ति का उद्देश्य व्यक्तिगत लाभ नहीं बल्कि लोककल्याण होना चाहिए। इस प्रकार राजा का स्थान केवल राजनीतिक नेतृत्व तक सीमित नहीं है वह राज्य की समस्त गतिविधियों का समन्वयक है।राजा के महत्व को समझने के लिए उसकी विभिन्न भूमिकाओं का अध्ययन आवश्यक है। कौटिल्य ने राजा को अनेक महत्वपूर्ण दायित्वों का केंद्र माना है।

(1) प्रशासनिक प्रमुख के रूप में राजा

कौटिल्य के अनुसार राजा राज्य प्रशासन का सर्वोच्च प्रमुख होता है। संपूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था उसके निर्देशन में कार्य करती है। राज्य के अधिकारी, मंत्री, सचिव तथा अन्य प्रशासनिक कर्मचारी राजा के अधीन कार्य करते हैं। राजा का कार्य केवल अधिकारियों की नियुक्ति करना नहीं, बल्कि उनके कार्यों की निगरानी करना भी है। उसे यह सुनिश्चित करना होता है कि प्रशासन सुचारु, पारदर्शी और उत्तरदायी रहे।

प्रशासनिक प्रमुख के रूप में राजा के प्रमुख कार्य हैं

- योग्य मंत्रियों एवं अधिकारियों की नियुक्ति
- प्रशासनिक कार्यों का निरीक्षण
- भ्रष्टाचार पर नियंत्रण
- नीतियों के क्रियान्वयन की समीक्षा
- जनहितकारी निर्णय लेना

कौटिल्य का मानना था कि यदि प्रशासनिक तंत्र कमजोर या भ्रष्ट हो जाए तो राज्य की शक्ति क्षीण हो जाती है। इसलिए राजा को सदैव सतर्क रहना चाहिए। एक कुशल प्रशासनिक प्रमुख के रूप में राजा शासन की रीढ़ को मजबूत बनाए रखता है।

(2) न्यायाधीश के रूप में राजा

राजा न्याय व्यवस्था का सर्वोच्च संरक्षक है। कौटिल्य के अनुसार न्याय राज्य की स्थिरता का आधार है। यदि समाज में न्याय स्थापित रहेगा तो शांति और व्यवस्था बनी रहेगी। राजा का दायित्व है कि वह सभी व्यक्तियों के साथ समान व्यवहार करे और निष्पक्ष न्याय प्रदान करे। न्याय करते समय उसे पक्षपात, क्रोध या व्यक्तिगत हित से प्रभावित नहीं होना चाहिए। न्यायाधीश के रूप में राजा की भूमिका

- विवादों का समाधान करना
- अपराधियों को दंड देना
- निर्दोषों की रक्षा करना
- सामाजिक संतुलन बनाए रखना

कौटिल्य के अनुसार अन्याय जनता में असंतोष पैदा करता है और यही असंतोष विद्रोह का कारण बन सकता है। इसलिए न्यायप्रिय राजा प्रजा का विश्वास अर्जित करता है तथा राज्य की वैधता को मजबूत बनाता है।

(3) सैन्य नेतृत्वकर्ता के रूप में राजा

कौटिल्य ने राज्य की सुरक्षा को अत्यंत महत्वपूर्ण माना है। उनके अनुसार एक सशक्त सेना राज्य की स्वतंत्रता और स्थिरता की रक्षा करती है। इस कारण राजा सेना का सर्वोच्च नेतृत्वकर्ता होता है। सैन्य नेतृत्वकर्ता के रूप में राजा को

- सेना का संगठन करना
- सैनिकों का प्रशिक्षण सुनिश्चित करना
- रक्षा तैयारियों की समीक्षा करना
- युद्ध रणनीति बनाना
- सीमाओं की सुरक्षा सुनिश्चित करना जैसे कार्य करने होते हैं।

प्राचीन भारत में बाहरी आक्रमण और क्षेत्रीय संघर्ष सामान्य थे। इसलिए कौटिल्य ने राजा को सदैव सैन्य दृष्टि से सजग रहने की सलाह दी। एक सक्षम सैन्य नेतृत्वकर्ता न केवल युद्ध जीतता है, बल्कि शत्रुओं को आक्रमण करने से भी रोकता है। राजा की सैन्य क्षमता राज्य की प्रतिष्ठा और शक्ति दोनों को बढ़ाती है।

(4) विदेश नीति निर्धारक के रूप में राजा

कौटिल्य के राजनीतिक चिंतन में विदेश नीति का विशेष महत्व है। उनका मानना था कि किसी भी राज्य की सुरक्षा केवल उसकी आंतरिक शक्ति पर निर्भर नहीं करती, बल्कि पड़ोसी राज्यों के साथ उसके संबंधों पर भी आधारित होती है। राजा विदेश नीति का प्रमुख निर्धारक होता है। उसे यह निर्णय लेना होता है कि किस राज्य से मित्रता रखनी है किससे संधि करनी है और किन परिस्थितियों में युद्ध करना उचित होगा। विदेश नीति निर्धारक के रूप में राजा के कार्य-

- मित्र और शत्रु राज्यों का आकलन
- संधियाँ करना
- कूटनीतिक संबंध बनाए रखना
- रणनीतिक गठबंधन बनाना
- युद्ध अथवा शांति का निर्णय लेना

कौटिल्य का मंडल सिद्धांत इसी भूमिका की महत्ता को स्पष्ट करता है। राजा को परिस्थितियों के अनुसार लचीली तथा व्यावहारिक विदेश नीति अपनानी चाहिए। सफल विदेश नीति राज्य की सुरक्षा और प्रतिष्ठा दोनों को सुदृढ़ बनाती है।

(5) आर्थिक नीति नियंत्रक के रूप में राजा

कौटिल्य ने आर्थिक शक्ति को राज्य की मूल शक्ति माना है। उनके अनुसार समृद्ध राजकोष के बिना सेना, प्रशासन और जनकल्याण तीनों प्रभावी नहीं रह सकते। इसलिए राजा आर्थिक नीति का नियंत्रक भी है। राजा को कृषि, व्यापार, उद्योग, कर व्यवस्था और राजकोष पर विशेष ध्यान देना चाहिए।आर्थिक नीति नियंत्रक के रूप में राजा की जिम्मेदारियाँ-

- कर नीति निर्धारित करना
- राजस्व संग्रह सुनिश्चित करना
- कृषि और सिंचाई को प्रोत्साहन देना
- व्यापारिक गतिविधियों को बढ़ावा देना

- उद्योग एवं शिल्प का संरक्षण करना

कौटिल्य ने राजा को सलाह दी कि वह कराधान में संतुलन रखे। अत्यधिक कर प्रजा में असंतोष उत्पन्न कर सकता है, जबकि संतुलित कर व्यवस्था राज्य और जनता दोनों के हित में होती है। एक सक्षम आर्थिक नीति नियंत्रक के रूप में राजा राज्य की समृद्धि और दीर्घकालिक विकास सुनिश्चित करता है।

इस प्रकार कौटिल्य के अनुसार राजा राज्य का केंद्र और संचालन शक्ति है। उसका स्थान केवल सर्वोच्च शासक का नहीं, बल्कि प्रशासन, न्याय, सैन्य शक्ति, विदेश नीति और आर्थिक व्यवस्था के समन्वयक का है। राजा की योग्यता ही राज्य की सफलता या असफलता निर्धारित करती है। इसलिए कौटिल्य ने राजा को उत्तरदायी, दूरदर्शी, न्यायप्रिय और लोककल्याणकारी शासक के रूप में परिभाषित किया। राजा जितना सक्षम होगा, राज्य उतना ही शक्तिशाली, सुरक्षित और समृद्ध होगा।

6.7 कौटिल्य के अनुसार आदर्श राजा के गुण

कौटिल्य के राजनीतिक चिंतन में राजा का व्यक्तित्व राज्य की सफलता का मूल आधार है। उनके अनुसार राज्य की स्थिरता, सुरक्षा और समृद्धि केवल प्रशासनिक संस्थाओं पर निर्भर नहीं करती, बल्कि मुख्यतः राजा के चरित्र, ज्ञान, अनुशासन और कार्यकुशलता पर आधारित होती है। इसलिए कौटिल्य ने आदर्श राजा में अनेक नैतिक, बौद्धिक और व्यावहारिक गुणों की अपेक्षा की है। उनका मानना था कि यदि राजा गुणवान होगा तो राज्य में शांति, समृद्धि और न्याय स्थापित होगा लेकिन यदि राजा दोषपूर्ण होगा तो राज्य में अव्यवस्था, भ्रष्टाचार और असंतोष बढ़ेगा।

1. आत्मसंयम

कौटिल्य के अनुसार आत्मसंयम राजा का सबसे महत्वपूर्ण गुण है। राजा को अपनी इन्द्रियों और इच्छाओं पर नियंत्रण रखना चाहिए। उन्होंने विशेष रूप से काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मत्सर (ईर्ष्या, जलन) जैसे दोषों से दूर रहने की सलाह दी है। काम राजा को विलासिता और भोगविलास की ओर ले जाता है। क्रोध निर्णय क्षमता को प्रभावित करता है और अन्यायपूर्ण दंड का कारण बन सकता है। लोभ भ्रष्टाचार और शोषण को जन्म देता है। मोह राजा को पक्षपातपूर्ण निर्णय लेने के लिए प्रेरित कर सकता है। मद (अहंकार) शासक को निरंकुश बना सकता है। मत्सर (ईर्ष्या) उचित प्रतिभा और योग्य व्यक्तियों को आगे बढ़ने से रोक सकता है। कौटिल्य का मानना था कि जो राजा स्वयं पर नियंत्रण नहीं रख सकता, वह राज्य पर भी प्रभावी नियंत्रण नहीं रख सकता है। आत्मसंयम राजा को संतुलित, शांत और विवेकपूर्ण बनाता है। ऐसा राजा संकट की स्थिति में भी धैर्यपूर्वक निर्णय लेने में सक्षम होता है।

2. विद्वत्ता

कौटिल्य के अनुसार आदर्श राजा केवल सत्ता का धारक नहीं, बल्कि ज्ञान से संपन्न व्यक्ति होना चाहिए। राजा को धर्म, अर्थ, राजनीति, न्याय, प्रशासन और सैन्य विज्ञान का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए। धर्म का ज्ञान राजा को न्याय और नैतिकता की समझ देता है।अर्थ का ज्ञान आर्थिक नीति, कर व्यवस्था और राजकोष प्रबंधन में सहायक होता है। राजनीति का ज्ञान शासन संचालन एवं कूटनीति के लिए आवश्यक है। सैन्य विज्ञान का ज्ञान राज्य की सुरक्षा और युद्ध नीति के लिए महत्वपूर्ण है। कौटिल्य ने शिक्षा को राजा के व्यक्तित्व निर्माण का आवश्यक तत्व माना है। उनके अनुसार शिक्षित राजा अपने मंत्रियों पर पूरी तरह निर्भर नहीं रहता, बल्कि स्वयं भी विवेकपूर्ण निर्णय ले सकता है। विद्वत्ता राजा को दूरगामी नीतियाँ बनाने और बदलती परिस्थितियों को समझने में सक्षम बनाती है।

3. परिश्रमशीलता

कौटिल्य ने आलस्य को राजा का सबसे बड़ा शत्रु माना है। उनके अनुसार राज्य संचालन अत्यंत जटिल और सतत कार्य है, इसलिए राजा को सदैव सक्रिय, कर्मठ और परिश्रमी होना चाहिए। राजा के कार्य अनेक प्रकार के होते हैं जैसे प्रशासन की देखरेख ,न्यायिक मामलों का निपटारा, कर व्यवस्था का नियंत्रण, सेना का निरीक्षण, मंत्रिपरिषद के साथ विचारविमर्श,गुप्तचर रिपोर्ट का अध्ययन आदि इन सभी कार्यों के लिए निरंतर श्रम और समय की आवश्यकता होती है। यदि राजा आलसी हो जाए तो प्रशासन शिथिल हो जाता है, अधिकारी भ्रष्ट होने लगते हैं और राज्य की सुरक्षा कमजोर पड़ जाती है। कौटिल्य ने राजा की दिनचर्या को भी इस प्रकार निर्धारित किया कि उसका अधिकांश समय राज्यकार्य में व्यतीत हो। इससे स्पष्ट होता है कि वे एक सक्रिय एवं उत्तरदायी शासन की कल्पना करते थे।

4. दूरदर्शिता

दूरदर्शिता कौटिल्य के अनुसार आदर्श राजा का अत्यंत आवश्यक गुण है। राजा को केवल वर्तमान परिस्थितियों को ही नहीं समझना चाहिए, बल्कि भविष्य की संभावित चुनौतियों और अवसरों का भी पूर्वानुमान होना चाहिए।

राजनीतिक जीवन में अनेक संकट अचानक उत्पन्न हो सकते हैं, जैसे बाहरी आक्रमण, आंतरिक विद्रोह, आर्थिक संकट, प्राकृतिक आपदा, कूटनीतिक तनाव दूरदर्शी राजा इन संभावित परिस्थितियों के लिए पहले से तैयारी करता है। उदाहरण के लिए यदि राजा पड़ोसी राज्यों की गतिविधियों पर ध्यान रखे तो युद्ध की संभावना को पहले ही समझ सकता है और रक्षा तैयारियाँ मजबूत कर सकता

है। कौटिल्य की विदेश नीति और मंडल सिद्धांत भी इसी दूरदर्शिता का उदाहरण हैं। उनके अनुसार सफल राजा वह है जो वर्तमान के साथ भविष्य को भी ध्यान में रखकर नीति बनाए।

5. नैतिक अनुशासन

कौटिल्य ने राजा के निजी जीवन में अनुशासन और नैतिकता को अत्यंत महत्वपूर्ण माना है । राजा का व्यक्तिगत आचरण केवल उसका निजी विषय नहीं होता उसका प्रभाव पूरे राज्य और समाज पर पड़ता है। यदि राजा का जीवन अनुशासित होगा तो अधिकारी और प्रजा भी अनुशासन का पालन करेंगे। इसके विपरीत यदि राजा भ्रष्ट, विलासी या अनैतिक होगा तो शासन व्यवस्था में भी वही प्रवृत्तियाँ फैलने लगेंगी। नैतिक अनुशासन के अंतर्गत

सत्यनिष्ठा, ईमानदारी, न्यायप्रियता, मर्यादा, कर्तव्यनिष्ठा जैसे गुण शामिल हैं। कौटिल्य का मत था कि राजा को निजी इच्छाओं से ऊपर उठकर राज्यहित को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी चाहिए। उसका जीवन सादगी, संयम और जिम्मेदारी का उदाहरण होना चाहिए।

6. परामर्श ग्रहण करने की क्षमता

कौटिल्य ने स्पष्ट किया कि कोई भी राजा सर्वज्ञ नहीं हो सकता है । इसलिए आदर्श राजा वह है जो योग्य मंत्रियों, विद्वानों और सलाहकारों की बात ध्यानपूर्वक सुने। राज्य संचालन एक सामूहिक प्रक्रिया है। विभिन्न विषयों जैसे अर्थव्यवस्था, रक्षा, न्याय और विदेश नीति में विशेषज्ञों की सलाह उपयोगी होती है। इसलिए राजा को परामर्श ग्रहण करने की क्षमता विकसित करनी चाहिए। इस गुण के अंतर्गत तीन बातें विशेष महत्व रखती हैं

1. योग्य व्यक्तियों का चयन करना।

2. उनकी सलाह को निष्पक्ष रूप से सुनना।

3. अंतिम निर्णय विवेक के आधार पर लेना।

परामर्श ग्रहण करने वाला राजा जल्दबाजी या अहंकार में गलत निर्णय नहीं लेता है। वह सामूहिक बुद्धिमत्ता का उपयोग करके अधिक प्रभावी नीतियाँ बना सकता है। कौटिल्य के अनुसार मंत्रिपरिषद राजा की शक्ति को बढ़ाती है, क्योंकि सही सलाह शासन को स्थिर और प्रभावी बनाती है।

इस प्रकार कौटिल्य के अनुसार आदर्श राजा में आत्मसंयम, विद्वत्ता, परिश्रमशीलता, दूरदर्शिता, नैतिक अनुशासन तथा परामर्श ग्रहण करने की क्षमता जैसे गुण अनिवार्य हैं। ये गुण केवल व्यक्तिगत श्रेष्ठता के प्रतीक नहीं, बल्कि सुशासन की आधारशिला हैं। कौटिल्य का विश्वास था कि गुणवान राजा ही राज्य को सुरक्षित, समृद्ध और न्यायपूर्ण बना सकता है।

6.8 कौटिल्य के अनुसार राजा के कर्तव्य

कौटिल्य के राजनीतिक चिंतन में राजा केवल सत्ता का केंद्र नहीं बल्कि राज्य की समस्त व्यवस्था का मुख्य संचालक है। कौटिल्य के अनुसार राजा का प्रमुख दायित्व राज्य की सुरक्षा, प्रजा का कल्याण तथा प्रशासनिक संतुलन बनाए रखना है। राजा का प्रत्येक कार्य राज्य के हित और प्रजा की समृद्धि से जुड़ा होना चाहिए। कौटिल्य ने स्पष्ट किया कि राजा का जीवन व्यक्तिगत सुखसुविधाओं के लिए नहीं बल्कि लोककल्याण के लिए समर्पित होना चाहिए। उन्होंने राजा के अनेक कर्तव्यों का उल्लेख किया है जिनमें प्रजा की रक्षा, न्याय व्यवस्था, आर्थिक विकास, कानून व्यवस्था, प्रशासनिक नियंत्रण तथा विदेश नीति विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं।

(1) प्रजा की रक्षा

कौटिल्य के अनुसार प्रजा की रक्षा राजा का सर्वोच्च और प्रथम कर्तव्य है। राज्य का अस्तित्व तभी सार्थक है जब वह अपने नागरिकों को सुरक्षा प्रदान कर सके। सुरक्षा का अर्थ केवल बाहरी शत्रुओं से रक्षा करना नहीं, बल्कि आंतरिक खतरों से भी जनता की रक्षा करना है।

राजा को बाहरी आक्रमणों से रक्षा,आंतरिक विद्रोह या षड्यंत्र का नियंत्रण, चोरी, डकैती तथा अपराध से सुरक्षा, प्राकृतिक आपदाओं के समय सहायता सुनिश्चित करनी होती है है। कौटिल्य के समय पड़ोसी राज्यों के बीच युद्ध सामान्य बात थी। इसलिए राजा को सुदृढ़ सेना, प्रशिक्षित सैनिकों तथा मजबूत दुर्ग व्यवस्था बनाए रखने की सलाह दी गई।

साथ ही गुप्तचर तंत्र का उपयोग कर राजा संभावित खतरों की जानकारी पहले ही प्राप्त कर सकता था। इससे स्पष्ट है कि कौटिल्य सुरक्षा को केवल सैन्य शक्ति तक सीमित नहीं रखते, बल्कि इसे व्यापक प्रशासनिक जिम्मेदारी मानते हैं। यदि राजा प्रजा की रक्षा करने में असफल हो जाए तो जनता का विश्वास समाप्त हो जाता है और राज्य अस्थिर होने लगता है। इसलिए कौटिल्य ने सुरक्षा को शासन की आधारशिला माना है।

(2) न्याय व्यवस्था

कौटिल्य के अनुसार न्यायपूर्ण शासन ही स्थायी शासन है। राजा को निष्पक्ष, त्वरित और प्रभावी न्याय प्रदान करना चाहिए। न्याय व्यवस्था राज्य में शांति और व्यवस्था बनाए रखने का प्रमुख साधन है। यदि समाज में अन्याय बढ़े, निर्दोष दंडित हों या अपराधियों को संरक्षण मिले तो जनता में असंतोष उत्पन्न होता है। यही असंतोष आगे चलकर विद्रोह का रूप ले सकता है। राजा के न्याय संबंधी प्रमुख कर्तव्य सभी नागरिकों को समान न्याय देना, अपराध के अनुसार उचित दंड निर्धारित करना, विवादों का निष्पक्ष समाधान करना, दुर्बलों और पीड़ितों की रक्षा करना आदि है। कौटिल्य की दण्डनीति का उद्देश्य केवल दंड देना नहीं था, बल्कि सामाजिक संतुलन बनाए रखना था। उनके

अनुसार न्याय में कठोरता और करुणा दोनों का संतुलन होना चाहिए। राजा को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि न्याय खरीदफरोख्त का विषय न बने। निष्पक्ष न्याय राजा की प्रतिष्ठा और शासन की वैधता को मजबूत करता है।

(3) आर्थिक समृद्धि

कौटिल्य ने आर्थिक शक्ति को राज्य की स्थिरता का आधार माना है। उनका प्रसिद्ध विचार है कि सुदृढ़ अर्थव्यवस्था के बिना न तो सेना मजबूत रह सकती है और न ही प्रशासन प्रभावी हो सकता है। इसलिए आर्थिक समृद्धि बढ़ाना राजा का अत्यंत महत्वपूर्ण कर्तव्य है। राजा को कृषि, व्यापार, उद्योग, कर व्यवस्था तथा राजकोष पर विशेष ध्यान देना चाहिए।आर्थिक क्षेत्र में राजा के प्रमुख कार्य कृषि को प्रोत्साहित करना, सिंचाई व्यवस्था विकसित करना, व्यापार और वाणिज्य को बढ़ावा देना, उद्योग एवं शिल्प का संरक्षण करना, कर संग्रह को व्यवस्थित रखना है । कौटिल्य अत्यधिक कराधान के विरोधी थे। उनका मत था कि कर इस प्रकार लिया जाए कि प्रजा पर अनावश्यक बोझ न पड़े। उन्होंने राजा को मधुमक्खी के समान बताया, जो फूल से मधु तो लेती है पर फूल को नष्ट नहीं करती। इस दृष्टिकोण से स्पष्ट है कि आर्थिक नीति का उद्देश्य केवल राजकोष भरना नहीं, बल्कि प्रजा की समृद्धि सुनिश्चित करना भी है।

(4) कानून व्यवस्था

कानून व्यवस्था बनाए रखना राजा का एक महत्वपूर्ण दायित्व है। कानून व्यवस्था का अर्थ समाज में शांति, अनुशासन और अपराध नियंत्रण सुनिश्चित करना है। यदि कानून कमजोर हो जाए तो समाज में अराजकता, भय और असुरक्षा फैलने लगती है। इससे राज्य की शक्ति भी कमजोर पड़ती है। राजा को अपराधों की रोकथाम, अपराधियों को दंड, भ्रष्टाचार पर नियंत्रण,सामाजिक अनुशासन बनाए रखना, सरकारी नियमों का पालन सुनिश्चित करना आदि पर विशेष ध्यान देना चाहिए । कौटिल्य ने अपराध नियंत्रण हेतु गुप्तचर प्रणाली और प्रशासनिक निगरानी दोनों पर बल दिया। विशेष रूप से उन्होंने भ्रष्टाचार को शासन का गंभीर शत्रु माना है। उनके अनुसार भ्रष्ट अधिकारी राज्य को भीतर से कमजोर कर सकते हैं। इसलिए राजा को कानून के समान अनुपालन पर बल देना चाहिए।

(5) प्रशासनिक नियंत्रण

कौटिल्य का मानना था कि राजा अकेले शासन नहीं कर सकता उसे प्रशासनिक अधिकारियों की सहायता लेनी पड़ती है। लेकिन केवल अधिकारियों की नियुक्ति पर्याप्त नहीं है उनकी निरंतर निगरानी भी आवश्यक है। राजा को प्रशासनिक तंत्र पर मजबूत नियंत्रण रखना चाहिए ताकि अधिकारी अपने अधिकारों का दुरुपयोग न करें। प्रशासनिक नियंत्रण के लिए योग्य अधिकारियों की नियुक्ति, नियमित निरीक्षण, कार्यों की समीक्षा, भ्रष्टाचार की जांच, कार्यकुशलता का मूल्यांकन जैसे पक्षों को

देखना चाहिए। कौटिल्य ने माना कि धन के संपर्क में आने पर अधिकारी भ्रष्ट हो सकते हैं। इसलिए उन्होंने गुप्त परीक्षण, लेखा परीक्षा और निरीक्षण की व्यवस्था सुझाई। सक्षम प्रशासन राजा की नीतियों को प्रभावी रूप से लागू करता है। यदि प्रशासन कमजोर हो जाए तो अच्छी नीतियाँ भी सफल नहीं हो पातीं है।

(6) विदेश नीति

कौटिल्य के चिंतन में विदेश नीति का विशेष महत्व है। प्राचीन भारत में राज्यों के बीच प्रतिस्पर्धा और संघर्ष सामान्य थे, इसलिए राजा को बाहरी संबंधों के प्रति अत्यंत सजग रहना चाहिए। राजा का कर्तव्य है कि वह मित्र और शत्रु राज्यों के साथ संतुलित एवं रणनीतिक संबंध बनाए रखे। विदेश नीति के प्रमुख उद्देश्य राज्य की सुरक्षा,

शत्रु शक्ति को नियंत्रित करना, मित्र राज्यों से सहयोग प्राप्त करना, युद्ध की स्थिति में रणनीतिक लाभ लेना

आर्थिक एवं राजनीतिक संबंध मजबूत करना कौटिल्य का मंडल सिद्धांत विदेश नीति की इसी समझ को दर्शाता है। उनके अनुसार पड़ोसी राज्य संभावित शत्रु हो सकता है, जबकि शत्रु का पड़ोसी संभावित मित्र बन सकता है। राजा को परिस्थिति के अनुसार संधि, युद्ध, तटस्थता या कूटनीतिक सहयोग जैसी नीतियाँ अपनानी चाहिए। सफल विदेश नीति राज्य की शक्ति और प्रतिष्ठा दोनों को बढ़ाती है।

इस प्रकार कौटिल्य के अनुसार राजा के कर्तव्य अत्यंत व्यापक और बहुआयामी हैं। राजा केवल शासन करने वाला शासक नहीं, बल्कि प्रजा का रक्षक, न्याय का संरक्षक, अर्थव्यवस्था का नियामक, प्रशासन का नियंत्रक और विदेश नीति का निर्माता है। प्रजा की सुरक्षा, न्याय, आर्थिक समृद्धि, कानून व्यवस्था, प्रशासनिक नियंत्रण और संतुलित विदेश नीति—ये सभी राजा के अनिवार्य दायित्व हैं। इन कर्तव्यों के सफल निर्वहन से ही राज्य शक्तिशाली, स्थिर और समृद्ध बनता है।

6.9 कौटिलय एवं यूनानी विचारक

कौटिल्य की पृष्ठभूमि भारतीय थी जबकि यूनानी विचारकों जैसे प्लेटो की पृष्ठभूमि अलग थी। इसके बावजूद दोनों के बीच कुछ समानतायें दिखायी पड़ती है।

1. दोनों ही विचारकों ने राज्य को एक शरीर के रूप में है।
2. दोनों ने राज्य को आवश्यक बताया। उनका मानना था कि राज्य द्वारा ही व्यक्ति अपने अंतिम उद्देश्यों की प्राप्ति कर सकता है।

3. दोनों ही राजतन्त्रों के समर्थक है। दोनों का राजा दार्शनिक या योग्य राजा है। उनकी मान्यता उसकी योग्यता में है।

4. दोनों की राज्य को व्यक्ति के विकास का माध्यम मानते है।

असमानतायें -प्लेटो एवं कौटिल्य में निम्न बिन्दुओं पर असमानतायें दिखायी पड़ती हैः-

1.प्लेटो आदर्शवादी विचारक है तथा उसका दृष्टिकोण काल्पनिक है। वहीं कौटिल्य यर्थाथवादी तथा उसका दृष्टिकोण व्यवहारिक है।

2.प्लेटो आदर्श राज्य की कल्पना कर विभिन्न सिद्धान्त प्रस्तुत करता है वहीं कौटिल्य ने ‘‘अर्थशास्त्र‘‘ में राजनैतिक सिद्धान्त प्रस्तुत किया जिसका उद्देश्य एक मजबूत एवं शक्तिशाली राज्य की स्थापना करना है।

3.प्लेटो ने आदर्श राज्य के लिये दार्शनिक शासक तथा साम्यवादी सिद्धान्त प्रस्तुत किया जबकि कौटिल्य ने साम्यवाद एवं आदर्श राज्य की स्थापना पर बल नहीं दिया।

4.प्लेटो ने स्त्री-पुरूष समानता पर बल दिया परन्तु कौटिल्य ने राजकार्यों में स्त्री सहभागिता पर बल नहीं दिया है।

5.कौटिल्य के ‘‘अर्थशास्त्र‘‘ में राज्य के गठन, विदेश नीति, गुप्तचर व्यवस्था, वैदेशिक नीति का व्यापक वर्णन है जबकि प्लेटो के दर्शन में इसका अभाव है।

अभ्यास प्रश्न

1. भारतीय राजनीतिक चिंतन में कौटिल्य का महत्व किस कारण है?

A. उन्होंने केवल धार्मिक ग्रंथ लिखे

B. उन्होंने कला का विकास किया

C. उन्होंने राज्य, शासन एवं प्रशासन पर व्यवस्थित विचार दिए

D. उन्होंने केवल सैन्य शिक्षा दी

2. निम्न में से कौन-सा गुण कौटिल्य के अनुसार आदर्श राजा का प्रमुख गुण है?

A. आलस्य

B. आत्मसंयम

C. क्रोध

D. विलासिता

3. कौटिल्य के अनुसार राजा में कौन-सा गुण आवश्यक है?

A. विद्वत्ता

B. असावधानी

C. पक्षपात

D. अहंकार

4. कौटिल्य के अनुसार राजा का सबसे बड़ा कर्तव्य क्या है?

A. व्यक्तिगत सुख

B. प्रजा की रक्षा

C. धन संग्रह

D. मनोरंजन

6.10 सारांश

कौटिल्य एक यर्थाथवादी प्राचीन भारतीय विचारक था। उसने अपने ग्रन्थ अर्थशास्त्र के माध्यम से विभिन्न राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। वह राज्य के सात अंगों का सिद्धान्त देता है जो यूनानी विचारकों के आंगिक सिद्धान्त की तरह दिखता है। कौटिल्य राज्य का प्रशासन कैसे चलाया जाए, राजा को किन नियमों का पालन करना चाहिए? आदि प्रश्नों का उत्तर प्रस्तुत करता है। कौटिल्य प्राचीन काल का पहला ऐसा विचारक था जिसने राजनीति पर इतना व्यापक और उद्देश्यपूर्ण ग्रन्थ लिखा। उसने शासन, प्रशासन एवं विदेश नीति संचालन पर दिये विचार सैकणों वर्ष गुजर जाने के बाद भी अत्यंन्त प्रांसगिक है। उसकी कृति अर्थशास्त्र उसकी मानवता को दी गई अमूल्य देन है।

इस इकाई में कौटिल्य के राजा सम्बन्धी विचारों का विस्तृत अध्ययन किया गया। कौटिल्य ने राजा को राज्य का केंद्र तथा शासन व्यवस्था का सबसे महत्वपूर्ण अंग माना है। उनके अनुसार राज्य की सफलता, स्थिरता और समृद्धि मुख्यतः राजा की योग्यता, बुद्धिमत्ता, अनुशासन और प्रशासनिक क्षमता पर निर्भर करती है। इकाई में यह स्पष्ट किया गया कि कौटिल्य के अनुसार आदर्श राजा में आत्मसंयम, विद्वत्ता, परिश्रमशीलता, दूरदर्शिता, नैतिक अनुशासन तथा परामर्श ग्रहण करने की क्षमता जैसे गुण होने चाहिए। ये गुण राजा को एक सक्षम, न्यायप्रिय और उत्तरदायी शासक बनाते हैं।

इसके अतिरिक्त राजा के प्रमुख कर्तव्यों का भी अध्ययन किया गया, जिनमें प्रजा की रक्षा, न्याय व्यवस्था स्थापित करना, आर्थिक समृद्धि सुनिश्चित करना, कानून व्यवस्था बनाए रखना, प्रशासनिक नियंत्रण तथा संतुलित विदेश नीति का संचालन प्रमुख हैं। कौटिल्य ने स्पष्ट किया कि राजा का निजी हित प्रजा के हित से अलग नहीं हो सकता। "प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है"—यह विचार उनके राजनीतिक दर्शन का मूल है। इकाई में कौटिल्य की प्रशासनिक व्यवस्था का भी अध्ययन किया गया। उन्होंने सुव्यवस्थित प्रशासन, स्पष्ट कार्य विभाजन, अधिकारियों की जवाबदेही, भ्रष्टाचार नियंत्रण तथा गुप्तचर व्यवस्था को सुशासन का आधार माना। इस प्रकार कौटिल्य का राजनीतिक चिंतन एक शक्तिशाली, अनुशासित, लोककल्याणकारी और व्यावहारिक शासन व्यवस्था का मॉडल प्रस्तुत करता है, जिसकी प्रासंगिकता आधुनिक प्रशासनिक अध्ययन में भी बनी हुई है।

6.11 शब्दावली

1. सप्तांग सिद्धांत — राज्य के सात प्रमुख अंगों का सिद्धांत (राजा, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड, मित्र)।

2. अमात्य — मंत्री या उच्च प्रशासनिक अधिकारी।

3. दण्डनीति — शासन, अनुशासन तथा दंड से संबंधित नीति।

4. राजकोष — राज्य की आय और धन संग्रह का भंडार।

5. गुप्तचर — गुप्त सूचना एकत्र करने वाला व्यक्ति (जासूस)।

6. लोककल्याण — जनता के हित और समृद्धि के लिए कार्य।

7. प्रशासनिक तंत्र — शासन संचालन करने वाली संस्थाएँ एवं अधिकारी।

8. जवाबदेही — अपने कार्यों के प्रति उत्तरदायी होना।

9. दूरदर्शिता — भविष्य की परिस्थितियों का पूर्वानुमान लगाने की क्षमता।

10. कूटनीति — राज्यों के बीच संबंधों को संचालित करने की नीति।

6.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. C, 2. B, 3. A, 4. B

6 .13 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. राव एम0वी0 कृष्णा, स्टडीज इन कौटिल्या
2. समस्त्रे आर0 , कौटिल्यस का अर्थशास्त्र
3. परमात्मा शरण, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं समस्यायें
4. वर्मा , वी0पी0, प्राचीन भारतीय चिन्तन

6.14 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री

1. वेनी प्रसाद, दि स्टेट इन एनसिएंट इण्डिया
2. श्यामलाल पाण्डेय, कौटिल्य की राज व्यवस्था

3.17 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री

6.15 निबंधात्मक प्रश्न

1. कौटिल्य के राजा सम्बन्धी विचारों का विस्तार से वर्णन कीजिए।

2. कौटिल्य के अनुसार आदर्श राजा के गुणों की विवेचना कीजिए।

3. कौटिल्य के चिंतन में राजा के कर्तव्यों का समालोचनात्मक अध्ययन कीजिए।

4. कौटिल्य की प्रशासनिक व्यवस्था की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

5. आधुनिक शासन व्यवस्था के संदर्भ में कौटिल्य के राजनीतिक चिंतन की प्रासंगिकता का विश्लेषण कीजिए।

इकाई 7: बौद्ध अवधारणाएँ: धम्म और अहिंसा

इकाई संरचना

7.1 प्रस्तावना

7.2 उद्देश्य

7.3 बौद्ध स्रोत

7.4 बुद्ध का काल-खंड

7.5 बुद्ध के जीवनकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

7.6 महजनपदों में शासन व्यवस्था एवं राजनीतिक स्थिति

7.7 बुद्ध का जीवन

7.8 बुद्ध का धम्म

7.9 चार आर्य सत्य

7.10 मैं / अहं के तत्व: पञ्चक्कन्ध/पंचस्कन्ध

7.11 आर्य अष्टांगिक मार्ग

7.12 भिक्षु एवं उपासक

7.13 पंचशील/पंचशिक्षपद

7.14 बौद्ध नैतिक मूल्य और अहिंसा

7.15 निर्वाण (निब्बान)

7.16 सारांश

7.17 अभ्यास प्रश्न

7.18 शब्दावली

7.19 अभ्यास प्रश्न के उत्तर

7.20 संदर्भ ग्रंथ

7.21 सहयोगी पाठ्य सामग्री

7.22 निबंधात्मक प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

छटीं से पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व में भारत विशेषकर उत्तर भारत में कई सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिवर्तन आए। इस काल में उत्तर भारत में सिंधु घाटी सभ्यता के पतन के बाद पुनः नगरीकरण का विकास हुआ, जिसे द्वितीय नगरीकरण के नाम से जाना जाता है। गंगा घाटी की उपजाऊ भूमि, कृषि उत्पादन में वृद्धि तथा व्यापार के विस्तार के बल पर अनेक शक्तिशाली राज्यों का उदय हुआ जिन्हें सोलह महाजनपद कहा गया। इसी परिवर्तनशील परिवेश में कई दार्शनिक और धार्मिक परम्पराओं का भी विकास हुआ।

इस काल में ही श्रमण परम्परा का भी उद्भव हुआ, जिसने कर्मकाण्ड, रूढ़ि-प्रधान धार्मिक व्यवस्था को चुनौती देते हुए आध्यात्मिक, नैतिक और दार्शनिक प्रश्नों पर एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। बौद्ध धर्म भी इसी श्रमण परंपरा की एक प्रमुख धरा के रूप में विकसित हुआ।

गौतम बुद्ध द्वारा प्रतिपादित इस धार्मिक परम्परा में कर्मकाण्ड की अपेक्षा -नैतिक आचरण, आत्मानुशासन, प्रज्ञा को अधिक महत्त्व दिया गया। बुद्ध ने अपने धम्म को सब के लिए समान रूप से सुलभ बताया तथा मानव जीवन की समस्याओं का व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत किया।

बुद्ध की शिक्षाओं की व्यावहारिकता और सार्वभौमिकता का प्रमाण इस तथ्य से मिलता है कि उत्तर भारत की मध्य-गंगा घाटी में आरम्भ हुई यह दार्शनिक परंपरा कालान्तर में विश्व के एक प्रमुख धर्म के रूप में सामने आई।

इस इकाई में हम बुद्ध के जीवन, बौद्ध धर्म के उद्भव तथा उसकी मूल अवधारणाओं एवं नैतिक एवं दार्शनिक सिद्धांतों का अध्ययन करेंगे।

7.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त शिक्षार्थी—

1. गौतम बुद्ध के जीवन, उनके कालखंड तथा बौद्ध धर्म के उद्भव की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का वर्णन कर सकेंगे।

2. बौद्ध धर्म में धम्म की अवधारणा तथा त्रिशरण के महत्व को समझा सकेंगे।

3. चार आर्यसत्य, आर्य अष्टांगिक मार्ग तथा निर्वाण की अवधारणा का विश्लेषण कर सकेंगे।

4. पंचशील, अहिंसा, करुणा एवं मैत्री जैसे बौद्ध नैतिक मूल्यों का विवेचन कर सकेंगे।

5. समकालीन समाज में बुद्ध की शिक्षाओं एवं बौद्ध धर्म की प्रासंगिकता का मूल्यांकन कर सकेंगे।

7.3 बौद्ध स्रोत

प्रारम्भिक बौद्ध धर्म के लिए प्रमुख स्रोत त्रिपिटक हैं जो की बौद्ध धर्म के मूल ग्रंथ हैं। त्रिपिटक में सुत्तपिटक, विनयपिटक और अभिधम्मपिटक आते हैं। इतिहासकारों के अनुसार सुत्तपिटक के दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुक्तनिकाय और अंगुत्तरनिकाय और विनयपिटक के अधिकांश भाग का संकलन पाँचवीं से तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व में हो चुका था। अभिधम्मपिटक का संकलन कुछ समय बाद का माना जाता है।

इसके अतिरिक्त बौद्ध साहित्य जैसे दीपवंश, महवंश, वंसत्थप्पकासिनी, समन्तपासादिका, अशोकावदान, दिव्यावदन, मिलिन्दपञ्ह, अश्वघोष का बुद्धचरित एवं लामा तारानाथ की कृति 'भारत में बुद्ध धर्म का इतिहास' कुछ ऐसे ग्रंथ हैं, जिनसे हमें बुद्ध व उनके कालखंड और उनके जीवन तथा उनकी शिक्षाओं के बारे में पता चलता है।

7.4 बुद्ध का काल-खंड

गौतम बुद्ध के जीवन काल की सटीक तारीख पर इतिहासकारों में पूर्ण सहमति नहीं है। विभिन्न बौद्ध परम्पराओं और स्रोतों के आधार पर अनेक कालानुक्रम प्रस्तावित किए गए हैं।

दीपवंश और महवंश के अनुसार सम्राट अशोक का राज्याभिषेक बुद्ध के परिनिब्बान (सांसरिक देह त्याग) 218 वर्ष पश्चात हुआ था। इस गणना के आधार पर हम परिनिब्बान की तिथि अगर 544-543 ईसा पूर्व मानते हैं, बुद्ध की परंपरागत आयु 80 वर्ष बताई गयी है अतः उनका जन्म 624-623 ईसा पूर्व के बीच होना संभव है। इतिहासलेखन में इस तिथि गणना को 'असंशोधित दीर्घकालानुक्रम' (Uncorrected Long Chronology) कहा जाता है।

इसके विपरीत कुछ आधुनिक इतिहासकार परिष्कृत दीर्घकालानुक्रम' (Corrected Long Chronology) का समर्थन करते हैं। इस मत के अनुसार बुद्ध का परिनिब्बान लगभग 486-477 ईसा पूर्व के बीच हुआ माना जाता है। इस तिथि के अनुसार बुद्ध का जन्म 566-557 ईसा पूर्व के बीच होना संभव लगता है।

समकालीन इतिहासलेखन में बुद्ध के परिनिब्बान की लगभग 480 ईसा पूर्व की तिथि को व्यापक स्वीकृति प्राप्त है। इस अधिक प्रचलित मत के अनुसार बुद्ध की जन्म तिथि 560 ईसा पूर्व, अनुमानित की जा सकती है।

अतः यह कहा जा सकता है की बुद्ध का काल-खंड छटीं से पाँचवी शताब्दी ईसा पूर्व था।

7.5 बुद्ध के जीवनकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

दार्शनिक कार्ल जेसपर्ज़ के अनुसार आठवीं से तृतीय शताब्दी ईसा पूर्व के काल खंड में, प्राचीन यूनान से लेकर मध्य-पूर्व, फारस से लेकर भारत एवं चीन तक विचार, धर्म तथा दर्शन के क्षेत्र में एक क्रांति सी हुई जिसे वह अक्षीय युग (Axial Age) का नाम देते हैं। उनके अनुसार इस दौरान हुई धार्मिक एवं दार्शनिक क्रांति ने ही समकालीन विश्व की प्रमुख धार्मिक परम्पराओं की नींव रखी। भारत के संदर्भ में भी यह बात उपयुक्त है। भारत (विशेषतः उत्तर भारत) ने छटीं से पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व में राजनीतिक स्तर पर कुछ प्रमुख राज्यों का उदय देखा जिन्हें **सोलह महाजनपद** कहा जाता है। इसके साथ ही भारत में सिंधु घाटी सभ्यता के अवसान के बाद फिर नगरीकरण का प्रारम्भ हुआ जिसे **द्वितीय नगरीकरण** के नाम से जाना जाता।

सोलह महाजनपद जिन्हें षोडश महाजनपद के नाम से भी जाना जाता है की कुछ इस प्रकार थे

क्र. स.	महाजनपद	राजधानी	विस्तार (आधुनिक संदर्भ में)
1.	**अंग**	चम्पा	पूर्वी बिहार तथा पश्चिमी बंगाल का भाग
2.	**मगध**	राजगृह	दक्षिण बिहार, गंगा घाटी के दक्षिण का क्षेत्र
3.	**काशी**	वाराणसी	वाराणसी केन्द्रित पूर्वी उत्तर प्रदेश
4.	**कोसल**	श्रावस्ती	अवध क्षेत्र, पूर्वी उत्तर प्रदेश
5.	**वज्जि**	वैशाली	उत्तर बिहार; लिच्छवि सहित गणसंघ
6.	**चेदि**	शुक्तिमती	बुन्देलखण्ड (उ.प्र.–म.प्र.)
7.	**वत्स**	कौशाम्बी	प्रयागराज के निकट यमुना घाटी
8.	**कुरु**	इन्द्रप्रस्थ	दिल्ली, मेरठ तथा हरियाणा का भाग
9.	**पांचाल**	अहिच्छत्र एवं कम्पिल्य	उत्तर-पश्चिमी एवं मध्य उत्तर प्रदेश
10.	**अश्मक/अस्सक**	पोतन/पोतली	गोदावरी घाटी, महाराष्ट्र–तेलंगाना क्षेत्र
11.	**अवन्ति**	उज्जयिनी एवं माहिष्मती	मालवा तथा नर्मदा घाटी (मध्य प्रदेश)
12.	**गांधार**	तक्षशिला	उत्तर-पश्चिम पाकिस्तान एवं पूर्वी

			अफगानिस्तान
13.	**कम्बोज**	राजपुर/राजौरी क्षेत्र	कश्मीर के पश्चिमोत्तर तथा अफगान सीमा क्षेत्र
14.	**मल्ल**	कुशीनगर एवं पावा	पूर्वी उत्तर प्रदेश का गोरखपुर-कुशीनगर क्षेत्र
15.	**शूरसेन**	मथुरा	ब्रज क्षेत्र, पश्चिमी उत्तर प्रदेश
16.	**मत्स्य**	विराटनगर	उत्तर-पूर्वी राजस्थान (जयपुर–अलवर क्षेत्र)

7.6 महजनपदों में शासन व्यवस्था एवं राजनीतिक स्थिति

इन महाजनपदों में राजनीतिक व्यवस्था एक जैसी नहीं थी। कुछ में जैसे की मगध, कोसल, वत्स, अवन्ति आदि में राजतंत्र की व्यवस्था थी। वहीं वज्जी और मल्ल जैसे महाजनपदों में एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था थी जिसे गण-राज्य कहा जाता है। यहाँ पर राजतंत्र की तरह एक व्यक्ति का राज नहीं होता था परंतु, समूहिक नेतृत्व की परंपरा थी। इन गणराज्यों की राजनीतिक व्यवस्था को कुछ इतिहासकार जैसे के पी जैसवाल ने लोकतन्त्र का प्रारम्भिक रूप मानते हैं। परंतु कुछ अन्य इतिहासकार, गणराज्यों की शासन व्यवस्था को अल्पतन्त्र या अभिजात्यतन्त्र के रूप में देखते हैं जिसमें वास्तव में केवल एक कुल के सदस्यों (प्रायः उस गणराज्य की स्थापना करने वाले क्षत्रिय कुल) के सभी सदस्यों के समूहिक नेतृत्व में उस गणराज्य का शासन चलता था। जैसे की वज्जी आठ कुलों का एक समूह था जिनमें थे - लिच्छवि (सबसे शक्तिशाली और प्रमुख कुल), विदेह, ज्ञात्रिक / नाय, वज्जि (जिनके नाम पर गणराज्य का नाम था), उग्र, भोग, इक्ष्वाकु, कौरव जिन्हें पाली में अट्ठकुल वज्जी कहा जाता था। उसी प्रकार से मल्लों के भी आठ कुल प्रसिद्ध थे। ये गणराज्य शक्तिशाली होने के साथ अपनी स्वायत्ता के प्रति सचेत रहते थे।

सभी सोलह जनपदों में प्रतिद्वंदीता चलती रहती थी। विस्तारवाद की नीति के कारण कुछ महाजनपद अपना प्रभुत्व और क्षेत्र बढ़ा रहे थे। कोसल एवं मगध इनमें प्रमुख थे, इनके बीच हुए संघर्ष में अंततः कोसल राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित किया और मगध उत्तर भारत की प्रमुख शक्ति बनकर उभरा।

कुछ अन्य छोटे गणराज्य भी थे जैसे – रामग्राम के कोलिय, पिप्पलिवन के मोरिय, केसपुत्त के कालाम, सुम्सुमारगिरि के भग्ग एवं **कपिलवस्तु के शाक्य**।

7.7 बुद्ध का जीवन

कपिलवस्तु के शाक्य, वैसे तो कोसल के प्रभुत्व में आ चुके थे परंतु उनकी आंतरिक राज व्यवस्था गण-राज्य की ही थी। बुद्ध का जन्म इसी कुल के प्रमुख शुद्धोधन के वहाँ हुआ। पाली साहित्य के अनुसार बुद्ध का जन्म लुम्बिनी उपवन में हुआ था जब उनकी माता, माया अपने मायके की ओर जा रहीं थीं, नवजात शिशु का नाम सिद्धार्थ रखा गया। सिद्धार्थ के जन्म के एक सप्ताह में ही उनकी माता माया की मृत्यु हो गयी। सिद्धार्थ को उनकी विमाता एवं मौसी प्रजापति गौतमी ने पाला। मान्यता के अनुसार सिद्धार्थ के शरीर पर महापुरुषों में पाये जाने वाले 32 लक्षण (द्वत्तिंस महापुरिसलक्षणानि) थे। यह देख असित मुनि ने यह भविष्यवाणी की, कि इन लक्षण वाला शिशु बड़ा होकर या तो विश्व विजेता चक्रवर्ती राजा बनता है या फिर संसार का परित्याग करने वाला परिव्राजक सन्यासी।

इस बात के भय से कि उनका एकलौता बेटा और उत्तराधिकारी, बड़े होकर गृहत्याग कर सन्यासी न बन जाय, शुद्धोधन ने यत्नपूर्वक अपने पुत्र के लिए एक कृत्रिम, मनोरम संसार की रचना की जहां सांसरिक दुःख का कोई निशान न हो। उन्हें हर प्रकार की सुख सुविधा और विलासिता के बीच रखा गया। सिद्धार्थ को मानव जीवन की कटु वास्तविकताओं - व्याधि-पीड़ा , जरा-मरण से अनभिज्ञ रखा गया।

ऐसे वातावरण में पले राजकुमार सिद्धार्थ गौतम का विवाह सुप्रबुद्ध कि पुत्री भद्दकच्चाना (भद्रकत्यायनी) से हुआ, अन्य स्रोतों में उस कन्या का नाम यशोधरा, बिम्बा, बिम्बसुंदरी बताया गया उनका एक भी पुत्र भी हुआ जिसका नाम राहुल रखा गया। 29 वर्ष की उम्र में जब एक दिन राजकुमार सिधार्थ, भ्रमण पर गए, तो उन्हें 4 दृश्य दिखे, पहले तीन से वह बड़े व्यथित हुए। इन दृश्यों को चार निमित्त/संकेत (**चत्तारि निमित्तानि**) कहा जाता है।

प्रथम था एक वृद्ध व्यक्ति (**जराजीण्णं पुरिसं**),

दूसरा था एक रोगी व्यक्ति (**ब्याधितं पुरिसं**) ,

तीसरा था एक शव (**मतं पुरिसं**),

जब सिद्धार्थ ने अपने सारथी से इन दृश्यों के बारे में पूछा तो उसने उन्हें बताया, की यह सभी स्थितियाँ एक मनुष्य के जीवन में अवश्यंभावी हैं। कृत्रिम वातावरण में पले-बढ़े सिद्धार्थ के लिए यह सत्य अत्यंत व्यथित करने वाला था। थोड़ा आगे जाकर उन्हें चौथा दृश्य दिखा - एक सन्यासी (पब्बजितं समणं/ परिव्राजक श्रमण)। उस सन्यासी के चेहरे पर शांति का भाव देख कर सिद्धार्थ ने उसके बारे में पूछा तो उन्हें बताया गया की वह सन्यासी हैं, उसने सांसरिक जीवन का परित्याग कर दिया है और सत्य की खोज के मार्ग पर अग्रसर हैं। यह देख कर राजकुमार सिद्धार्थ के मन में मनुष्य जीवन के तीन अवश्यंभावी स्थितियों का समाधान आ गया। सिद्धार्थ ने उसी रात अपना घर-परिवार त्याग दिया और एक परिव्राजक ((पब्बजित) बन गए। इस घटना को महाभिनिष्क्रमण कहा जाता है। एक

एक परिव्राजक के रूप में वह कई धार्मिक अथवा दार्शनिक गुरुओं से मिले जैसे - आलार कालाम एवं उद्दक रामपुत्त परंतु उनकी दार्शनिक जिज्ञासा शांत नहीं हुई। इस दौरान वह उरवेला पहुंचे जहां उन्होंने कठिन तप करना प्रारम्भ किया। यहाँ कठोर तप में उन्हें पाँच अन्य सन्यासियों (पञ्च्वग्गीय भिक्खु) का साथ मिला – कोंडञ्ञ, वप्प, भद्दीय, महानाम और अस्स्जि। घोर तप साधना से सिद्धार्थ का शरीर जर्जर हो गया परंतु, उन्हें सत्य की प्राप्ति नहीं हुई। तब सिद्धार्थ को यह अहसास हुआ की अत्याधिक तप से वह चित्त को स्थिर नहीं कर सकते। उन्होंने अत्यधिक तप के अतिमार्ग को त्यागा और माध्यम मार्ग (मज़्झिम मार्ग) को अपनाया। ऐसा होने पर उनके साथी तपस्वी रुष्ट हो गए और उनका साथ छोड़ गए और ऋषिपत्तन मृगदाय चले गए।

निरंजना नदी के किनारे सेनानि ग्राम में सिद्धार्थ ने सुजाता नामक ग्वाल कन्या द्वारा अर्पित खीर खाई और एक पीपल के पेड़ के नीचे ध्यान में बैठ गए। सिद्धार्थ ने यह प्रण किया की वह अब, तब तक नहीं उठेंगे जब तक उन्हें ज्ञानप्राप्ति नहीं होती। गहन समाधि की स्थिति में बैठे सिद्धार्थ के ध्यान को भंग करने के लिए, संसार-बंधन के अधिष्ठाता देवता 'मार' ने कई प्रयास किए। उन्हें कई प्रकार के भय, प्रलोभन से उन्हें विचलित करने का प्रयास किया पर 'मार' सफल नहीं हुआ।

पाली साहित्य के अनुसार सम्यक संबोधी (बुद्धत्व) की स्थिति प्राप्त करने के लिए सिद्धार्थ इसी तरह सात सप्ताह तक निरंतर ध्यान में बैठे रहे। इस अवधि के पूर्ण होने पर उन्हें आखिरकार उन्हें बुद्धत्व की प्राप्ति हुई। पीपल के उस वृक्ष (बोधिवृक्ष) के नीचे सोद्धार्थ को निर्वाण प्राप्त हुआ और वह बुद्ध (जिसे बोध/ ज्ञान हो) के नाम से विख्यात हुए।

बुद्धत्व की प्राप्ति के बाद बुद्ध, सारनाथ की ऋषिपत्तन मृगदाय पहुंचे। यहाँ उन्होंने अपने पाँच पूर्व सहयोगियों - कोंडञ्ञ, वप्प, भद्दीय, महानाम और अस्स्जि को अपना पहला प्रवचन दिया। वह पाँच (पञ्च्वग्गीय भिक्खु) बुद्ध के पहले शिष्य बने इस घटना को धर्म चक्र प्रवर्तन (धम्म चक्क पवत्तन) के नाम से जाना जाता है। यह बौद्ध संघ का प्रारम्भ भी माना जा सकता है। अपने जीवन के बाकी वर्षों में बुद्ध एक परिव्राजक के भांति घूम कर अपने संदेश का प्रचार एवं प्रसार किया। 80 साल की आयु में बुद्ध ने कुशीनरा में अपनी देह त्याग दी, इस घटना को महापरिनिब्बन कहा जाता है।

7.8 बुद्ध का धम्म

बौद्धों के लिए धर्म (पाली: धम्म), बुद्ध की समस्त शिक्षाओं का समुच्चय है। बुद्ध के धार्मिक, नैतिक तथा दार्शनिक उपदेशों और उनके द्वारा प्रतिपादित जीवन-पद्धति को सामूहिक रूप से **धम्म** कहा जाता है।

बुद्ध धर्म का आधारभूत सिद्धान्त त्रिशरण (तिसरण) है, अर्थात – त्रिरत्न – बुद्ध, धम्म और संघ – की शरण ग्रहण करना।

त्रिशरण का पारंपरिक सूत्र है –

बुद्धं शरणं गच्छामि।
धम्मं शरणं गच्छामि।
संघं शरणं गच्छामि।

अर्थात मैं 'बुद्ध की शरण में जाता हूँ, मैं धम्म की शरण में जाता हूँ, मैं संघ की शरण में जाता हूँ।'

यहाँ धम्म बुद्ध द्वारा प्रतिपादित मार्ग – साधना पाठ एवं जीवन दर्शन के समुच्चय को दर्शाता है जिसका अनुसरण कर मनुष्य दुःख से मुक्ति प्राप्त कर निर्वाण की स्थिति में पहुँच सकता है। बुद्ध ने स्वयं अपने उपदेशों को मुक्ति का मार्ग बताया, जिसका आधार **चार आर्य सत्य (चत्तारि अरियसच्चानि)** तथा **आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग** है।

अन्य भारतीय परम्पराओं में धर्म शब्द का प्रयोग प्रायः सर्वोच्च एवं सार्वभौमिक नियम या व्यवस्था के लिए किया जाता है जैसे ऋत या धर्म। बौद्ध परंपरा में धम्म बुद्ध की शिक्षाओं के समुच्चय को इंगित करता है जिसके अनुसरण से मुक्ति या निर्वाण की प्राप्ति की जा सकती है। इस दृष्टिकोण में यह शिक्षा और मार्ग ही मनुष्य के लिए सर्वोच्च एवं सार्वभौमिक नियम का काम करती है।

7.9 चार आर्य सत्य

1. दुःख सर्वत्र व्याप्त है
2. दुःख का कारण है (दुःख समुदय)
3. दुःख के कारण के निवारण से दुःख का निवारण किया जा सकता है (दुःख निरोध)
4. दुःख के निवारण का मार्ग भी है (दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा)

चार आर्य सत्या तार्किक रूप से एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। जीवन में दुःख है यह प्रत्यक्ष सत्य है।' सब्बम दुःखम' का अर्थ है दुःख सभी जगह व्याप्त है। दुःख यहाँ पर सिर्फ एक व्यक्ति द्वारा अनुभव की गयी पीड़ा और हताशा मात्र से नहीं परंतु दुःख की अनन्य संभावनाओं को लक्षित करता है। दुःख वह हर स्थिति है जिसमें कोई व्यक्ति नहीं रहना चाहता। सुखदाई वस्तु सुख अस्थायी और क्षणभंगुर है, क्योंकि उसका आधार है इंद्रियों की तृप्ति जिनके साधन वास्तविक जीवन में सीमित हैं। इंद्रियों को तुष्ट करने की यह प्रवृत्ति को बुद्ध तृष्णा कहते है। यह प्रवृत्ति ही अन्य नकारात्मक मानवीय प्रवृत्तियों का आधार है। अतः दुःख के कारण के रूप में और उसके निदान के रूप में तृष्णा की भूमिका अहम है। उसी से दुःख के निवारण का रास्ता भी सामने आता है। इसमें यह ध्यान रखना आवश्यक है की यह सभी चीज़ें भी क्षणभंगुर (अनित्य/अनिच्च) हैं। ध्यान रखने की बात है, की जरा (बुढ़ापा), व्याधि (रोग) और मृत्यु से ब्रह्मांड की कोई शक्ति मनुष्य को बचा नहीं सकती। दुःख का निरोध मुक्ति के मार्ग से हो सकता है और मुक्ति की ओर ले जाने वाला रास्ता है **अष्टांगिक मार्ग**।

7.10 पञ्चक्कन्ध/पंचस्कन्ध

जिसे मानुष्य 'मैं' कहता है वह भी सदा परिवर्तित होने वाले अनुभवों की एक श्रृंखला ही है। अहं भाव को नदी की उपमा दी गयी है, जिस प्रकार एक नदी हमें एक समान प्रतीत होती है पर उसमें बह रहा जल निरंतर परिवर्तित होता रेहता है।

इस अहं के निर्माण में घटक तत्वों को पंचखंद कहा गया है। अहं या मैं पाँच स्कन्ध (समूहों) का संयोग मात्र है।

पञ्चक्कन्ध –

रूप- रूप से अभिप्राय है शरीर तथा समस्त भौतिक तत्व। इसमें चार महाभूत और उनसे निर्मित शरीर तथा भौतिक इंद्रियाँ शामिल हैं।

वेदना- इंद्रियों और विषयों के संपर्क से उत्पन्न सुखद, दुःखद अथवा सुखद न दुःखद (उपेक्षात्मक) अनुभूति।

संज्ञा- वह मानसिक प्रकृति जिससे हम किसी वस्तु व्यक्ति ध्वनि रंग घटना को पहचानते हैं और उसका नामकरण करते हैं तथा उसे स्मृति से जोड़ते हैं।

संस्कार - इच्छा, संकल्प, भावनाएँ, आदतें प्रवृत्तियाँ, कर्म प्रेरणाएँ जो की मानस के गठन में सम्मिलित होती हैं।

विज्ञान – चेतना या जानने की क्षमता। यह छह प्रकार की होती है चक्षु विज्ञान, श्रोत्र विज्ञान, घ्राण विज्ञान, जिह्वा विज्ञान काय विज्ञान और मनो विज्ञान।

मैं या अहम इन्हीं पाँच स्कंदों के सम्मिलन से बनता है।

7.11 आर्य अष्टांगिक मार्ग

बुद्ध के चौथे आर्य सत्य (दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा), अर्थात दुःख के निवारण के मार्ग का व्यावहारिक भाग आर्य अष्टांगिका मार्ग (पाली: अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो) है। बुद्ध के अनुसार इस मार्ग पर चल कर दुःखों से मुक्ति संभव है। यह हैं-

क्रम	पाली	संस्कृत	अर्थ
1.	सम्मा-दिट्ठि	सम्यग्दृष्टि	चार आर्य सत्यों की सही समझ एवं उन पर विश्वास
2.	सम्मा-सङ्कप्प	सम्यक्संकल्प	आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास प्रतिज्ञा
3.	सम्मा-वाचा	सम्यग्वाक्	असत्य एवं गलत बातें न बोलना
4.	सम्मा-कम्मन्त	सम्यक्कर्मान्त	हानिकारक कर्म न करना

5.	सम्मा-आजीव	सम्यगाजीव	प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हानिकारक व्यवसाय न करना
6.	सम्मा-वायाम	सम्यग्व्यायाम	स्वयं को सुधरने का प्रयास करना
7.	सम्मा-सति	सम्यक्स्मृति	सही ज्ञान से देखने की क्षमता
8.	सम्मा-समाधि	सम्यक्समाधि	मानसिक पवित्रता और शील से निर्वाण की ओर बढ़ना

1. सम्यग्दृष्टि- चार आर्य सत्यों, आत्मा(अनात्म), जगत तथा जीवन के उद्देश्यके संबंध सही समझ विकसित करना। प्रारम्भिक साधक, आरंभ में इन सिद्धांतों का पूर्ण अर्थ नहीं समझ सकता, इसलिए प्रारम्भिक साधक को इन सिद्धनातों के प्रति पूर्ण श्रद्धा और विश्वास रखने की सलाह दी जाती है। अपनी साधना के क्रम्म में वह स्वयं अपने अनुभव के अदाहर पर इन शीशाओं की सत्यता का प्रत्यक्ष अनुभव करता है। बुद्ध बार बार कहते हैं की एक व्यक्ति को उनकी शिक्षा केवल विश्वास/श्रद्धा के आधार पर नहीं परंतु अपने अनुभव और विवेक के आधार पर स्वीकार करनी चाहिए।

2. सम्यक्संकल्प – आध्यात्मिक उन्नति के लिए के प्रति उचित मानसिक प्रवृत्ति एवं दृढ़ निश्चय का विकास करना। तृष्णा से मुक्ति प्राप्त करने के लिए गंभीर प्रयास करने की प्रतिज्ञ करना।

3. सम्यग्वाक् - मिथ्या वाचन, कटु वचन, व्यर्थ/निरर्थक बातचीत से बचना। हानिकारक वचन जैसे किसी की बुराई करना, अफवाह उड़ना, चुगली करना इस प्रकार के कृत्यों से बचने का प्रयास करना। जहां जितना आवश्यक हो उतना ही बोलना।

4. सम्यक कर्मन्त – ऐसे किसी भी शारीरिक कर्म से बचना जिससे किसी को हानी पहुंचे। प्राणियों की हत्या, उनके प्रति अन्य हिंसा, चौर्य, अनुचित यौनचर आदि व्यवहार से बचना इसमें सम्मिलित हैं।

5. सम्यगाजीव- ऐसी जीविका अपनाना जिससे किसी दूसरे को कोई हानी न पहुंचे। छल कपात, अस्त्र-शस्त्र का व्यापार, माँस का व्यापार, मादक पदार्थों या विषैले पदार्थों का व्यापार आदि निषिद्ध वयवसायों में आते हैं।

6. सम्यग्व्यायाम – अशुभ और अकुशल मानसिक प्रवृत्तियों के त्याग का निरंतर प्रयास करना तथा शुभ और कुशल विचारों को विकसित करना।

7. सम्यक स्मृति – शरीर, मन तथा मानसिक अवस्थाओं के प्रति निरंतर सजग एवं सचेत रहना। अपने आध्यात्मिक उद्देश्यों को सदा स्मरण करना। यह साधक को इंद्रिय भोग की तृष्णा और नकारात्मक विचारों से बचाती है।

8. सम्यक समाधि – ध्यान साधना के माध्यम से मन को शुद्ध और एकाग्र रखना और मुक्ति के मार्ग पर आगे बढ़ना।

सम्यक कर्मन्त के निर्देश में ही **अहिंसा** का निर्देश भी निहित है, कोई भी ऐसा कर्म जिससे अन्य किसी जीव को हानी पहुंचे ऐसे शारीरिक कर्म से हमें बचना चाहिए।

मध्यम मार्ग

बुद्ध के मार्ग को माध्यम मार्ग/ मज्झिम मग्ग भी कहा जाता है। इसका अर्थ है इंद्रिय भोग में अत्यधिक लिप्तता तथा कठोर आत्मपीड़न (अत्यंत तपस्या) दोनों अतिमार्गों के बीच का मार्ग।

अष्टांगिक मार्ग मैं भी सम्यक शब्द का प्रयोग ध्यान देने लायक है। सम्यक से अभिप्राय 'सही' या 'गलत' से नहीं बल्कि उचित, पूर्ण, या संतुलित कार्य से है। उदाहरण स्वरूप सम्यक स्मृति का विपरीत मिथ्या स्मृति नहीं बल्कि अपूर्ण स्मृति है।

निर्वाण को प्राप्त करने के लिए अष्टांगिक मार्ग अपने आप में काफी है।

7.12 भिक्षु एवं उपासक

बौद्ध मत में दीक्षित व्यक्ति को (अरीय पुग्गल/ आर्य पुद्गल) की संज्ञा दी गयी है और अदीक्षित को (अनरीय पुग्गल/ अनार्य पुद्गल) कहा गया है। प्राचीन काल में बौद्ध धर्म के अनुयायी स्वयं को शाक्य नाम से संबोधित करते थे। बौद्ध समुदाय मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित था – पहला भिक्षु एवं भिक्षुणी, जिन्होंने सांसरिक जीवन परित्याग कर संघ में प्रवेश कर लिया है, तथा दूसरा गृहस्थ अनुयायी जिन्हें - उपासक कहा जाता था। विनयपिटक में भिक्षुओं और भिक्षुणियों के लिए विस्तृत रूप से आचार एवं व्यवहार की संहिता दी गयी है। गृहस्थ उपासकों के लिए मूलभूत आचरण के नियम भी पंचशील या पंचशिक्षपद के नाम से जाने जाते हैं।

7.13 पंचशील/पंचशिक्षपद

पंचशील गृहस्थ उपासकों के लिए नैतिक जीवन के आधारभूत नियम हैं। यह आचरण संबंधी पंच प्रतिज्ञाएँ हैं-

1.अहिंसा - **पाणातिपाता वेरमणी सिक्खापदं समादियामि।**

अर्थात - मैं प्राणी-हत्या से विरत रहने के शिक्षपद को ग्रहण करता हूँ।

2. अचौर्य /अस्तेय - **अदिन्नादाना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि।**

अर्थात - मैं चोरी (अदत्त वस्तु ग्रहण करने) से विरत रहने के शिक्षापद को ग्रहण करता हूँ।

3. ब्रह्मचर्य/कामसंयम- **कामेसु मिच्छाचारा वेरमणी सिक्खापदं समादियामि।**

अर्थात - मैं काम सम्बन्धी दुराचार से विरत रहने के शिक्षापद को ग्रहण करता हूँ।

4. सत्य- **मुसावादा वेरमणी सिक्खापदं समादियामि।**

अर्थात – मैं मिथ्या वाचन से विरत रहने के शिक्षापद को ग्रहण करता हूँ।

5. मादक पदार्थों का त्याग- **सुरामेरयमज्जपमादट्ठाना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि।**

अर्थात - मैं मदिरा तथा अन्य मादक पदार्थों, जो प्रमाद के कारण हैं, उनसे विरत रहने के शिक्षापद को ग्रहण करता हूँ।

यह पाँच नैतिक नियम गृहस्थ उपासकों के लिए व्यावहारिक आचार संहिता का आधार हैं।

7.14 बौद्ध नैतिक मूल्य और अहिंसा

अहिंसा पंचशील का प्रथम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। यह किसी भी प्राणी की हत्या का निषेध करता है। इसका उल्लंघन तब माना जाता है जब कोई व्यक्ति किसी प्राणी को सजीव जानकर, उसकी हत्या के उद्देश्य से उसे मरने का प्रयत्न करे और उसकी मृत्यु हो जाती है।

किसी भी प्राणी को हानी पहुंचाना इस शिक्षापद की भावना के विरुद्ध है। यह शिक्षापद केवल मनुष्यों ही नहीं अपितु पशु-पक्षियों तथा छोटे से छोटे कीट पतंगों के जीवन की रक्षा का भी निर्देश देता है। यह शिक्षापद बौद्ध परंपरा की प्रमुख नैतिक मूल्य करुणा से भी जुड़ा हुआ है । सभी प्राणियों के प्रति करुणा और सहानुभूति का भाव रखना बौद्ध धर्म की नैतिक शिक्षाओं का एक महत्वपूर्ण अंग है।

बौद्ध दर्शन में अहिंसा केवल हिंसा का अभाव मात्र नहीं है, सभी प्राणियों के प्रति करुणाभाव और मैत्रीभाव (मेत्ता) रखना अहिंसा का ही एक अंग हैं। करुणा का अर्थ है पर पीड़ा को समझना और उसे दूर करने का भाव रखना। मैत्री सभी प्राणियों के प्रति सद्भाव और कल्याण की भावना रखना है। प्राणी हिंसा न करने के निषेधात्मक शिक्षपद का सकारात्मक पक्ष करुणा और मैत्री हैं। 'व्हॉट द बुद्ध टॉट' पुस्तक में वलपोल राहुल कहते हैं की करुणा और मैत्री बौद्ध नैतिकता के मूल स्तम्भ हैं।

धम्म का उद्देश्य है दुःख का निरोध, क्योंकि हिंसा, द्वेष क्रोध दुःख के प्रमुख कारणों में से एक हैं अहिंसा धम्म का अनिवार्य अंग है।

7.15 निर्वाण (निब्बान)

बुद्ध की शिक्षाओं का परम लक्ष्य निर्वाण (पाली: निब्बान) है। निब्बान की व्युत्पत्ति - 'नि', अर्थात अभाव, तथा 'वान', अर्थात तृष्णा, आसक्ति अथवा लालसा है। अतः निब्बान का अर्थ है तृष्णा या

आसक्ति से पूर्णतः मुक्त हो जाना। निर्वाण अनासक्ति की एक स्थिति है जिसमें तृष्णा का लोप हो जाता है। निर्वाण का तात्पर्य शारीरिक मृत्यु से नहीं है अपितु इसका अर्थ है इच्छा, तृष्णा, आसक्ति, लोभ, अज्ञान, द्वेष तथा अहंकार का पूर्ण रूप से क्षय।

यह भी ध्यान देने की बात है की निर्वाण किसी विशेष स्थान, स्वर्ग अथवा ऐसे लोक का नाम नहीं है जहाँ मृत्योपरांत मनुष्य की आत्मा जाती हो, वह ऐसी स्थिति या अवस्था है जिसमें दुःख का अंत हो जाता है। बौद्ध धर्म यह नहीं मानता कि निर्वाण केवल मृत्यु के बाद ही प्राप्त हो सकता है, इस अवस्था को प्रत्येक व्यक्ति इस जीवन में भी प्राप्त कर सकता है। बौद्ध निर्वाण की अवधारणा और अन्य धार्मिक परम्पराओं में मृत्यु के बाद प्राप्त होने वाले स्वर्ग या ईश्वर के सान्निध्य या एकत्व की अवधारणा के बीच मुख्य अंतर यही है।

जब कोई साधक जीवित रहते हुए, निर्वाण प्राप्त करता है, तब उसे सोपादिशेष निर्वाणधातु कहा जाता है। जब कोई बोधत्व को प्राप्त अर्हत देह-त्याग के बाद अंतिम निर्वाण प्राप्त करता है, तो उसे परिनिब्बान (परिनिर्वाण) अथवा अनुपादिशेष निर्वाणधातु की संज्ञा दी जाती है।

7.16 सारांश

बुद्ध का धम्म एक व्यावहारिक जीवन दर्शन है, बुद्ध कहते हैं की उनकी शिक्षा के अनुसरण से मनुष्य मुक्ति (निर्वाण) की ओर अग्रसर हो सकता है। बुद्ध की सारी शिक्षाओं के समुच्चय को ही धर्म या धम्म कहा गया है। इस धम्म की आधारभूत अवधारणाएँ—चार आर्य सत्य, अष्टांगिक मार्ग, पंचशील तथा अहिंसा हैं। यह धम्म एक ऐसा जीवन-पथ है जो व्यक्ति को नैतिक आचरण, मानसिक अनुशासन तथा प्रज्ञा के विकास की प्रेरणा देता है।

7.17 अभ्यास प्रश्न

1. बुद्ध के अनुसार जीवन का मूल सत्य क्या है?

(A) मोक्ष
(B) आत्मा
(C) दुःख
(D) ईश्वर

2. चार आर्य सत्यों में दूसरा आर्य सत्य क्या है?

(A) दुःख
(B) दुःखसमुदय
(C) दुःखनिरोध
(D) मार्ग

3. अष्टांगिक मार्ग का प्रथम अंग कौन-सा है?

(A) सम्यक् संकल्प
(B) सम्यक् स्मृति
(C) सम्यक् दृष्टि
(D) सम्यक् समाधि

4. पंचशील का प्रथम शिक्षापद किससे संबंधित है?

(A) सत्य
(B) अस्तेय
(C) अहिंसा
(D) ब्रह्मचर्य

5. 'धम्मचक्कप्पवत्तन' का संबंध किससे है?

(A) बुद्ध के जन्म से
(B) प्रथम उपदेश से
(C) महापरिनिर्वाण से
(D) निर्वाण से

6. 'मेत्ता' का अर्थ है—

(A) ध्यान
(B) मैत्री
(C) तपस्या
(D) त्याग

7. गृहस्थ अनुयायियों को क्या कहा जाता है—

(A) भिक्षु
(B) श्रमण
(C) उपासक
(D) अर्हत

8. 'अहिंसा' का सकारात्मक रूप किसमें व्यक्त होता है?

(A) यज्ञ
(B) तप

(C) करुणा और मैत्री
(D) कर्मकाण्ड

9. बौद्ध धर्म का अंतिम लक्ष्य क्या है?

(A) स्वर्ग
(B) पुनर्जन्म
(C) निर्वाण
(D) योग

10. बौद्ध धर्म में 'धम्म' का प्रमुख उद्देश्य क्या है?

(A) यज्ञ और कर्मकाण्डों का पालन करना
(B) ईश्वर की उपासना करना
(C) दुःख से मुक्ति का मार्ग प्रदान करना
(D) वर्ण-व्यवस्था को सुदृढ़ करना

7.18 शब्दावली

धम्म - बुद्ध की शिक्षाओं पर आधारित नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन-पद्धति

चार आर्य सत्य - बुद्ध द्वारा प्रतिपादित वे चार मूल सत्य जो दुःख, उसके कारण, उसके निरोध और निरोध के मार्ग का वर्णन करते हैं।

अष्टांगिक मार्ग - दुःख-निरोध और निर्वाण की प्राप्ति के लिए बुद्ध द्वारा बताये गये आठ आचरणों का मार्ग।

पञ्चशील- गृहस्थ बौद्ध अनुयायियों के लिए निर्धारित पाँच नैतिक शिक्षापद।

निर्वाण- तृष्णा, द्वेष और अविद्या के क्षय द्वारा प्राप्त मुक्ति की परम अवस्था।

7.19 अभ्यास प्रश्न के उत्तर

1. **(C)** दुःख , 2. **(B)** दुःखसमुदय , 3. **(C)** सम्यक् दृष्टि

4. **(C)** अहिंसा , 5. **(B)** प्रथम उपदेश , 6. **(B)** मैत्री

7. **(C)** उपासक , 8. **(C)** करुणा और मैत्री , 9. **(C)** निर्वाण

10. **(C)** दुःख से मुक्ति का मार्ग प्रदान करना

7.20 संदर्भ ग्रंथ

1. Rahula, Walpola. *What the Buddha Taught*. New York: Grove Press, 1974.

2. Singh, Upinder. *A History of Ancient and Early Medieval India: From the Stone Age to the 12th Century*. New Delhi: Pearson Education, 2008.

3. पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र. *बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास*. वाराणसी: हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश.

4. राहुल सांकृत्यायन. *बौद्ध दर्शन*. प्रयागराज: किताब महल.

7.21 सहयोगी पाठ्य सामग्री

1. Gethin, Rupert. *The Foundations of Buddhism*. Oxford: Oxford University Press, 1998.

2. Harvey, Peter. *An Introduction to Buddhism: Teachings, History and Practices*. Cambridge: Cambridge University Press, 2013.

3. Thapar, Romila. *Early India: From the Origins to AD 1300*. New Delhi: Penguin Books, 2002.

4. Walshe, Maurice, trans. *The Long Discourses of the Buddha: A Translation of the Digha Nikay*. Boston: Wisdom Publications, 1995.

7.22 निबंधात्मक प्रश्न

1. बुद्ध के धम्म की अवधारणा का विवेचन करते हुए उसके प्रमुख तत्वों की व्याख्या कीजिए।

2. चार आर्य सत्य और अष्टांगिक मार्ग के पारस्परिक संबंध का विश्लेषण कीजिए।

3. पंचशील को बौद्ध नैतिकता का आधार क्यों माना जाता है? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।

4. बौद्ध धर्म में अहिंसा, करुणा और मैत्री के महत्व का विवेचन कीजिए।

5. बुद्ध की शिक्षाओं की समकालीन प्रासंगिकता पर चर्चा कीजिए।

इकाई- 8 आगनासुत्त

इकाई की संरचना

8.1 प्रस्तावना

8.2 उद्देश्य

8.3 आगनासुत्त: ग्रंथगत एवं ऐतिहासिक संदर्भ

8.4 आगनासुत्त की विषय-वस्तु और कथा-संरचना

8.5 ब्राह्मणवादी वर्ण-सिद्धांत का खंडन

8.6 सृष्टि-विकास और सामाजिक विकास की बौद्ध परिकल्पना

8.7 सम्पत्ति, अपराध और राजसत्ता की उत्पत्ति: महासम्मत की अवधारणा

8.8 चार सामाजिक वर्गों (मण्डलों) की उत्पत्ति

8.9 आगनासुत्त में निहित राजनीतिक सिद्धांत

8.10 धम्म की सर्वोच्चता और अर्हत की अवधारणा (सहित आलोचनात्मक मूल्यांकन)

8.11 सारांश

8.12 शब्दावली

8.13 अभ्यासार्थ प्रश्न (बहुविकल्पीय)

8.14 निबंधात्मक प्रश्न

8.15 संदर्भ ग्रंथ सूची

8.1 प्रस्तावना

बौद्ध दार्शनिक एवं राजनीतिक चिन्तन की परम्परा में दीघनिकाय के अंतर्गत संकलित आगनासुत्त (Aggañña Sutta, D 27) एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। पूर्व इकाई में हमने बौद्ध अवधारणाओं—धम्म और अहिंसा—का अध्ययन किया, जिसमें यह देखा गया कि किस प्रकार बुद्ध ने नैतिक आचरण, करुणा और अहिंसा को मानव-जीवन तथा सामाजिक व्यवस्था के केंद्र में रखा। उस वैचारिक आधार पर आगनासुत्त इस बात की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करता है कि मानव समाज, सामाजिक वर्ग-व्यवस्था (वर्ण), सम्पत्ति, अपराध और राजसत्ता का उद्भव किस प्रकार हुआ। यह सुत्त केवल एक सृष्टि-कथा (cosmogony) नहीं है, बल्कि अपने समय की प्रभुत्वशाली

ब्राह्मणवादी विचारधारा—विशेष रूप से ऋग्वेद के पुरुषसूक्त (10.90) में निहित वर्ण-व्यवस्था की दैवी उत्पत्ति के सिद्धांत—का सुनियोजित खंडन भी है।

आगनासुत्त का केन्द्रीय विचार यह है कि सामाजिक श्रेष्ठता जन्म पर आधारित नहीं, बल्कि व्यक्ति के कर्म, आचरण और व्यवसाय (profession) पर आधारित है। बुद्ध दो ब्राह्मण युवकों—वासेट्ठ और भारद्वाज, जो संघ में प्रव्रज्या ग्रहण करने हेतु परिवीक्षाधीन (probationary) थे—को यह बताते हैं कि ब्राह्मण समाज ने अपनी 'प्राचीन परम्परा' को भुला दिया है। इसके बाद बुद्ध एक रूपक-कथा (parable) के माध्यम से ब्रह्माण्ड के संकुचन-विस्तार (cosmic contraction and expansion), मानव-शरीर के क्रमिक विकास, यौनिकता के उद्भव, कृषि व निजी सम्पत्ति की स्थापना, चोरी व दण्ड की उत्पत्ति, तथा अंततः राजा (महासम्मत) एवं चार सामाजिक वर्गों (क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र) के उद्भव की व्याख्या करते हैं। यह सम्पूर्ण आख्यान एक 'सामाजिक उत्पत्ति-शास्त्र' (social aetiology) प्रस्तुत करता है, जो आगे आने वाली इकाई—बौद्ध धर्मानुपालन: अशोक, कनिष्क, बिम्बिसार, अजातशत्रु—में वर्णित ऐतिहासिक राजसत्ताओं द्वारा बौद्ध धम्म के व्यावहारिक प्रयोग को समझने हेतु सैद्धांतिक आधार प्रदान करता है। इस प्रकार यह इकाई बौद्ध नैतिक अवधारणाओं तथा ऐतिहासिक धर्मानुपालन के मध्य एक सेतु का कार्य करती है।

8.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात विद्यार्थी निम्नलिखित में सक्षम होंगे:

- आगनासुत्त के ऐतिहासिक, ग्रंथगत और सामाजिक संदर्भ को समझ पाना।
- ब्राह्मणवादी वर्ण-सिद्धांत के विरुद्ध बुद्ध के तर्कों का विश्लेषण कर पाना।
- आगनासुत्त में वर्णित सृष्टि-विकास और सामाजिक विकास की कथा को क्रमबद्ध रूप से समझना।
- सम्पत्ति, अपराध, दण्ड-व्यवस्था और राजसत्ता (महासम्मत) की उत्पत्ति संबंधी बौद्ध दृष्टिकोण को स्पष्ट कर पाना।
- आगनासुत्त में निहित सामाजिक अनुबंध (social contract), कर्म-आधारित वर्ग-व्यवस्था और समानता के सिद्धांतों की पहचान कर पाना।
- आगनासुत्त के राजनीतिक चिन्तन को बौद्ध धम्म की केन्द्रीय अवधारणाओं—विशेष रूप से धम्म की सर्वोच्चता—से जोड़ पाना।

8.3 आगनासुत्त: ग्रंथगत एवं ऐतिहासिक संदर्भ

आगनासुत्त दीघनिकाय के पाटिक वग्ग का चौथा सुत्त है (D 27, दीघनिकाय 3, 80-97)। 'अग्गञ्ञ' शब्द संस्कृत 'अग्र' का पालि रूप है, जिसके दो प्रमुख अर्थ हैं: (1) श्रेष्ठ, प्रमुख, मूल अर्थ में 'अग्र' अथवा 'अग्गण्ण' (अर्हत अथवा धम्म को 'सर्वश्रेष्ठ' कहने के संदर्भ में), और (2) वस्तुओं की उत्पत्ति अथवा प्रारम्भ (लोक की उत्पत्ति के अर्थ में)। यह शब्द-क्रीड़ा (wordplay) सम्पूर्ण सुत्त में चलती रहती है—जो कभी 'आदि/उत्पत्ति' का संकेत देती है और कभी 'सर्वश्रेष्ठ/प्रमुख' का।

इस सुत्त का चीनी आगम-साहित्य में भी समानांतर पाठ उपलब्ध है (दीर्घ आगम 5; मध्यम आगम 154; एकोत्तर आगम 40.1), तथा संस्कृत महावस्तु (लोकोत्तरवाद, महासांघिक शाखा) में भी इसका विस्तृत समानांतर वर्णन मिलता है। विद्वानों—विशेष रूप से रिचर्ड गोम्ब्रिच और स्टीवन कॉलिन्स के मतानुसार आगनासुत्त वस्तुतः ऋग्वेद के पुरुषसूक्त (10.90) की एक सुनियोजित पैरोडी (parody) है, जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति को क्रमशः विराट पुरुष के मुख, बाहु, जंघा और पैरों से बताया गया है। बुद्ध इस मिथक का खंडन करते हुए यह स्थापित करते हैं कि वर्ण-व्यवस्था दैवी उत्पत्ति का परिणाम नहीं, बल्कि एक ऐतिहासिक-सामाजिक प्रक्रिया का परिणाम है, जो मानव-समाज के आर्थिक एवं व्यावसायिक विकास के साथ क्रमशः विकसित हुई।

ऐतिहासिक दृष्टि से आगनासुत्त उस कालखण्ड (लगभग छठी-चौथी शताब्दी ईसा-पूर्व) की सामाजिक परिस्थितियों को प्रतिबिम्बित करता है, जब उत्तर भारत में नगरीकरण तीव्र गति से हो रहा था। जी. एर्डोसी जैसे इतिहासकारों के अनुसार, इस काल में ब्राह्मणवादी व्यवस्था ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक स्थापित थी, जबकि उभरते नगर-केन्द्रों में विचारों की बहुलता तथा नई आर्थिक गतिविधियाँ (व्यापार, उद्योग, प्रशासन) फल-फूल रही थीं। इन्हीं नगर-केन्द्रों में oligarchy से राजतंत्र की ओर संक्रमण भी हो रहा था—ठीक वैसा ही जैसा आगनासुत्त में 'महासम्मत' की निर्वाचन-प्रक्रिया द्वारा दर्शाया गया है। अतः यह सुत्त एक धार्मिक उपदेश होने के साथ-साथ अपने युग के सामाजिक-राजनीतिक यथार्थ का भी दस्तावेज़ है।

स्कॉलर सुजातो भिक्खु एवं रिचर्ड गोम्ब्रिच ने इस सुत्त को 'गंभीर व्यंग्य' (serious satire) के रूप में चिह्नित किया है—अर्थात इसकी कथा-शैली हास्यपूर्ण व विनोदी है, परन्तु इसका उद्देश्य अत्यंत गम्भीर है: यह सिद्ध करना कि वर्ण-व्यवस्था मानव-निर्मित संस्था है, न कि ईश्वर-प्रदत्त। स्टीवन कॉलिन्स ने यह भी दर्शाया है कि इस सुत्त की भाषा भिक्षु-संघ के विनय-नियमों (Vinaya rules) की ओर संकेत करती है—अर्थात आदिकालीन प्राणी जिन कार्यों में संलग्न होते हैं (भोजन संग्रहण, यौन-सम्बन्ध, निवास-स्थान निर्माण आदि), वे ठीक उन्हीं नियमों का उल्लंघन करते प्रतीत होते हैं जिनका पालन एक भिक्षु को करना चाहिए। इस प्रकार यह कथा भिक्षुओं के लिए परिचित विनय-संहिता के सन्दर्भ में और भी सार्थक एवं विनोदपूर्ण बन जाती है।

8.4 आगनासुत्त की विषय-वस्तु और कथा-संरचना

आगनासुत्त की कथा श्रावस्ती के पूर्वाराम में, मिगारमाता-प्रासाद में घटित होती है, जहाँ बुद्ध सायंकाल विहार करते हुए वासेट्ठ और भारद्वाज से भेंट करते हैं। दोनों ब्राह्मण-कुल से सम्बद्ध युवक संघ में प्रव्रज्या हेतु परिवीक्षा-काल में हैं। बुद्ध उनसे पूछते हैं कि क्या ब्राह्मणों द्वारा उनकी निन्दा की गई है। उत्तर में वे बताते हैं कि ब्राह्मण उन्हें यह कहकर धिक्कारते हैं कि 'ब्राह्मण ही सर्वश्रेष्ठ वर्ण है, अन्य वर्ण निम्न हैं; ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न, ब्रह्मा के पुत्र हैं; तुम लोग श्रेष्ठ वर्ण छोड़कर निम्न वर्ण (श्रमण) में चले गये हो।' इसके उत्तर में बुद्ध की पहली टिप्पणी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है: 'ब्राह्मणों ने अपना प्राचीन इतिहास भुला दिया है' (porāṇa assarantā)। यह कथन सम्पूर्ण सुत्त की केन्द्रीय थीसिस को स्थापित करता है।

8.4.1 दस अकुशल और दस कुशल कर्म-पथ

बुद्ध सर्वप्रथम यह दर्शाते हैं कि चारों वर्णों—क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र—में से किसी में भी कोई व्यक्ति दस अकुशल कर्म-पथों (प्राणि-वध, चोरी, व्यभिचार, मिथ्या-भाषण, चुगली, कठोर वचन, व्यर्थ बकवाद, लोभ, द्वेष, मिथ्या-दृष्टि) में प्रवृत्त हो सकता है, और इसी प्रकार कोई भी व्यक्ति दस कुशल कर्म-पथों का पालन कर सकता है। चूँकि शुभ और अशुभ गुण चारों वर्णों में समान रूप से बिखरे हुए पाए जाते हैं, अतः विद्वज्जन ब्राह्मणों के इस दावे को स्वीकार नहीं करते कि केवल ब्राह्मण ही श्रेष्ठ है। इसके विपरीत, जो भी व्यक्ति—किसी भी वर्ण से—अर्हत्व प्राप्त करता है, वही वास्तव में 'अग्ग' (श्रेष्ठ/प्रमुख) कहलाने योग्य है, क्योंकि 'धम्म ही इस लोक और परलोक में सर्वश्रेष्ठ (सेट्ठ) है' (dhammo seṭṭho jane)।

इस तर्क को सुदृढ़ करने हेतु बुद्ध एक ऐतिहासिक उदाहरण देते हैं: कोसल के राजा पसेनदि शाक्यों के अधिराज होते हुए भी तथागत बुद्ध (जो शाक्य-कुल से सम्बद्ध हैं) के प्रति अत्यंत विनय और सम्मान प्रदर्शित करते हैं, क्योंकि बुद्ध धम्म के प्रतिनिधि हैं। इस प्रकार, यद्यपि सामाजिक रूप से शाक्य कोसल के अधीन हैं, धम्म की दृष्टि से बुद्ध सर्वोपरि हैं। बुद्ध यह घोषणा भी करते हैं कि वासेट्ठ और भारद्वाज, अपने पूर्व कुल-गोत्र को त्यागकर, अब 'शाक्यपुत्तिय' (शाक्यपुत्र अर्थात बुद्ध के आध्यात्मिक पुत्र) कहलाने के अधिकारी हैं—'धम्म से उत्पन्न, धम्म द्वारा निर्मित, धम्म के उत्तराधिकारी'।

8.5 ब्राह्मणवादी वर्ण-सिद्धांत का खंडन

इस खण्ड के अध्ययन से पूर्व यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि आगनासुत्त में प्रस्तुत तर्क-विधान एक प्राचीन अंतर-सम्प्रदायिक धार्मिक-दार्शनिक विमर्श (inter-traditional doctrinal debate) का भाग है, जो ईसा-पूर्व छठी-पाँचवीं शताब्दी की विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों में, श्रमण एवं

ब्राह्मण परम्पराओं के मध्य वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति को लेकर हुए वाद-विवाद से उत्पन्न हुआ है। इसका अकादमिक अध्ययन हमें इस ऐतिहासिक विमर्श की संरचना, तर्क-पद्धति एवं उस युग की सामाजिक चेतना को समझने हेतु करना है—न कि इसे किसी समकालीन सामाजिक समूह के विरुद्ध टिप्पणी अथवा निर्णय के रूप में देखना है। निम्नलिखित विवरण मूल पाठ में निहित बुद्ध के तर्कों की प्रस्तुति है; इन्हें तत्कालीन एक विशिष्ट दार्शनिक परम्परा के दृष्टिकोण के रूप में, तथा बाद के विद्वानों द्वारा इनके आलोचनात्मक मूल्यांकन के साथ ही समझा जाना चाहिए।

बुद्ध का तर्क-विधान बहुस्तरीय है। प्रथम स्तर पर सुत्त में यह तार्किक आक्षेप प्रस्तुत किया गया है कि यदि ब्राह्मण वर्ग वास्तव में ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने का दावा करता है, तो यह दावा उस सर्वज्ञात तथ्य के साथ असंगत प्रतीत होता है कि ब्राह्मण-कुल की स्त्रियाँ भी अन्य मनुष्यों के समान गर्भधारण, प्रसव एवं स्तनपान की प्रक्रिया से गुजरती हैं। सुत्त में इस असंगति को 'ब्रह्मा के विषय में भ्रामक कथन' (Brahma misrepresentation) कहा गया है—यह कथन सुत्त के भीतर बुद्ध द्वारा प्रस्तुत एक विशिष्ट धार्मिक-दार्शनिक युक्ति है, जिसे विद्वानों ने वैदिक पुरुषसूक्त की सृष्टि-कल्पना पर एक सुनियोजित साहित्यिक व्यंग्य (literary satire) के रूप में चिह्नित किया है।

दूसरे स्तर पर बुद्ध एक नैतिक-अनुभववादी (empirical-moral) कसौटी प्रस्तुत करते हैं: किसी वर्ण की श्रेष्ठता अथवा निम्नता का निर्धारण जन्म से नहीं, अपितु आचरण (कर्म) से होता है। वहाँ धम्म को सार्वभौमिक नैतिक नियम तथा अहिंसा को आचरण की कसौटी के रूप में देखा गया था; आगनासुत्त उसी सिद्धांत को सामाजिक-राजनीतिक धरातल पर विस्तारित करता है। तीसरे स्तर पर बुद्ध एक सामाजिक-ऐतिहासिक तर्क प्रस्तुत करते हैं—अर्थात पूरी सृष्टि-कथा के माध्यम से यह दर्शाते हैं कि वर्ण-व्यवस्था वस्तुतः मानव-समाज के आर्थिक एवं व्यावसायिक विकास की उपज है, दैवी विधान नहीं।

इस संदर्भ में मधुर सुत्त (मज्झिमनिकाय 84), वासेट्ठ सुत्त (मज्झिमनिकाय 98), तथा असलायन सुत्त (मज्झिमनिकाय 93) का भी उल्लेख आवश्यक है, जहाँ महाकात्यायन एवं स्वयं बुद्ध यह सिद्ध करते हैं कि चारों वर्ण समान रूप से शुद्ध हो सकते हैं, तथा सामाजिक प्रतिष्ठा अर्जित की जाती है, विरासत में नहीं मिलती। ब्राह्मणधम्मिक सुत्त (सुत्तनिपात 7) में भी यह दिखाया गया है कि वर्तमान ब्राह्मण अपने पूर्वजों के आदर्श जीवन-मूल्यों से पतित हो गये हैं। इस सूत्र का मुख्य उद्देश्य यह दिखाना है कि प्राचीन ब्राह्मणों का जीवन आदर्श,संयमी और नैतिक था, जबकि बाद के ब्राह्मण उस आदर्श से विचलित होकर कर्मकांड, यज्ञ और पशुबलि में उलझ गए।

8.6 सृष्टि-विकास और सामाजिक विकास की बौद्ध परिकल्पना

आगनासुत्त के केन्द्रीय भाग (अनुच्छेद 10-25) में बुद्ध एक विस्तृत रूपक-कथा प्रस्तुत करते हैं, जो बौद्ध दर्शन की स्पन्दनशील ब्रह्माण्ड-अवधारणा (pulsating universe) पर आधारित है—अर्थात

ब्रह्माण्ड का संकुचन (सम्वट्ट), संकुचित स्थिर अवस्था, विस्तार (विवट्ट), और विस्तारित स्थिर अवस्था—इन चार अवस्थाओं का अनवरत चक्र। यह चक्र (कतुक्क कप्प सुत्त, अंगुत्तरनिकाय 4.156 में वर्णित) असंख्येय (अकल्पनीय रूप से दीर्घ) काल तक चलता है।

8.6.1 आभस्सर लोक से अवतरण

जब ब्रह्माण्ड संकुचित होता है, तो अधिकांश प्राणी आभस्सर ब्रह्मलोक (द्वितीय ध्यान का उच्चतम लोक) में जन्म लेते हैं, जहाँ वे मनोमय (mind-made), प्रीति का आहार करते हुए, स्वयं-प्रकाशमान, आकाश में विचरण करते हुए, अत्यंत दीर्घ काल तक निवास करते हैं। जब ब्रह्माण्ड पुनः विस्तृत होने लगता है, तो ये ही प्राणी आभस्सर लोक से च्युत होकर इस (नवोदित) लोक में पुनर्जन्म लेते हैं। इस अवस्था में सम्पूर्ण जगत् मात्र जल-राशि और अंधकार से आवृत्त होता है—न सूर्य, न चन्द्र, न दिन, न रात्रि, न लिंग-भेद। प्राणी केवल 'प्राणी' मात्र कहलाते हैं।

8.6.2 रस-पृथिवी और क्रमिक पतन

कालांतर में जल-राशि के ऊपर एक मधुर, सुगंधित 'रस-पृथिवी' (savoury earth) प्रकट होती है, जो दुग्ध के ऊपर जमने वाली मलाई के समान दिखती थी—रंग में घृत-तुल्य, स्वाद में मधु-तुल्य। एक लोभी-स्वभाव वाला प्राणी इसे अपनी अंगुली से चखता है; अन्य प्राणी भी इसका अनुसरण करते हैं। इस भोग के परिणामस्वरूप उनकी स्वयं-प्रकाशमानता (self-luminance) लुप्त हो जाती है, और इसी के साथ सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, दिन-रात्रि, मास-पक्ष तथा वर्ष-ऋतुओं का उद्भव होता है—अर्थात भौतिक काल-गणना की शुरुआत होती है।

यहाँ से एक महत्त्वपूर्ण नैतिक प्रतिमान (pattern) स्थापित होता है, जो सम्पूर्ण कथा में बार-बार दोहराया जाता है: प्राणी एक भोजन-स्रोत पर निर्भर होते हैं; अति-भोग एवं अहंकार (अपने रूप-सौंदर्य के प्रति गर्व) के कारण वह भोजन-स्रोत लुप्त हो जाता है; उसके स्थान पर एक स्थूल भोजन-स्रोत प्रकट होता है। इस प्रकार रस-पृथिवी के पश्चात सुगंधित भूमि-कवक (bhūmi-pappaṭaka), तत्पश्चात लता (badālatā), और अंततः अकृष्ट, स्वतः उत्पन्न होने वाला चावल (rice) प्रकट होता है। प्रत्येक चरण में प्राणियों के शरीर स्थूल होते जाते हैं, तथा उनके रूप-सौंदर्य में भेद उत्पन्न होने लगता है—जिससे सुन्दर प्राणी कुरूप प्राणियों का तिरस्कार करने लगते हैं। यह क्रमिक नैतिक पतन (moral degeneration) इस सुत्त का केन्द्रीय दार्शनिक प्रतिपादन है: भौतिक लोभ और अहंकार ही समस्त सामाजिक पतन के मूल कारण हैं।

8.6.3 यौनिकता, गृह-निर्माण और सामाजिक नियंत्रण

जब प्राणी अकृष्ट चावल का सेवन करते हैं, तो उनके शरीर और भी स्थूल हो जाते हैं, तथा स्त्री और पुरुष के लैंगिक अंगों (sex organs) का विकास होता है। स्त्री-पुरुष परस्पर अत्यधिक आकर्षित

होने लगते हैं, जिससे काम-वासना उत्पन्न होती है और वे मैथुन-क्रिया में प्रवृत्त होते हैं। आरम्भ में यह कृत्य समाज द्वारा अनैतिक माना जाता था—जो प्राणी इसमें प्रवृत्त होते, उन्हें एक-दो माह तक ग्राम अथवा नगर में प्रवेश नहीं दिया जाता था, तथा अन्य प्राणी उन पर धूल, राख अथवा गोबर फेंकते थे (जो आज भी कुछ क्षेत्रों में विवाह की रीति में परिवर्तित रूप में देखा जाता है)। परन्तु जब यह प्रवृत्ति व्यापक हो गई, तो प्राणियों ने इसे छिपाने हेतु घर (आगार) बनाना प्रारम्भ किया। यहाँ एक सूक्ष्म व्यंग्य निहित है: गृहस्थ-जीवन का प्रारम्भ, जो ब्राह्मणवादी समाज में अत्यंत सम्मानित संस्था है, बौद्ध दृष्टि में मूलतः अनैतिक यौन-आचरण को छिपाने हेतु उत्पन्न हुई संस्था के रूप में प्रस्तुत किया गया है—जबकि बौद्ध भिक्षु का 'अगारस्मा अनगारियं' (गृहस्थ से अनगारिक) जीवन इसके सर्वथा विपरीत आदर्श है।

8.7 सम्पत्ति, अपराध और राजसत्ता की उत्पत्ति: महासम्मत की अवधारणा

8.7.1 श्रम-विभाजन और निजी सम्पत्ति का उद्भव

प्रारम्भ में चावल बिना किसी श्रम के पुनः-पुनः उत्पन्न होता रहता था—सायंकाल काटा गया चावल प्रातःकाल पुनः परिपक्व हो जाता था। परन्तु एक 'आलसी स्वभाव' के प्राणी ने यह विचार किया कि बार-बार चावल संग्रहित करने के स्थान पर एक ही बार में दोनों समय का चावल जमा कर लिया जाए। यह प्रवृत्ति अन्य प्राणियों में भी फैल गई—कुछ ने दो दिन, कुछ ने चार दिन, कुछ ने आठ दिन के लिए संग्रहण करना प्रारम्भ किया। इसी संग्रहण-प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप चावल पर भूसी और छिलका चढ़ने लगा, और काटे जाने पर वह पुनः नहीं उगता था—अर्थात कृषि (harvesting) की आवश्यकता उत्पन्न हुई। इस स्थिति में प्राणियों ने सामूहिक रूप से निर्णय लिया कि चावल के खेतों को विभाजित कर सीमा-रेखाएँ निर्धारित की जाएँ—यह निजी सम्पत्ति (private property) की प्रतीकात्मक उत्पत्ति है।

8.7.2 चोरी, दण्ड और सामाजिक संकट

निजी सम्पत्ति की स्थापना के पश्चात ही चोरी का उद्भव होता है। एक लोभी-स्वभाव प्राणी अपने हिस्से की रक्षा करते हुए भी दूसरे के बिना दिए हुए (adinna) हिस्से को चुरा लेता है। पहली बार पकड़े जाने पर उसे चेतावनी दी जाती है, दूसरी बार पुनः चेतावनी, परन्तु तीसरी बार पकड़े जाने पर समाज उसे हाथों, मिट्टी के ढेलों और लाठियों से पीटता है। इस प्रकार, बुद्ध के अनुसार, इसी क्षण से 'चोरी, निन्दा, मिथ्या-भाषण और दण्ड (daṇḍa) शाब्दिक अर्थ 'दण्ड/लाठी का प्रयोग') का प्रारम्भ' हुआ। यह विवरण अत्यंत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह हॉब्स की 'प्रकृति की अवस्था' (state of nature) से तुलनीय एक सामाजिक संकट की स्थिति प्रस्तुत करता है, जहाँ बिना किसी केन्द्रीय सत्ता के हिंसा और अव्यवस्था की संभावना निरंतर बनी रहती है।

8.7.3 महासम्मत: 'जनता द्वारा निर्वाचित' राजा

इस संकट से उद्विग्न होकर प्राणी सामूहिक रूप से एकत्र होते हैं और विलाप करते हुए विचार करते हैं: 'क्या हम अपने में से किसी एक प्राणी को नियुक्त करें, जो उचित निन्दा करे, उचित दण्ड दे, तथा उचित निष्कासन (banishment) करे—और प्रत्युत्तर में हम उसे अपने चावल का एक भाग प्रदान करें ?' इस विचार के अनुसार वे अपने में से सर्वाधिक सुन्दर, सर्वाधिक मनोहर, सर्वाधिक समर्थ प्राणी के पास जाते हैं और उसे यह दायित्व सौंपते हैं, जिसके बदले उसे चावल का भाग दिया जाता है। यह प्राणी सहमत होता है—और इस प्रकार राजसत्ता का प्रथम स्वरूप उत्पन्न होता है।

इस प्रथम शासक को तीन नाम (उपाधियाँ) प्राप्त होती हैं, जिनकी निरुक्ति (etymology/nirukti) बुद्ध स्वयं प्रस्तुत करते हैं:

- महासम्मत (Mahā Sammata) — 'जिसे महाजन द्वारा सम्मत/स्वीकृत/निर्वाचित किया गया हो' (mahā-janena sammato)। यह प्रथम उपाधि है।
- खत्तिय (Khattiya, क्षत्रिय) — 'खेतों का स्वामी' (khettānaṁ pati), अर्थात भूमि का अधिपति। यह द्वितीय उपाधि है।
- राजा (Rājā) — 'जो धम्म द्वारा अन्य प्राणियों को आनंदित/संतुष्ट करता है' (dhammena pare rañjeti), यह तृतीय उपाधि है।

यह विवरण राजनीतिक सिद्धांत की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। स्टीवन कॉलिन्स तथा पीटर हार्वी जैसे विद्वानों ने इस प्रसंग को एक प्रकार के 'सामाजिक अनुबंध' (social contract) की संरचना के रूप में विश्लेषित किया है—यद्यपि यह आधुनिक पश्चिमी अर्थ में पूर्ण विधिक अनुबंध (contract) नहीं है, तथापि इसमें अनुबंध की मूल भावना अवश्य विद्यमान है: समाज स्वेच्छा से, सामूहिक सहमति (consent) द्वारा, परस्पर लाभ (प्रजा को सुरक्षा एवं व्यवस्था, राजा को कर/भाग) की प्रत्याशा में, एक शासक को सत्ता प्रदत्त करता है। यहाँ राजसत्ता न तो दैवी अधिकार (divine right) से उत्पन्न है, न ही बलपूर्वक थोपी गई है, अपितु यह जनता की आवश्यकता एवं सहमति से उत्पन्न एक सामाजिक संस्था है। इसके साथ ही 'राजा' की निरुक्ति—'जो धम्म द्वारा प्रजा को संतुष्ट करे'—यह स्पष्ट करती है कि शासक की वैधता (legitimacy) उसके धम्म-पालन पर निर्भर करती है, न कि केवल बल अथवा वंश पर। यही सिद्धांत आगे चलकर अशोक के 'धम्म-विजय' की अवधारणा का सैद्धांतिक पूर्वाधार बनता है, जिसका अध्ययन हम अगली इकाई में करेंगे।

8.8. चार सामाजिक वर्गों (मण्डलों) की उत्पत्ति

महासम्मत की नियुक्ति के पश्चात आगनासुत्त शेष तीन वर्णों/मण्डलों (माण्डल, अर्थात व्यावसायिक समुदाय-चक्र) की उत्पत्ति का वर्णन करता है। ध्यान देने योग्य है कि बुद्ध प्रत्येक वर्ण के नामकरण में एक सुसंगत निरुक्ति-पद्धति अपनाते हैं, जिसमें वर्ण-नाम सीधे उस समूह के व्यावसायिक कर्म से व्युत्पन्न होता है—जन्म से नहीं।

8.8.1 क्षत्रिय मण्डल

जैसा ऊपर वर्णित है, क्षत्रिय वर्ग की उत्पत्ति महासम्मत (प्रथम शासक) से होती है, जो भूमि के स्वामी (खेत्तान पति) के रूप में जाने जाते हैं—अर्थात भूमि के प्रशासन एवं संरक्षण के दायित्व से क्षत्रिय की पहचान जुड़ी है।

8.8.2 ब्राह्मण मण्डल

कुछ प्राणी यह विचार करते हैं: 'चोरी, निन्दा, मिथ्या-भाषण, दण्ड एवं निष्कासन जैसी बुरी प्रवृत्तियाँ हमारे मध्य प्रकट हो गई हैं; आओ हम इन अकुशल धर्मों से दूर रहें (bāhenti)। इसी 'दूर रहने' (बाहन) की क्रिया से 'ब्राह्मण' (brāhmaṇa) नाम की व्युत्पत्ति होती है—यह प्रथम उपाधि है। वे वन में पर्ण-कुटी बनाकर ध्यान (jhāyanti) करते हैं—इससे द्वितीय उपाधि 'झायक' (ध्यान करने वाले) प्राप्त होती है। परन्तु कालांतर में कुछ ब्राह्मण वन में ध्यान करने में असमर्थ होकर ग्राम-नगर के समीप बस जाते हैं और ग्रंथ-रचना (गन्थ करोन्ति) में संलग्न होते हैं। ऐसे लोग 'अब ध्यान नहीं करते' (na dāni jhāyanti)—इस कारण उन्हें 'अज्झायक' (अध्ययन करने वाले, परन्तु शब्दशः 'अ-ध्यायक' अर्थात 'जो ध्यान नहीं करते') कहा जाता है, जो तृतीय उपाधि है। बुद्ध स्वयं टिप्पणी करते हैं कि उस समय यह उपाधि निम्न (lowly) मानी जाती थी, परन्तु आज (बुद्ध के समय में) यही सर्वाधिक सम्मानित मानी जाती है—यह कथन वेद-पाठी ब्राह्मणों पर एक सूक्ष्म व्यंग्य है, जो ध्यान-साधना के स्थान पर मात्र शास्त्र-पाठ को श्रेष्ठ मानने लगे हैं।

8.8.3 वैश्य मण्डल

मूल पालि पाठ (vissuta-kammante, कुछ संस्करणों में vissu-kammante) की निरुक्ति को लेकर विद्वानों में पूर्ण सहमति नहीं है। पारम्परिक अनुवाद (Walshe 1995) के अनुसार जो प्राणी दाम्पत्य-सम्बन्ध स्थापित करते हुए 'विविध' (vissuta) आर्थिक कार्यों में संलग्न होते हैं, वे 'वेस्स' (वैश्य) कहलाते हैं। इसके विपरीत के.आर. नॉर्मन के भाषाशास्त्रीय विश्लेषण के अनुसार मूल पद का सम्बन्ध संस्कृत 'veśman/viśma' (गृह) से है, अर्थात इसका अर्थ 'गृहस्थोचित/घरेलू कार्य' (domestic occupations) के निकट है, न कि 'विविध व्यवसाय' (देखें Collins 1993a;

Norman 1991)। यह विवेचन इस बात का उदाहरण है कि पालि भाषाशास्त्र में अनेक प्राचीन पदों के अर्थ-निर्धारण पर आज भी विद्वत्-विमर्श जारी है, तथा छात्रों को मूल पाठ की किसी एक निरुक्ति को अंतिम सत्य मानने के स्थान पर इन भिन्न-भिन्न विद्वत्-मतों से अवगत होना चाहिए। दोनों ही व्याख्याओं में यह सामान्य बिंदु अक्षुण्ण रहता है कि वैश्य-संज्ञा का आधार आर्थिक/व्यावसायिक कार्य है, जन्म नहीं।

8.8.4 शूद्र मण्डल

सुत्त के अनुसार शेष प्राणी, जिनके आचरण को मूल पालि पाठ में 'ludd'ācāra, khudd'ācāra' (अर्थात निम्नकोटि अथवा अनादृत जीवन-शैली) कहा गया है, 'सुद्द' (शूद्र) नामक संज्ञा से सम्बोधित होते हैं। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि प्रामाणिक अनुवादों (Walshe 1995; Piya Tan 2003/2014) में इस आचरण की कोई विशिष्ट वृत्ति (जैसे कोई विशेष पेशा) निर्दिष्ट नहीं की गई है; पाठ केवल सामान्य रूप से निम्नकोटि जीवन-शैली का संकेत करता है। अतः अध्येताओं को इस श्रेणी की व्याख्या में मूल पाठ से बाहर किसी विशिष्ट वृत्ति का आरोपण करने से बचना चाहिए। ध्यातव्य है कि यह वर्गीकरण सुत्त के अपने आंतरिक तर्क-क्रम का भाग है—अर्थात यह सुत्त की उस केन्द्रीय युक्ति को ही आगे बढ़ाता है कि समस्त वर्ण-नामकरण आचरण/वृत्ति पर आधारित है, जन्म पर नहीं। आधुनिक अकादमिक अध्ययन में इस वर्गीकरण को प्राचीन धार्मिक-सामाजिक विमर्श के ऐतिहासिक दस्तावेज़ के रूप में देखा जाना चाहिए, न कि किसी समकालीन सामाजिक समूह के मूल्यांकन की कसौटी के रूप में।

8.8.5 श्रमण मण्डल

अंततः बुद्ध एक पंचम 'मण्डल' का भी उल्लेख करते हैं—श्रमण (samaṇa) मण्डल—जिसकी उत्पत्ति इस प्रकार होती है: चारों वर्णों में से किसी भी वर्ण का कोई व्यक्ति, यदि अपने वर्ण-धर्म (अपने पूर्व जीवन-पद्धति) से असंतुष्ट होकर गृह-त्याग कर 'श्रमण' बनने का संकल्प लेता है, तो वह श्रमण मण्डल में सम्मिलित होता है। यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह दर्शाता है कि श्रमण-परम्परा (जिसके अंतर्गत बौद्ध संघ भी आता है) कोई जन्म-आधारित वर्ण नहीं, अपितु एक स्वैच्छिक, कर्म-आधारित, सभी वर्णों के लिए समान रूप से सुलभ मार्ग है।

इन सभी वर्णों/मण्डलों के विवरण के अंत में एक समान सूत्र-वाक्य (refrain) दोहराया जाता है: 'यह उन्हीं प्राणियों से उत्पन्न हुआ, जो स्वयं हमारे समान हैं, भिन्न नहीं; और यह धम्म के अनुसार उत्पन्न हुआ, अन्यथा नहीं' (tesaṁ yeva sattānaṁ anaññesaṁ, dhammena no adhammena)। यह दोहराव बुद्ध की केन्द्रीय थीसिस को सुदृढ़ता प्रदान करता है: समस्त सामाजिक वर्ग मूलतः समान प्राणियों से, समान परिस्थितियों में, धम्म (नैतिक/सामाजिक नियम) के अनुसार उत्पन्न हुए हैं—न कि किसी दैवी पूर्व-निर्धारित विधान से।

8.9 आगनासुत्त में निहित राजनीतिक सिद्धांत

आगनासुत्त को बौद्ध राजनीतिक चिन्तन का एक आधार-ग्रंथ माना जाता है, क्योंकि इसमें निम्नलिखित राजनीतिक सिद्धांतों के बीज स्पष्ट रूप से विद्यमान हैं:

8.9.1 कर्म-आधारित (functional) सामाजिक संरचना

आगनासुत्त वर्ण-व्यवस्था को 'जाति' (जन्म-आधारित, स्थायी, वंशानुगत श्रेणीकरण) के रूप में नहीं, बल्कि 'वृत्ति/पेशा' (profession) के रूप में प्रस्तुत करता है । यह दृष्टिकोण आधुनिक 'व्यावसायिकता' (professionalism) की अवधारणा से तुलनीय है—अर्थात व्यक्ति अपने कर्म एवं समाज में अपनाई गई भूमिका के आधार पर वर्गीकृत होता है, जन्म के आधार पर नहीं । यह दृष्टिकोण ब्राह्मणवादी 'जाति' की अवधारणा से मूलतः भिन्न है ।

8.9.2 सहमति-आधारित राजसत्ता और प्रारम्भिक सामाजिक अनुबंध

महासम्मत की नियुक्ति का प्रसंग यह स्पष्ट करता है कि राजसत्ता की उत्पत्ति सामाजिक आवश्यकता (अव्यवस्था एवं हिंसा से मुक्ति) तथा सामूहिक सहमति से होती है, न कि दैवी प्रदान अथवा बलपूर्वक अधिग्रहण से । शासक और प्रजा के मध्य एक प्रकार का परस्पर दायित्व (mutual obligation) स्थापित होता है: शासक न्याय एवं व्यवस्था प्रदान करता है, प्रजा उसे कर/भाग (राजस्व) प्रदान करती है। यद्यपि कुछ विद्वान (जैसे डेमियन कीउन) इसे पूर्ण 'अनुबंध' (contract) कहने में सावधानी बरतते हैं—क्योंकि 'निर्णय' (decision) और 'अनुबंध' (contract) में अंतर है—तथापि यह स्पष्ट है कि आगनासुत्त राजसत्ता को एक उपयोगितावादी, सहमति-आधारित संस्था के रूप में प्रस्तुत करता है ।

8.9.3 शासक की वैधता धम्म पर आधारित

'राजा' शब्द की निरुक्ति—'जो धम्म द्वारा प्रजा को आनंदित करे' (dhammena pare rañjeti)—यह स्थापित करती है कि शासक की वास्तविक वैधता उसके धम्मानुसार शासन-कार्य पर निर्भर है । यह सिद्धांत बौद्ध राजत्व-सिद्धांत (Buddhist theory of kingship) का मूल आधार बनता है, जो आगे चलकर 'चक्कवत्ति' (चक्रवर्ती, धर्म-विजेता सम्राट) की अवधारणा में तथा ऐतिहासिक रूप से सम्राट अशोक के धम्म-शासन में मूर्त रूप लेता है—जिसका विस्तृत अध्ययन हम अगली इकाई में करेंगे ।

8.9.4 राज्य/दण्ड की उत्पत्ति: नैतिक पतन के परिणाम के रूप में

आगनासुत्त में दण्ड-व्यवस्था तथा अंततः राजसत्ता की उत्पत्ति सम्पत्ति, लोभ और नैतिक पतन के परिणामस्वरूप होती है—अर्थात राज्य कोई आदर्श, मूल अवस्था नहीं है, बल्कि एक 'आवश्यक

बुराई' अथवा कम-से-कम एक उपचारात्मक (remedial) संस्था है, जो मानव-समाज में बढ़ते लोभ एवं हिंसा को नियंत्रित करने हेतु आविष्कृत की गई है। यह दृष्टिकोण आंशिक रूप से हॉब्सीय (Hobbesian) चिन्तन से तुलनीय है, यद्यपि बौद्ध दृष्टिकोण में अंतिम लक्ष्य निर्वाण-प्राप्ति है, न कि मात्र भौतिक सुरक्षा।

8.9.5 समानता का सिद्धांत: धम्म ही सर्वोच्च मानदंड

आगनासुत्त में बार-बार दोहराया गया श्लोक—'धम्मो सेट्ठो जने तस्मिं, दिट्ठे च-एव परत्थ च' (धम्म ही लोगों में, इस लोक और परलोक में, सर्वश्रेष्ठ है)—यह दर्शाता है कि सम्पूर्ण सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था का अंतिम मानदंड धम्म ही है, न कि जन्म, सत्ता अथवा सम्पत्ति। सुत्त के अंत में ब्रह्मा सनंकुमार के माध्यम से उद्धृत श्लोक—'खत्तियो सेट्ठो जने तस्मिं ये गोत्तपटिसारिनो, विज्जाचरणसम्पन्नो सो सेट्ठो देवमानुसे' (कुल-गोत्र को महत्त्व देने वालों में क्षत्रिय श्रेष्ठ है, परन्तु विद्या और आचरण से सम्पन्न व्यक्ति ही देवताओं और मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ है)—भी इसी सिद्धांत की पुष्टि करता है। यहाँ ध्यातव्य है कि बुद्ध क्षत्रिय वर्ण की सामाजिक प्रधानता को स्वीकार करते हुए भी (क्योंकि उस काल में गंगा के मध्य-प्रदेश में क्षत्रिय वर्ग प्रभुत्वशाली था, न कि ब्राह्मण), अंतिम रूप से 'विद्या-चरण-सम्पन्न' (अर्थात अर्हत) को ही सर्वश्रेष्ठ घोषित करते हैं।

8.10 धम्म की सर्वोच्चता और अर्हत की अवधारणा

आगनासुत्त का समापन एक महत्त्वपूर्ण उद्घोषणा से होता है: चारों वर्णों में से कोई भी व्यक्ति, जो संघ में प्रवेश कर अर्हत्व प्राप्त करता है—'जिसके आस्रव (मानसिक कलुष) नष्ट हो गए हैं, जिसने ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत किया है, जिसने अपना कर्तव्य पूर्ण कर लिया है, जिसने भार उतार दिया है, जिसने अपना लक्ष्य प्राप्त कर लिया है, जिसने भव की संधि (बंधन) को नष्ट कर दिया है, जो स्वयं के प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा मुक्त हो गया है'—वही न्यायोचित रूप से 'अग्ग' (सर्वश्रेष्ठ/प्रमुख) कहलाने का अधिकारी है। यहाँ 'अग्ग' शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण सुत्त के शीर्षक 'अग्गञ्ञ' से सीधा संबंध स्थापित करता है—अर्थात सुत्त का अंतिम सन्देश यह है कि वास्तविक 'श्रेष्ठता/प्रमुखता' जन्म, वर्ण अथवा सत्ता से नहीं, बल्कि आध्यात्मिक उपलब्धि (अर्हत्व) से निर्धारित होती है।

इस प्रकार आगनासुत्त की संरचना एक उत्तरोत्तर विकासमान तर्क-श्रृंखला प्रस्तुत करती है: सर्वप्रथम सामाजिक स्तर पर यह दर्शाया जाता है कि चारों वर्ण समान मूल से उत्पन्न हुए हैं (सामाजिक समानता); तत्पश्चात राजनीतिक स्तर पर यह दर्शाया जाता है कि राजसत्ता की वैधता धम्म पर आधारित है (राजनीतिक न्याय); और अंततः आध्यात्मिक स्तर पर यह स्थापित किया जाता है कि अर्हत्व ही सच्ची श्रेष्ठता है, जो किसी भी वर्ण के व्यक्ति के लिए सुलभ है (आध्यात्मिक समानता)। यह त्रिस्तरीय संरचना बौद्ध राजनीतिक-नैतिक चिन्तन की समग्रता को प्रदर्शित करती है—जिसमें सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक आयाम परस्पर अंतर्ग्रथित हैं।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि बौद्ध हास्य (Buddhist humour) की दृष्टि से आगनासुत्त एक अनूठा ग्रंथ है। पी. तन तथा रिचर्ड गोम्ब्रिच के अनुसार, इस सुत्त की संपूर्ण कथा-शैली में एक सूक्ष्म, गंभीर व्यंग्य-भाव अंतर्निहित है—विशेषतः उन प्रसंगों में जहाँ आदिकालीन प्राणी भिक्षु-विनय के नियमों का उल्लंघन करते प्रतीत होते हैं (जैसे अंगुली से भोजन चखना, भोजन संग्रहित करना, गृह-निर्माण करना)। यह व्यंग्य-शैली केवल मनोरंजन हेतु नहीं, अपितु श्रोताओं (विशेषतः भिक्षुओं) को विनय-नियमों की गंभीरता का स्मरण कराने तथा तत्कालीन ब्राह्मणवादी दैवी-उत्पत्ति के दावे की तार्किक असंगति को उद्घाटित करने हेतु प्रयुक्त की गई प्रतीत होती है।

8.10.1 आलोचनात्मक मूल्यांकन

आगनासुत्त का अकादमिक अध्ययन करते समय कुछ बातों का ध्यान रखना अपेक्षित है। प्रथम, यह पाठ एक विशिष्ट ऐतिहासिक कालखण्ड में, श्रमण-परम्परा के दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया तर्क-विधान है; यह वस्तुनिष्ठ इतिहास-लेखन (historiography) नहीं, अपितु एक धार्मिक-दार्शनिक रूपक (parable) है, जिसका, जैसा सुजातो भिक्खु ने भी संकेत किया है, ऐतिहासिक तथ्यों से शब्दशः मेल आवश्यक नहीं है। द्वितीय, सुत्त में प्रस्तुत 'कर्म-आधारित वर्ण-व्याख्या' स्वयं विद्वत्-समुदाय में बहु-चर्चित विषय है—कुछ विद्वान (जैसे कॉलिन्स) इसे एक सुसंगत प्रारम्भिक सामाजिक-आर्थिक सिद्धांत मानते हैं, जबकि अन्य इसे मुख्यतः धार्मिक-व्यंग्यात्मक रचना मानते हैं, जिसका ऐतिहासिक-समाजशास्त्रीय यथार्थ से सीमित सम्बन्ध है। तृतीय, और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण, यह आवश्यक है कि अध्येता इस प्राचीन पाठ की चर्चा को किसी समकालीन सामाजिक समूह, जाति अथवा सम्प्रदाय के मूल्यांकन अथवा आलोचना के रूप में प्रस्तुत करने से बचें। यह इकाई इस सुत्त का अध्ययन एक ऐतिहासिक-दार्शनिक स्रोत के रूप में प्रस्तुत करती है, जो प्राचीन भारत में सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन की बहुलता को समझने में सहायक है, न कि किसी आधुनिक सामाजिक यथार्थ पर निर्णायक टिप्पणी के रूप में।

8.11 सारांश

आगनासुत्त (दीघनिकाय 27) बौद्ध राजनीतिक एवं सामाजिक चिन्तन का एक मूलभूत ग्रंथ है, जिसमें बुद्ध दो ब्राह्मण-कुलोत्पन्न शिष्यों, वासेट्ठ और भारद्वाज, को वर्ण-व्यवस्था की वास्तविक उत्पत्ति समझाते हैं। इस सुत्त में बुद्ध ब्राह्मणवादी दावे—कि ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न दैवी श्रेष्ठ वर्ण है—का तार्किक एवं ऐतिहासिक खंडन प्रस्तुत करते हैं। एक विस्तृत रूपक-कथा के माध्यम से वे ब्रह्माण्ड के संकुचन-विस्तार, आदिकालीन प्राणियों के क्रमिक भौतिक एवं नैतिक पतन, यौनिकता एवं गृहस्थ-जीवन के उद्भव, निजी सम्पत्ति की स्थापना, चोरी एवं दण्ड के उद्भव, तथा अंततः जनता की सहमति से 'महासम्मत' नामक प्रथम राजा की नियुक्ति का वर्णन करते हैं। तत्पश्चात क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र—तथा श्रमण—इन पाँच 'मण्डलों' (व्यावसायिक समुदायों) की

उत्पत्ति का वर्णन किया जाता है, जिसमें प्रत्येक का नामकरण उसके कर्म/व्यवसाय से सम्बद्ध है, न कि जन्म से। सुत्त का केन्द्रीय सूत्र-वाक्य—'धम्मो सेट्ठो जने तस्मिं, दिट्ठे च-एव परत्थ च' (धम्म ही इस लोक और परलोक में सर्वश्रेष्ठ है)—यह स्थापित करता है कि सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था का अंतिम मानदंड धम्म है। सुत्त के अंत में यह घोषित किया जाता है कि चारों वर्णों में से कोई भी व्यक्ति, जो अर्हत्व प्राप्त करता है, वही सच्चे अर्थ में 'अग्ग' (सर्वश्रेष्ठ) है। आगनासुत्त में निहित राजनीतिक सिद्धांत—कर्म-आधारित सामाजिक संरचना, सहमति-आधारित राजसत्ता, धम्म-आधारित शासन-वैधता, तथा सार्वभौमिक समानता—बौद्ध राजनीतिक चिन्तन की आधारशिला निर्मित करते हैं, जो आगे चलकर अशोक, कनिष्क, बिम्बिसार एवं अजातशत्रु जैसे ऐतिहासिक शासकों द्वारा बौद्ध धर्मानुपालन के व्यावहारिक स्वरूप में मूर्त रूप लेते हैं। अध्येताओं को यह स्मरण रखना चाहिए कि यह सुत्त एक विशिष्ट ऐतिहासिक-दार्शनिक परम्परा का स्रोत-पाठ है, जिसका अध्ययन तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक दृष्टि से किया जाना चाहिए, न कि किसी समकालीन सामाजिक समूह के विषय में निर्णायक टिप्पणी के रूप में।

8.12 अभ्यास प्रश्न

1. आगनासुत्त दीघनिकाय के किस वग्ग में संकलित है?

(अ) सीलक्खन्ध वग्ग

(ब) महावग्ग

(स) पाटिक वग्ग

(द) पाथिक वग्ग प्रथम

2. आगनासुत्त में बुद्ध किन दो व्यक्तियों को उपदेश देते हैं?

(अ) सारिपुत्त और मोग्गल्लान

(ब) वासेट्ठ और भारद्वाज

(स) आनंद और राहुल

(द) अंबट्ठ और पोक्खरसाति

3. बुद्ध के अनुसार ब्राह्मणों ने क्या भुला दिया है?

(अ) वेद

(ब) यज्ञ-विधि

(स) अपना प्राचीन इतिहास/परम्परा (पोराण)

(द) संस्कृत भाषा

4. आगनासुत्त के अनुसार ब्रह्माण्ड के संकुचन के समय अधिकांश प्राणी किस लोक में जन्म लेते हैं?

(अ) तुसित लोक

(ब) आभस्सर ब्रह्मलोक

(स) सुभकिण्ह लोक

(द) वेहप्फल लोक

5. प्राणियों की स्वयं-प्रकाशमानता (self-luminance) के लुप्त होने का तात्कालिक कारण क्या था?

(अ) रस-पृथिवी का सेवन

(ब) यौन-सम्बन्ध

(स) चावल का संग्रहण

(द) चोरी

6. 'महासम्मत' शब्द का शाब्दिक अर्थ क्या है?

(अ) महान योद्धा

(ब) ब्रह्मा द्वारा नियुक्त

(स) महाजन द्वारा सम्मत/स्वीकृत/निर्वाचित

(द) सर्वशक्तिमान शासक

7. आगनासुत्त के अनुसार 'राजा' (Rājā) शब्द की निरुक्ति क्या है?

(अ) जो भूमि का स्वामी हो

(ब) जो ब्रह्मा का पुत्र हो

(स) जो धम्म द्वारा प्रजा को आनंदित/संतुष्ट करे

(द) जो सेना का नेतृत्व करे

8.13 शब्दावली

पद अर्थ/स्पष्टीकरण

अग्गञ्ञ (Aggañña)- 'आदि/उत्पत्ति' तथा 'श्रेष्ठ/प्रमुख' दोनों अर्थों में प्रयुक्त शब्द; इस सुत्त का शीर्षक।

अग्ग (Agga)- श्रेष्ठ, प्रमुख, मूल; अर्हत अथवा धम्म के लिए प्रयुक्त विशेषण।

वर्ण सामाजिक वर्ग (क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र); इस सुत्त में इसे कर्म-आधारित दिखाया गया है, जन्म-आधारित नहीं।

माण्डल - व्यावसायिक समुदाय-चक्र; प्रत्येक वर्ण को 'मण्डल' कहा गया है।

महासम्मत (Mahā Sammata)-'महाजन द्वारा निर्वाचित/स्वीकृत'; आगनासुत्त में वर्णित प्रथम राजा।

धम्म (Dhamma)- इस सुत्त में दोहरे अर्थ में प्रयुक्त सामाजिक/नैतिक नियम (norm/justice) तथा बुद्ध का उपदेश (सत्य/मुक्ति-मार्ग)।

अर्हत (Arahant)-जिसके समस्त आस्रव (मानसिक कलुष) नष्ट हो गए हों; पूर्ण रूप से मुक्त व्यक्ति।

आभस्सर (Ābhassara)-द्वितीय ध्यान का एक ब्रह्मलोक; प्रकाशमान देवताओं का निवास, जहाँ से प्राणी इस लोक में अवतरित होते हैं।

संवट्ट / विवट्ट - ब्रह्माण्ड का संकुचन तथा विस्तार; बौद्ध स्पन्दनशील ब्रह्माण्ड-सिद्धांत के दो चरण।

सद्धा (Saddhā)-श्रद्धा/विश्वास; तथागत के प्रति अडिग, मूलयुक्त, स्थापित आस्था।

शाक्यपुत्तिय (Sakyaputtiya)- 'शाक्य के पुत्र'; संघ में प्रविष्ट सभी भिक्षुओं के लिए प्रयुक्त उपाधि, चाहे उनका मूल कुल कोई भी हो।

सन्निधि-कारक (Sannidhi-kāraka)- भोजन का संग्रहण करना; इसी प्रवृत्ति से कृषि एवं निजी सम्पत्ति की आवश्यकता उत्पन्न हुई।

मरियादा-सीमा-रेखा; खेतों के बीच निर्धारित सीमा, निजी सम्पत्ति का प्रतीक।

दण्ड - लाठी/दण्ड; शाब्दिक एवं लाक्षणिक रूप से शारीरिक दण्ड अथवा हिंसा।

चक्कवत्ति - चक्रवर्ती सम्राट, धर्म-विजेता आदर्श शासक की बौद्ध अवधारणा (आगनासुत्त से सम्बद्ध, परन्तु मुख्यतः चक्कवत्ति सीहनाद सुत्त में विस्तृत)।

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. (स) , 2. (ब) 3. (स) 4. (ब) 5. (अ) 6. (स) 7. (स)

8.14. निबंधात्मक प्रश्न

1. आगनासुत्त में प्रस्तुत वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति संबंधी बौद्ध दृष्टिकोण की विवेचना करते हुए यह बताइए कि यह ब्राह्मणवादी पुरुषसूक्त-आधारित सिद्धांत से किस प्रकार भिन्न एवं उसका खंडन करता है।
2. आगनासुत्त में वर्णित सृष्टि-विकास और सामाजिक विकास की कथा को क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत करते हुए इसमें निहित नैतिक-दार्शनिक सन्देश का विश्लेषण कीजिए।
3. 'आगनासुत्त में महासम्मत की नियुक्ति का प्रसंग प्रारम्भिक सामाजिक अनुबंध सिद्धांत (social contract theory) का एक रूप प्रस्तुत करता है।' इस कथन की समीक्षा कीजिए।
4. आगनासुत्त में निहित बौद्ध राजनीतिक चिन्तन के मूल सिद्धांतों (कर्म-आधारित वर्ग-व्यवस्था, धम्म-आधारित शासन-वैधता, समानता) का विवेचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।
5. आगनासुत्त में प्रस्तुत चार वर्णों एवं श्रमण-मण्डल की उत्पत्ति-संबंधी निरुक्तियों (etymologies) का विश्लेषण करते हुए इनके सामाजिक-राजनीतिक महत्त्व को स्पष्ट कीजिए।

8.15. संदर्भ ग्रंथ सूची

- Walshe, Maurice (tr.), The Long Discourses of the Buddha: A Translation of the Dīgha Nikāya, Boston: Wisdom Publications & Kandy: Buddhist Publication Society, 1995.
- Piya Tan (tr. & ed.), Aggañña Sutta: The Discourse on the Foremost Knowledge (D 27), SD 2.19, Dharmafarer, 2003/2010/2014.
- Collins, Steven, 'The Discourse on What is Primary (Aggañña-sutta): An Annotated Translation,' Journal of Indian Philosophy, 21, 1993, pp. 301-393.
- Collins, Steven, Nirvana and Other Buddhist Felicities, Cambridge: Cambridge University Press, 1998.

- Gombrich, Richard F., 'The Buddha's Book of Genesis?,' Indo-Iranian Journal, 35, 1992, pp. 159-178.
- Gombrich, Richard F., Theravāda Buddhism: A Social History from Ancient Benares to Modern Colombo, London: Routledge & Kegan Paul, 1988.
- Chakravarti, Uma, The Social Dimensions of Early Buddhism, Delhi: Oxford University Press, 1987.
- Gethin, Rupert, 'Cosmology and Meditation: From the Aggañña Sutta to the Mahāyāna,' History of Religions, 36(3), 1997, pp. 183-217.
- Gethin, Rupert (tr.), Sayings of the Buddha, Oxford: Oxford University Press, 2008.
- Harvey, Peter, The Selfless Mind: Personality, Consciousness and Nirvana in Early Buddhism, Richmond: Curzon Press, 1995.
- Basham, A. L., The Origins and Development of Classical Hinduism, ed. Kenneth G. Zysk, Boston: Beacon Press, 1989.
- Erdosi, G., Urbanisation in Early Historic India, Oxford: BAR International Series 430, 1988.
- Jones, J.J. (tr.), The Mahāvastu, Vol. 1, Sacred Books of the Buddhists, Vol. 16, London: Luzac, 1949.
- धर्मरक्षित, भिक्षु, बौद्ध दर्शन और संस्कृति, वाराणसी: बौद्ध भारती, (विविध संस्करण)।
- नरेन्द्र देव, आचार्य, बौद्ध धर्म दर्शन, पटना: बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, (विविध संस्करण)।
- राहुल सांकृत्यायन, बौद्ध दर्शन, इलाहाबाद: किताब महल, (विविध संस्करण)।

इकाई 9 : बौद्ध धर्मानुपालन : बिम्बिसार , अजातशत्रु, अशोक, कनिष्क

इकाई संरचना

9.1 प्रस्तावना

9.2 उद्देश्य

9.3 बुद्ध का काल खंड

9.4 मध्य-मण्डल: बुद्ध की विचरण भूमि

9.5 बुद्ध के समकालीन राजा

9.6 बिंबिसार

9.7 अजातशत्रु

9.8 अशोक और बुद्ध धर्म

9.9 कनिष्क

9.10 सारांश

9.11 अभ्यास प्रश्न

9.12 शब्दावली

9.13 अभ्यास प्रश्न के उत्तर

9.14 संदर्भ ग्रंथ

9.15 सहयोगी पठन सामग्री

9.16 निबंधात्मक प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

छटीं से पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व में उत्तर भारत में अनेक धार्मिक-दार्शनिक परम्पराओं का प्रादुर्भाव हुआ, इनमें से एक बौद्ध धर्म भी था। किसी भी नवोदित धार्मिक परंपरा को स्थायित्व एवं विस्तार के लिये सामाजिक स्वीकृति, आर्थिक संसाधन तथा राजकीय संरक्षण की आवश्यकता होती है।प्रारम्भिक बौद्ध धर्म के विकास और उसके विस्तार में कई शासकों ने प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

बौद्ध साहित्य, अभिलेखीय साक्ष्य व अन्य पुरातात्विक खोजों से यह ज्ञात होता है की विभिन्न कालों में अनेक शासकों द्वारा प्रदान किए गए संरक्षण और प्रोत्साहन ने बौद्ध परंपरा को विकसित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इनके संरक्षण के फलस्वरूप उत्तर भारत की मध्य गंगा घाटी में विकसित एक धार्मिक-दार्शनिक परंपरा विश्वस्तर पर एक प्रमुख धर्म बन कर उभरी।

इस इकाई में चार प्रमुख शासकों—बिम्बिसार, अजातशत्रु, अशोक तथा कनिष्क—के माध्यम से बौद्ध धर्म के संरक्षण और विकास के चरणों का अध्ययन किया जाएगा।

9.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन उपरांत आप

- गौतम बुद्ध के समकालीन भारत की सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था को समझ सकेंगे
- राजा बिंबिसार और अजातशत्रु द्वारा प्रारम्भिक बौद्ध संघ को दिये संरक्षण के बारे में जानेंगे
- मौर्य सम्राट अशोक के बुद्ध धर्म के संरक्षण एवं प्रसार में योगदान को जानेंगे
- कुषाण सम्राट कनिष्क द्वारा बौद्ध धर्म के संरक्षण को जानेंगे।

9.3 गौतम बुद्ध का काल खंड

गौतम बुद्ध के काल-खंड को लेकर विद्वानों में कुछ मतभेद हैं। बुद्ध के 'परिनिब्बान' (संस्कृत – परिनिर्वाण) अर्थात उनके देहत्याग की तिथि को लेकर इतिहासकारों में कई मत हैं। दीपवंश और महवंश में अशोक के राज्याभिषेक की तिथि को परिनिर्वाण के 218 वर्ष बाद माना गया है। इसके अनुसार चलें तो परिनिर्वाण की तिथि 544-543 ईसा पूर्व अनुमानित की जा सकती है। इस तिथि को इतिहासकर ' असंशोधित दीर्घकालानुक्रम' कहते हैं।

इसके इतर कुछ इतिहासकारों द्वारा, 'परिष्कृत दीर्घकालानुक्रम' भी प्रस्तावित किया जाता है। इसके अनुसार बुद्ध की मृत्यु 486 और 477 ईसा पूर्व के बीच अनुमानित की जाती है।

संस्कृत एवं चीनी स्रोतों के आधार पर एक अन्य गणना भी प्रचलित है जिसे ‘ लघुकालानुक्रम’ की संज्ञा दी जाती है। इसके अनुसार अशोक का राज्याभिषेक बुद्ध की मृत्यु के 100 वर्ष बाद हुआ था, अतः परिनिर्वाण की तिथि 368 ईसा पूर्व के आस-पास अनुमानित की जा सकती है। वहीं बेचर्ट के ने पाली इतिहास के ‘ वृद्धों की सूची’ के आधार पर परिनिर्वाण की तिथि 400 से 350 ईसा पूर्व के बीच बताई है।

इस विवाद से आगे बढ़ें, तो आज अधिकांश इतिहासकारों द्वारा 480 ईसा पूर्व को ही बुद्ध के परिनिर्वाण की तिथि स्वीकारा है। अतः बुद्ध का कालखंड **छटीं से पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व** अनुमानित किया जा सकता है।

9.4 मध्य-मण्डल -बुद्ध की विचरण भूमि: राजनीतिक स्थिति

बुद्ध की विचरण भूमि मध्य-गंगा घाटी (आधुनिक बिहार और पूर्वी उत्तरप्रदेश) थी, पाली साहित्य में इसे मध्य मण्डल की संज्ञा दी जाती है। छटीं से पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व के दौरान उत्तर भारत में षोडश (सोलह) महाजनपदों का उल्लेख मिलता है। यह प्रभुत्वशाली सोलह प्रमुख राज्य थे।

बौद्धों के अंगुत्तर निकाय में दी गयी महाजनपदों की सूची इस प्रकार है- काशी, कोसल, अंग , मगध , वज्जी, मल्ल, चेदी, वत्स, कुरु, पांचाल, मत्स्य, शूरसेन, अश्मक , अवन्ती, गांधार और कंबोज।

वहीं जैन भगवती सूत्र में महजनपदों की सूची इस प्रकार है- वंग, मगह (मगध), मलय, मालव, अच्छ, वच्छ (वत्स), कोच्च, लाढ़, पधा, वज्जी, मोलि (मल्ल), काशी (कासी), कोसल, अवह और संभुत्तर।

अन्य स्रोतों के आधार पर षोडश महाजनपद (सोलह महाजनपद) की सूची इस प्रकार दी जाती है - अंग, मगध, काशी, कोसल, वज्जि (वृज्जि), मल्ल, चेदि, वत्स (वंस), कुरु, पांचाल, मत्स्य, शूरसेन, अश्मक (अस्सक), अवन्ति, गांधार तथा कम्बोज।

बुद्ध अपने जीवन कल में प्रमुख रूप से, मध्य-गंगा घाटी के क्षेत्र में परिभ्रमण करते रहे। राहुल संस्कृतायन के अनुसार बुद्ध पश्चिम में यमुना के पार नहीं गए, पूर्व में वह कजंगला तक गए। संस्कृतायन के अनुसार बुद्ध का विंध्य पर्वत माला की उत्तरी सीमा से दक्षिण जाने का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

बुद्ध की इस विचरण भूमि (मध्य- मण्डल) के प्रमुख महाजनपद और उनके क्षेत्र कुछ इस प्रकार थे-

कोसल – क्षेत्र - पूर्व में गंडक, पश्चिम में गोमती, दक्षिण में साईं और उत्तर में नेपाल की पहाड़ियों के मध्य अवस्थित। कोसल की राजधानी उत्तर में श्रावस्ती (आधुनिक सहेत-माहेत) और दक्षिण में कुशवाती थी। बुद्ध के समय कोसल के राजा प्रसेनजीत (पसेनदी) थे।

काशी – क्षेत्र - वरुणा और असि नदी के बीच की गंगा घाटी। राजधानी – काशी (आधुनिक वाराणसी)। काशी पर प्रसेनजीत (पसेनदी) के समय ही कोसल ने प्रभुत्व स्थापित कर लिया था।

अंग - क्षेत्र -आधुनिक बिहार के भागलपुर और मुंघेर की चम्पा नदी और गंगा नदी के मध्य। इसकी राजधानी चंपावती (आधुनिक भागलपुर का चंपापुर ग्राम) थी, मगध ने बिंबिसार के समय अंग को अपने साम्राज्य में अधिकृत कर लिया था।

मगध – इसका मूल क्षेत्र उत्तर में गंगा, पश्चिम में सोन, पूर्व में चम्पा और दक्षिण में विंध्या पर्वतों के मध्य अवस्थित था। मगध की राजधानी – राजगृह (आधुनिक राजगीर) बाद में पाटलीपुत्र (आधुनिक पटना) रही। यह महाजनपदों में सबसे शक्तिशाली राज्य। हर्यंक वंश (बिंबिसार, अजातशत्रु) की विस्तारवादी नीति के चलते यह महाजनपद से एक साम्राज्य में परिवर्तित हो गया।

वज्जी – गंगा के तट और नेपाल की पहाड़ियों के मध्य का क्षेत्र में वज्जी गणसंघ था। यह आठ कुलों का गणराज्य (वज्जी, लिच्छवि, विदेह, नय/ज्ञात्रिक, उग्र, भोग, कौरव, एक्ष्वाक) का गणसंघ था, जिनमें - वज्जी, लिच्छवि, विदेह, नय/ज्ञात्रिक प्रमुख थे। वज्जियों की राजधानी बसाड़ में थी, लिच्छवियों की राजधानी वैशाली, विदेहों के मिथिला क्षेत्र की राजधानी जनकपुर और ज्ञात्रिकों की राजधानी कुंडपुर थी। जैन धर्म के संस्थापक वर्धमान महावीर ज्ञात्रिक कुल से थे। लिच्छवियों के प्रमुख चेतक की बहन त्रिशला, महावीर की माँ थीं तथा चेतक की एक पुत्री का विवाह बिंबिसार से हुआ था।

मल्ल – वज्जियों के पश्चिम में मल्ल गणराज्य था जिनकी राजधानी कुशीनारा (आज का कासिया) और पवा में थी (आधुनिक गोरखपुर और उससे लगा हुआ नेपाल तराई का क्षेत्र)

शूरसेन - यमुना घाटी का ब्रज क्षेत्र, इसकी राजधानी मथुरा थी।

पांचाल - मध्य गंगा यमुना दोआब का क्षेत्र (रोहिलखंड आदि)। उत्तरी पांचाल की राजधानी अहिच्छत्र (बरेली के पास) और दक्षिण पांचाल की राजधानी कांपिल्य (फ़रुखाबाद जिला) में थी।

चेदी - आज के मध्य भारत के बुंदेलखंड क्षेत्र में स्थित। इस महाजनपद की राजधानी शूक्तिमती थी।

वत्स - ऊपरी मध्य-गंगा घाटी के दक्षिण का क्षेत्र (समकालीन प्रयागराज) इसकी राजधानी कोसम/ कौशम्भी थी। स्वप्नवसावदत्त, रत्नावली और प्रियदर्शिका जैसी संस्कृत साहित्य की महान कृतियों के नायक- उदयन, वत्स के राजा थे। उदयन और आवंती के राजकुमारी वासवदत्त का प्रेम प्रसंग बाद की कई साहित्यिक रचनाओं की विषय वस्तु बना।

अवन्ति- नर्मदा घाटी एवं मालवा का क्षेत्र इसकी दो राजधानियाँ थी एक उज्जैनी और दूसरी महीष्मती। प्रद्योत यहाँ का एक प्रसिद्ध राजा था।

मत्स्य - समकालीन राजस्थान के जयपुर, अलवर भरतपुर क्षेत्र, इसकी राजधानी विराटनगर (वैरट) में अवस्थित थी।

सभी सोलह महाजनपदों में राजनीतिक व्यवस्था एक जैसी नहीं थी। कुछ राज्यों में राजतंत्र था एवं कुछ राज्य गैर-राजतंत्रिक राज्य थे। गैर-राजतंत्रिक राज्यों में राज्य व्यवस्था को गणसंघ कहा गया है। गणसंघों में शासन व्यवस्था को कुछ विद्वानों जैसे, के. पी. जैसवाल ने लोकतन्त्र के प्रारम्भिक रूप में दर्शाया है, परंतु अन्य विद्वानों के अनुसार उस समय व्याप्त गणसंघों की शासन व्यवस्था- लोकतन्त्र से ज्यादा कुलीनतंत्र या अभिजनतंत्र (aristocracy/oligarchy) के रूप में देखी जा सकता है, अधिकाधिक इन्हें अल्पतंत्रीय लोकतन्त्र कहा जा सकता है।

छटीं शताब्दी ई. पू. में महजनपदों के बीच सहयोग और प्रतिस्पर्धा का वातावरण बना रहता था। इसी दौर में मगध, कोसल, वत्स और आवंती शक्तिशाली राज्यों के रूप में सामने आए। इन राज्यों की राजनीतिक महत्वाकांशा के कारण दूसरे राज्यों के अस्तित्व पर संकट मंडराने लगा।

9.5 बुद्ध के समकालीन राजा

बुद्ध के समकालीन राजा जैसे प्रसेनजीत, बिंबिसार, अजातशत्रु आदि बुद्ध का सम्मान करते थे। बुद्ध के विचारों से प्रभावित कई गणमान्य व्यक्ति उनके अनुयायी बन गए थे। इनमें से एक थे,कोसल के राजा पसेनदी (प्रसेनजीत)। समयुत्त निकाय और और मज्झिम निकाय के कई प्रकरणों में पसेनदी का उल्लेख आता है। समयुत्त निकाय के कोसल समयुत्त में पसेनदी को बुद्ध के एक आम अनुयायी (उपासक) के रूप में दिखाया गया है। पसेनदी श्रावस्ती के जेटावन उद्यान (बौद्ध संघ को धनी व्यापारी अनाथपिंडक की भेंट) में मिलने आता था और उनके प्रति आस्था और श्रद्धा व्यक्त करता था। बुद्ध से वह कई विषयों पर प्रश्न पूछता था, पसेनदी द्वारा पूछे गए प्रश्न बुद्ध के वक्तव्यों की पृष्ठभूमि बनते हैं।

पसेनदी का चित्रण एक सद्चारित्र वाले राजा के रूप में आता है। वह शक्तिशाली होने के बाद भी आम मानवीय चिंताएँ - बुढ़ापा और मृत्यु आदि पर जिज्ञासा व्यक्त करता है।

पसेनादी का उसके पुत्र, विडूडभ द्वारा पदच्युत किया जाना भी एक सांकेतिक कथा मनी जा सकती है जो की सांसरिक विश्व और उसमें हमारी स्थिति की क्षणभंगुरता की सीख हमें देती है।

यह समय, मगध के हर्यंक वंश के उदय का भी समय था। हर्यंक वंश के अधीन मगध धीरे-धीरे विस्तार करते हुए अपने समीप महजनपदों को अपने आधिपत्य में लाने लगा था। इस वंश के प्रथम राजा थे बिंबिसार।

9.6 बिंबिसार

मगधराज बिम्बिसार (शासनावधि- 544 से 492 ई.पू.) का बौद्ध स्रोतों में विस्तृत चित्रण सामने आता है। बिम्बिसार को बौद्ध परंपरा में संघ के प्रारम्भिक राजकीय संरक्षक के रूप में दर्शाया गया है ।विनय पिटक के महावग्ग और अश्वघोष के बुद्धचरित में बिम्बिसार की सिद्धार्थ गौतम से प्रथम भेंट का उल्लेख भी मिलता है। यह मुलाक़ात तब होती है जब वह बुद्ध नहीं बने थे और ज्ञान की खोज में एक परिव्राजक का जीवन जी रहे थे। तब भी राजा उस युवा तपस्वी से प्रभावित होते हैं, और उन्हें अपने राज्य में रहने और शासन में भाग लेने का प्रस्ताव देते हैं। यहाँ पर पसेनदी और बिम्बिसार के व्यवहार में भिन्नता देखी जा सकती है – बिम्बिसार को एक विवेकशील और अध्यात्मिक व्यक्ति के रूप में चरितार्थ किया गया है। युवा सिद्धार्थ को सन्यासी के रूप में देख कर जहां पसेनदी शंका और अविश्वास व्यक्त करता है, वहीं बिम्बिसार सिद्धार्थ गौतम के महत्व को पहचान लेते हैं। बुद्ध बिम्बिसार के प्रस्ताव को अस्वीकार करते हैं और यह कहते हैं की वह ज्ञान प्राप्ति के बाद बिम्बिसार के पास पुनः लौटेंगे।

ज्ञान प्राप्ति के बाद बुद्ध, पुनः बिम्बिसार से मिलने राजगृह आते हैं, बुद्ध का उपदेश सुनने के पश्चात बिम्बिसार न सिर्फ बुद्ध को सम्मानित करते हैं और परंतु संघ को सहयोग देने का निर्णय भी लेते हैं। संघ को राज समर्थन का उल्लेख महावग्ग के साथ ही समयुत्त निकाय के राजाओं संबंधी संवाद में भी आता है।महावग्ग और दीघनिकाय में बिम्बिसार संघ को राजगृह के निकट स्थित एक रमणीय बांस उद्यान – वेणुवन भेंट करते हैं। संघ को भेंट दिया गया यह प्रथम राजकीय उद्यान था ताकि संघ के भिक्षु यहाँ पर निवास कर सकें। वेणुवन का दान बिम्बिसार द्वारा बुद्ध और संघ को दिये गए राजकीय संरक्षण को स्पष्टतः दर्शाता है। बिम्बिसार को व्यक्तिगत स्तर पर बुद्ध के अनुयायी (उपासक) के रूप में भी दर्शाया गया है।

बिम्बिसार और बुद्ध के बीच संबंध, राजसत्ता और प्रारम्भिक श्रमण संप्रदायों के बीच व्यवहार का एक अच्छा उदाहरण हैं। जब प्रारम्भिक श्रमण परम्पराएँ राजसत्ता के संपर्क में आई तो राजाओं द्वार उन संप्रदायों का समर्थन किया गया, कई राजा इन संप्रदायों के अनुयायी भी बने और उन्होंने ऐसे संप्रदायों को संरक्षण दिया और साथ ही उनका आर्थिक रूप से भी समर्थन किया। इस कारण भिन्न श्रमण परम्पराएँ कई बार एक ही राजा को अपना अनुयायी और समर्थक बताती हैं। बिम्बिसार को भी जैनों द्वारा एक जैन मतावलंबी के रूप में दर्शाया गया है। बिम्बिसार को जैन स्रोत जैसे भगवती

सूत्र और उत्तराध्ययन सूत्र में श्रेणिक नाम से जाना जाता है और उसे जैन धर्म का अनुपालन करने वाला राजा बताया गया है जो की जैन धर्म का संरक्षक था।

9.6.1 बिम्बिसार की रानी खेमा का प्रसंग

बिम्बिसार की प्रमुख रानियों में से एक खेमा का प्रसंग भी बौद्ध स्रोतों में प्रमुखता से आता है। खेमा अत्यंत रूपवती थी और उन्हें अपने सौन्दर्य पर बहुत गर्व था। परंतु बुद्ध से भेंट होने पर और उनके उपदेशों को ग्रहण करने पर खेमा को रूप एवं आयु की अनित्यता का बोध हो गया और इसके बाद उन्होंने बौद्ध भिक्षुणी बनने का निर्णय लिया। समयुत्त निकाय के खेमा और कोसालराज संवाद में हमें खेमा की दार्शनिक समझ का उल्लेख मिलता है। अंगुत्तर निकाय में खुद बुद्ध उन्हें प्रज्ञा में सर्वोच्च कहते हैं। भिक्षुणीयों द्वारा रचित पद्यों के संकलन थेरिगाथा में हमें खेमा द्वारा रचित पद्य भी मिलते हैं

उपरोक्त प्रसंगों से यह स्पष्ट हो जाता है की बिम्बिसार बौद्ध तथा अन्य श्रामणिक परम्पराओं से प्रभावित थे और उन्होंने, उन्हें आर्थिक सहयोग एवं राजकीय संरक्षण भी प्रदान किया। परंतु बिम्बिसार को एक श्रद्धावान और विवेकशील राजा के रूप में तो दर्शाया गया है परंतु उनका चित्रण - बौद्ध परंपरा में आदर्श चक्कवत्ती (चक्रवर्ती) राजा के रूप में नहीं किया गया है।

बिम्बिसार का अंत भी कुछ पसेनदी जैसा ही होता है। बुद्ध के चचेरे भाई और उनके प्रतिद्वंदी देवदत्त बिम्बिसार के पुत्र – अजातशत्रु को उकसाते हैं और अजातशत्रु जबरन अपने पिता को कारावास में डाल देता है और राज गद्दी पर अधिकार कर लेता है। पसेनदी और बिम्बिसार के अंत के दो प्रसंग बौद्ध साहित्य में हमें सत्ता की अनित्यतता और सत्ता लोलुपता एवं, स्वार्थ में रिश्तों के भी निर्रथक होने के सबक की ओर इशारा करते हैं।

9.7 अजातशत्रु

अजातशत्रु (पाली: अजातसत्तु) (शासनावधि- 492 ई०पू – 460 ई०पू) बिम्बिसार का पुत्र था, पाली साहित्य में अजातशत्रु का प्रारम्भिक परिचय राजकुमार कुणिक के रूप में आता है। महत्वाकांशी राजकुमार कुणिक, सत्ता की लालसा में अपने पिता को करवास में कैद कर राज गद्दी पर क़ाबिज़ हो जाता है बाद में वह अजातशत्रु नाम से जाना जाता है। ऐसा वह बुद्ध के प्रतिद्वंदी देवदत्त के उकसाने पर करता है। करगार में बिम्बिसार की मृत्यु के कारण अजातशत्रु, पितृहत्या के पाप का भागी बनाता है।

पाली साहित्य के अनुसार, बुद्ध से भेंट अथवा उनके उपदेशों से अजातशत्रु में नैतिक परिवर्तन आता है, वह अपने पिता की हत्या पर गहरा दुख जताता है और बुद्ध धर्म के एक सामान्य अनुयायी – उपासक के रूप में दीक्षित होता है।

9.7.1 सामञ्ञफल सुत्त

दीघ निकाय के सामञ्ञफल सुत्त में बुद्ध और अजातशत्रु की भेंट का विस्तृत वर्णन मिलता है। एक रात अपनी दार्शनिक जिज्ञासा को शांत करने के लिए अजातशत्रु अपने वैद्य जीवक के साथ बुद्ध से मिलने जाता है। बुद्ध से अजातशत्रु पूछता की सांसरिक व्यवसायों, कार्यों और गृहस्थ जीवन के प्रत्यक्ष फल तो स्पष्ट हैं, परंतु सन्यासी जीवन अर्थात जीवन का परित्याग करने का प्रत्यक्ष फल क्या है? इस पर पहले बुद्ध राजा से पूछते हैं की क्या उसने किसी और आचार्य, ब्राह्मण अथवा सन्यासी से यह प्रश्न किया है? जिस पर अजातशत्रु, बुद्ध को 6 अन्य आचार्यों के नाम बताता है जिनसे उसने यही प्रश्न किया परंतु वह उनके उत्तर से संतुष्ट नहीं हुआ। तत्पश्चात बुद्ध अजातशत्रु को एक उपदेश देते है जिसमें वह उसे क्रमबद्ध ढंग से शील तथा संयम, ज्ञान एवं अनुशासन के महत्व को समझाते हैं। इस उपदेश से न सिर्फ अजातशत्रु की जिज्ञासा की पूर्ति होती है परंतु वह आत्मवलोकन कर स्वीकारता है की पितृहत्या में सम्मिलित हो उसने एक गंभीर अपराध किया है जिसके लिए वह क्षमाप्रार्थी है, बुद्ध उसकी अपराध स्वीकारोक्ति को महत्वपूर्ण बताते हैं। इस प्रसंग में अजातशत्रु बुद्ध से अत्यंत प्रभावित होता है।

9.7.1.1 अन्य संप्रदाय

सामञ्ञफल सुत्त का प्रसंग इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें हमें 6 अन्य आचार्यों के बारे में पता चलता है, जो की 6 विभिन्न मतों या संप्रदायों का प्रतिनिधित्व करते हैं - पूरण कस्सप (अक्रियावाद), पकुध कच्चायन (सात शाश्वत तत्वों का सिद्धांत), मखाली गोसल (आजीविक - नियतिवाद),नीगंठ नातपुत्त (जैन), अजीत केसकंबली (भौतिकवाद), संजय बेलट्ठपुत्त (अज्ञेयवाद) । इससे हमें, उस काल के प्रमुख मतों की जानकारी मिलती है साथ ही उनके विचारों के बारे में भी पता चलता है, भले ही यह जानकारी बौद्ध मत के दृष्टिकोण को दर्शाती है। पाली साहित्य में इन मतों को 'अन्य तित्थिय' (पंथ) की संज्ञा दी गयी है।

यह प्रसंग इस तथ्य की भी पुष्टि करता है कि बुद्ध का जीवनकाल में मध्य-गंगा घाटी का क्षेत्र, बौद्धिक एवं दार्शनिक चिंतन-परंपराओं के पल्लवन और विकास का प्रमुख केंद्र था।

9.7.2 महापरिनिब्बन सुत्त

महापरिनिब्बन सुत्त में अजातशत्रु वज्जियों (विशेषकर- लिच्छवियों) को परास्त करने संबंधी सलाह लेने के लिए अपने मंत्री वस्स्कार को बुद्ध के पास भेजता है। वज्जी एक गणराज्य में व्यवस्थित थे, बुद्ध का गणराज्यों से विशिष्ट संबंध था। बुद्ध स्वयं शाक्यों के प्रमुख के पुत्र थे, बुद्ध संघ की व्यवस्था प्रणाली को गणराज्यों के संगठन से प्रेरित माना जाता है। वस्स्कार के इस निवेदन पर बुद्ध पक्ष या विपक्ष में प्रत्यक्ष सलाह नहीं देते परंतु कहते हैं की वज्जी सत्त अपरिहनीय धम्म (सात अपरिहार्य नियमों) का पालन करते हैं, जैसे नियमित एवं पूर्ण सभाएं करना, सौहार्द-पूर्वक एकत्र होकर निर्णय

लेना आदि, जब तक वह यह सात नियमों का पालन करते रहेंगे उनका पतन नहीं होगा। यह प्रसंग हमें राजतांत्रिक राज्यों और गणराज्यों – दो पृथक शासन व्यवस्थाओं के बीच संघर्ष की ओर भी इशारा करता है।

9.7.3 अजातशत्रु द्वारा बौद्ध-धर्म का संरक्षण

अपने पिता की तरह ही अजातशत्रु ने बुद्ध एवं बौद्ध संघ को संरक्षण दिया, साथ ही पाली साहित्य के अनुसार अजातशत्रु ने बुद्ध के एक गृहस्थ अनुयायि (उपासक) के रूप में दीक्षा ग्रहण की। बुद्ध के प्रति अजातशत्रु के श्रद्धा-भाव के हमें पुरातात्विक साक्ष्य भी प्राप्त हुए हैं- भरहुत स्तूप के पश्चिमी द्वार की रेलिंग पर एक प्रस्तर पैनल पर एक दृश्य इंगित किया गया है। इसमें नीचे की ओर एक राजसी जुलूस को दर्शाया गया है जीसमें एक राजा हाथी पर सवार हो कर जा रहा है। उसकी ऊपर की तरफ उस राजा को अपनी रनियों के साथ दो आमों के वृक्ष के सामने हाथ ऊपर उठा किसी का अभिवादन करते हुए दर्शाया गया है। प्रस्तर पैनल के बगल में प्राकृत में लिखा हुआ है 'अजातशत्रु भगवतो वदंते' अर्थात अजातशत्रु भगवान बुद्ध की वंदना करते हुए। यह दृश्य संभवतः सामञ्ञफल सुत्त में बुद्ध की आमों के बाग में हुई, अजातशत्रु से भेंट को दृश्यांकित करता है।

9.7.4 प्रथम बुद्ध संगीति

बुद्ध के परिनिब्बन (483 ई. पू .) के पश्चात प्रथम बुद्ध संगीति का आयोजन राजगृह में अजातशत्रु के संरक्षण में किया गया था। इस संगति की अध्यक्षता बुद्ध के शिष्य महकस्सप्प ने की। इस संगीति में बुद्ध की शिक्षाओं, उनके प्रवचन आदि को तीन वर्गों में व्यवस्थित किया गया जिन्हें हम त्रिपिटक (त्रि – तीन और पिटक – पिटारी) के नाम से जानते हैं। त्रिपिटक में प्रारम्भिक बौद्ध धार्मिक साहित्य को तीन भागों में विभक्त किया गया है – विनय पिटक जो की संघ और भिक्षुओं के आचरण,व्यवहार और नियमों से संबन्धित है, इसका उच्चारण संगीति में उपाली के द्वारा किया गया था; सुत्त पिटक जिसमें बुद्ध के प्रवचन संकलित किए गए हैं उसका उच्चारण आनंद द्वारा किया गया था। मान्यता अनुसार प्रथम बुद्ध संगीति का आयोजन राजगृह के सप्तर्णी गुफा, गृधकूट पर्वत और पिप्पली गुफा में किया गया था।

पाली साहित्य के अनुसार अजातशत्रु, बुद्ध और बौद्ध संघ का बड़ा समर्थक और संरक्षक था। बुद्ध के परिनिर्वाण पर बुद्ध की अन्त्येष्टि के पश्चात अजातशत्रु ने स्वयं क्षत्रिय होने के नाते बुद्ध के अवशेषों (शरीर धातुओं) पर कपिलवास्तु के शाक्यों और वैशाली के लिच्छवियों के समान दावा किया। इसके बाद द्रोण नमक ब्राह्मण द्वारा बुद्ध के अवशेषों का विभाजन किया गया जिनमें से एक भाग अजातशत्रु को प्राप्त हुआ। मान्यता अनुसार अजातशत्रु ने अवशेषों की वंदना हेतु स्तूप की स्थापना की।

9.8 अशोक और बुद्ध धर्म

9.8.1 मौर्य साम्राज्य

हर्यंक वंश के बाद, मगध में शिशुनाग वंश और उसके पश्चात नन्द वंश का उदय हुआ। नन्द वंश को अपदस्थ कर चन्द्रगुप्त मौर्य नामक, शासक ने **मौर्य वंश** (शासनावधि लगभग 322–185 ईसा पूर्व) की स्थापना की। मौर्य वंश अत्यंत शक्तिशाली राजवंश था जिसके अंतर्गत पहली बार भारतीय उपमहाद्वीप के एक बड़े हिस्से का राजनीतिक एकीकरण हुआ। अपने चरम पर मौर्य साम्राज्य में, उत्तर पश्चिम में आधुनिक अफ़ग़ानिस्तान से लेकर पूर्व में असम तक और दक्षिण में कुछ इलाकों को छोड़ कर पूरा उपमहाद्वीप सम्मिलित था। इतने विस्तृत भू-भाग पर नियंत्रण के अलावा मौर्य वंश विशेषतः सम्राट अशोक, बौद्ध धर्म से विशेष रूप से जुड़े हुए थे। । मौर्य काल के प्रमुख साहित्यिक स्रोतों में कौटिल्य का अर्थशास्त्र, बौद्ध स्रोत जैसे दीपवंश, महावंश, अशोकावदान, दिव्यावदान, वंसत्थपकासिनी। अन्य स्रोतों में मेगास्थनीज़ की इंडिका जिसका मूल-पाठ तो विलुप्त हो चुका है परंतु उसके अंश हमें बाद के ग्रीक और रोमन लेखक जैसे डियोडोरस, स्ट्राबो, एरियन तथा प्लिनी की रचनाओं में मिलते हैं। साथ ही महत्वपूर्ण हैं मौर्य काल के भग्नावशेष जिनमें प्रमुख हैं अशोक के अभिलेख, अशोक के यह अभिलेख विशेषतः महत्वपूर्ण हैं, अशोक के धम्म की अवधारणा को समझने के लिए।

9.8.2 बुद्ध धर्म और अशोक

अशोक (शासनावधि लगभग 268–232 ईसा पूर्व) का बौद्ध धर्म से विशेष संबंध बौद्ध ग्रन्थों और साहित्य में एवं उसके अभिलेखों से स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। बौद्ध साहित्य में अशोक को एक महान सम्राट के रूप में दर्शाया गया है, उसका चित्रण चक्कवती (चक्रवर्तिन) सम्राट की अवधारणा के काफी करीब आता है। उसे एक महान सम्राट के साथ, बुद्ध धर्म के एक गृहस्थ अनुयायी – उपासक के रूप में दर्शाया गया है। अशोक को बौद्ध संघ के संरक्षक के रूप में भी चित्रित किया गया है। अशोक ने बुद्ध के जीवन से जुड़े विभिन्न स्थलों तीर्थाटन किया अथवा बुद्ध के स्मृति-अवशेषों का अशोक द्वारा पुनः वितरण किया गया और इन स्मृति अवशेषों के सम्मान और वंदन के लिए 84,000 स्तूपों का निर्माण भी अशोक ने करवाया।

अशोक के कई शिलालेखों और अन्य अभिलेखों से भी उसका बुद्ध धर्म से विशेष जुड़ाव स्पष्ट देखा जा सकता है। रूपनाथ लघु-शिलालेख में अशोक कहता है की वह दो ढाई साल से सामान्य बौद्ध उपासक बन गया है और पिछले एक वर्ष से वह धर्मानुपालन का विशेष प्रयास कर रहा है। बैराट लघु-शिलालेख में अशोक न केवल संघ का अभिवादन करता है बल्कि बुद्ध, संघ और धम्म के प्रति गहरी आस्था व्यक्त करता है। रुम्मिनदेई अभिलेख में अशोक के बुद्ध की जन्म-स्थली लुम्बिनी

यात्रा का उल्लेख आता है जहां पर न सिर्फ अशोक उपासना करता है बल्कि स्मारक के रूप में एक स्तम्भ का निर्माण करता है और स्थानीय लोगों की कर-मुक्ति की घोषणा भी करता है।

9.8.3 अशोक के जीवन का पाली साहित्य में चित्रण: 'चंडाशोक' से 'धम्माशोक'

अशोकावदान के अनुसार अशोक, सम्राट बिन्दुसार और रानी शुभद्रंगी का पुत्र था, कतिपय कारणों से बिन्दुसार को अशोक प्रिय नहीं था और न ही वह उसका चयनित उत्तराधिकारी था (दिव्यावदन में बिन्दुसार के प्रिय राजकुमार का नाम सुसिम बताया गया है)। बिन्दुसार की मृत्यु के बाद अशोक ने पिता द्वारा चयनित उत्तराधिकारी की नृशंस रूप से हत्या कर दी और राजगद्दी पर कब्ज़ा कर लिया। उसने अपने अन्य भाइयों को, संभावित प्रतिद्वंदी मानकर उनको भी उसी नृशंसता से मौत के घाट उतारा। इस प्रकार सत्ता पर क़ाबिज़ होने के बाद उसने अपने मंत्रियों की विश्वसनीयता की परीक्षा ली और कई मंत्रियों को भी क्रूरता से मृत्यु दंड दिया। प्रारम्भिक जीवन में बौद्ध स्रोतों में अशोक को नृशंस और अतिक्रूर दर्शाया गया है – इस कारण उसे 'चंडाशोक' की संज्ञा दी गयी है। शायद यह चित्रण उसके बौद्ध धर्म से प्रभावित हो कर हृदय परिवर्तन की गंभीरता और महत्व को दर्शाने के लिए किया गया है। अशोक के बौद्ध धर्म अपनाने के बारे में भी बौद्ध स्रोतों में भिन्न मान्यताएँ हैं। प्रचलित मान्यता अनुसार लगभग पूरे उप-महाद्वीप को विजित करने वाले मौर्य साम्राज्य के सम्राट अशोक को, कलिंग के साथ हुए युद्ध की विद्रूपता को देख कर बड़ी आत्मग्लानि हुई। हृदय-परिवर्तन की इस वेला में उसने बौद्ध धर्म की शरण ली और दिग्विजय की पताका को त्याग धम्मविजय का अनुसरण अपना लक्ष्य बनाया। अशोक ने बौद्ध धर्म के मूल्यों का प्रचार न केवल भारत में किया, परंतु बौद्ध धर्म को उसने विदेश में भी प्रसारित करने का प्रयास किया। उसकी शासन व्यवस्था का आधार भी धम्म बना- इसके साक्ष्य हमें उसके अनेक अभिलेखों में मिलते हैं जिनमें वह अपने राज्य की प्रजा के प्रति नीतियों की घोषणा करता है। इस प्रकार वह 'चंडाशोक' से 'धम्माशोक' बनता है।

9.8.4 तृतीय बौद्ध संगीति

बुद्ध के देहत्याग के बाद प्रथम बौद्ध संगीति राजगृह में अजातशत्रु के संरक्षण में हुई थी, द्वितीय बौद्ध संगीति वैशाली में शैशुनाग राजा कालाशोक के संरक्षण में 383 ईसा पूर्व में हुई थी। द्वितीय बौद्ध संगीति में बौद्ध संघ के विभाजन दो पंथों में हो गया था स्थविरवादी और महासंघीक। संघ का पंथों में विभाजन एक समस्या के रूप में सामने आने लगा था , साथ ही भिक्षु तथा भिक्षुणीयों के विनय के नियमों के विपरीत आचरण की समस्या भी सामने आ रही थी। इन सभी विषयों पर तृतीय बौद्ध संगीति का आयोजन अशोक के संरक्षण में पाटलीपुत्र में हुआ। इस संगीति के अध्यक्ष वरिष्ठ भिक्षु मोग्गलिपुत्त तिस्स थे। बौद्ध मत का पंथवाद से शोधन करने के लिए त्रिपिटक का मानकीकरण किया गया। इस संगीति के परिपेक्ष्य में अशोक के धर्म-विभाजन राज्यादेश (स्किज़्म एडिक्ट) को भी देखा जा सकता है जिसमें अशोक संघ के अनुशासन की अवहेलना करने वाले भिक्षु और भिक्षुणियों को निष्कासन की चेतावनी देता है।

इसके अलावा संघ और बौद्ध परंपरा के प्रसार के लिए भारत एवं उसके बाहर भी निम्न बौद्ध भिक्षुओं को भेजा गया-

हिमालय क्षेत्र	मज्झिम, धुंदीबिसर, कस्सपगोत्त, सहदेव, मूलकदेव
उत्तर पश्चिम के योन क्षेत्र	महारक्खित
कश्मीर और गांधार क्षेत्र	मझान्तिक
मध्य भारत का महिषमण्डल क्षेत्र	महादेव
पश्चिम मालवा का अपरांतक क्षेत्र	यौनधम्मरखित
वनवासी क्षेत्र	रखित
महारट्ठ (पश्चिम दक्कन)	महाधर्मरखित
सुवर्णभूमि (शायद दक्षिण पूर्वी एशिया के म्यांमार क्षेत्र)	सोना और उत्तर
श्रीलंका	राजकुमार महिंद (अशोक के पुत्र)

9.8.5 अशोक का धम्म (अभिलेखों की दृष्टि से)

अशोक के अभिलेख, उसके राज्य के आदर्शों को अभिव्यक्त करते हैं।अपनी प्रजा के प्रति राज्य की नीतियों एवं निर्देश की उद्घोषणा स्वरूप में अशोक ने अपने साम्राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में अभिलेख उत्कीर्णित कराये। उपलब्ध अभिलेखों को दो प्रमुख समूहों में बांटा जा सकता है- 14 प्रमुख शिलालेख और 6 स्तम्भ अभिलेख। इसके साथ कई जगह पर लघु-शिलालेख, लशु स्तम्भ अभिलेख और गुफा अभिलेख भी प्राप्त हुए हैं। अधिकांश अभिलेखों की भाषा प्राकृत और लिपि ब्राह्मी है। उत्तरपश्चिम क्षेत्र के कुछ अभिलेखों में प्राकृत भाषा, खरोष्टी लिपि में लिखी गयी है, इस सीमावर्ती क्षेत्र से ग्रीक-अरामइक एवं अरामइक-प्राकृत द्विभाषी अभिलेख भी प्राप्त हुए हैं।

अभिलेखों में अशोक अपनी प्रजा को एक पितातुल्य राजा के रूप में संबोधित करता है। सामान्य राजकीय कर्तव्यों के साथ वह अच्छे नैतिक आचरण एवं सामाजिक दायित्वों के प्रभावी निर्वहन की भी बात अभिलेखों के माध्यम से करता है। अभिलखों में धम्म शब्द -बुद्ध धर्म के विशेष परिपेक्ष्य में

न होते हुए, प्रजा और राजा के सामान्य धर्म, सदाचार और नैतिकता से संबन्धित है। अभिलेखों में राजकीय निर्देशों के साथ अच्छे नैतिक आचरण जैसे अच्छा व्यवहार; सत्यपरायणता; माता-पिता के प्रति आज्ञाकारिता, बुज़ुर्गों के प्रति सम्मान भाव; ब्राह्मणों, संन्यासियों, श्रमणों और भिक्षुओं के प्रति आदर भाव; सभी प्राणियों के प्रति अहिंसा की बात कही गयी हैं। अभिलेखों में धार्मिक सहिष्णुता, सभी मतों और पंथों के सम्मान की भी बात काही गयी है।

9.9 कनिष्क

9.9.1 कुषाण साम्राज्य

अशोक के बाद उसके वंशज अप्रभावी सिद्ध हुए, विगठित होते हुए साम्राज्य के अंतिम सम्राट था बृहदरथ। बृहदरथ के सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने अपने स्वामी की हत्या कर राजगद्दी हथिया ली। शुंग वंश के पश्चात साम्राज्य मगध तक सीमित हो कर रहा गया जिस पर कन्व राजवंश राज करने लगा। बाकी उत्तर भारत के क्षेत्र में इंडो-ग्रीक राजवंश प्रभुत्व स्थापित हो गया था। इस दौरान उत्तर भारत में शकों और पह्लवों के प्रभाव का प्रादुर्भाव हुआ। यह मध्य एशिया के घास के मैदानों (steppe) के घुमंतू कबीले थे जिन्होंने अपनी अश्व सेनाओं के बल पर विशाल साम्राज्य स्थापित किए। कालांतर में इस क्षेत्र से एक और कबीला उभरा जिसे चीनी स्रोतों में यू-ची के नाम से जाना जाता है। मध्य एशिया के विशाल चारागाहों में आधिपत्य के संघर्ष में यू-ची कबीला हियुंग-नु से परास्त हो सीर दरिया की ओर बढ़ा। सीर दरिया के क्षेत्र से उन्होंने शकों को परास्त किया, वहाँ से यू-ची ने ओक्सस नदी से होते हुए अफ़ग़ानिस्तान पर भी कब्जा कर लिया। यू-ची पाँच राजघरानों में विभक्त थे जिनमें से एक था क्यू-शांग या कुषाण। कुषाण राजघराने के राजा कुजुल कड़फ़्सेस ने इन पाँच घरानों का एकीकरण कर **कुषाण साम्राज्य** (शासनावधि लगभग 30–375 ईस्वी) की नींव रखी।

9.9.2 कनिष्क

कनिष्क(शासनावधि लगभग 127–150 ईस्वी); कुजुल कडफ़्सेस के पोते विम कडफ़्सेस क पुत्र था। कनिष्क के समय कुषाण साम्राज्य का विस्तार उत्तर में काशगर, यरकंद, खोतान (आज के चीन क शिनजियेंग); पश्चिम में बैकट्रिया, गांधार (आज क अफ़ग़ानिस्तान एवं ईरान क कुछ भाग); पूर्व में वाराणसी और दक्षिण में मथुरा तथा मालवा क्षेत्र तक था।

उनकी प्रमुख राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) में और द्वितीय राजधानी मथुरा में थी।

9.9.3 कनिष्क और बौद्ध धर्म

बौद्ध साहित्य में कनिष्क को बौद्ध धर्म के महान संरक्षक के रूप में दर्शाया गया है। अपनी राजधानी पुरुषपुर में कनिष्क ने बुद्ध के अवशेषों की वंदना के लिए एक भव्य स्तूप के निर्माण कराया था और

एक बौद्ध विहार की भी स्थापना की थी। उस समय के विख्यात बौद्ध विद्वान जैसे वसुमित्र (सर्वस्तिवाद के प्रवर्तक) एवं अश्वघोष (बुद्धचरित्र, सोंदरनन्द, शरिपुत्रप्रकरण जैसी रचनाओं के लेखक) को भी कनिष्क क संरक्षण प्राप्त था। साथ ही कनिष्क ने चतुर्थ बौद्ध संगीति क भी आयोजन करवाया था।

9.9.4 चतुर्थ बौद्ध संगीति

कनिष्क के संरक्षण में आयोजित, चतुर्थ बौद्ध संगीति का आयोजन कुंडलग्राम (कश्मीर) में लगभग 100 ई॰ में हुआ। इस संगीति की अध्यक्षता वसुमित्र ने की और उपाध्यक्ष के रूप में अश्वघोष थे। संगीति क प्रमुख उद्देश्य बौद्ध दर्शन को व्यवस्थित करना, विभिन्न बौद्ध मत एवं पंथो के मतभेदों को मिटाना था। संगीति के दौरान बौद्ध धर्म की सर्वस्तिवाद परंपरा को व्यवस्थित किया गया, इस उद्देश्य से वसुमित्र द्वारा महाविभाष मानक टीकाग्रन्थ क संकलन किया गया। साथ ही बौद्ध धर्म के प्रसार को मध्य एशिया, चीन को ओर बढ़ाने पर विमर्श किया गया।

इस संगीति के परिणामनुसार बौद्ध दर्शन क व्यवस्थित विकास हुआ साथ ही संस्कृत भाषा के बौद्ध साहित्य में प्रयोग को प्रोत्साहन मिला।

9.10 सारांश

प्रारम्भिक बौद्ध मत को संरक्षण देने में बुद्ध के समकालीन शासकों का प्रमुख योगदान रहा। बिंबिसार बुद्ध के प्रारम्भिक अनुयायी अथवा बौद्ध संघ के प्रारम्भिक संरक्षक भी थे। अजातशत्रु भी बुद्ध के समर्थक थे और बुद्ध के परिनिब्बान के बाद प्रथम बौद्ध संगीति का आयोजन भी अजातशत्रु के संरक्षण में हुआ था। अशोक के समय बुद्ध धर्म को महत्वपूर्ण राजकीय समर्थन मिला, अशोक ने बौद्ध धर्म के संरक्षक के रूप में बुद्ध धर्म का प्रसार देश विदेश में करने के लिए प्रबंध किए, अशोक की राजकीय नीति भी बौद्ध धर्म से काफी प्रभावित थी। इस कारण अशोक को बुद्ध धर्म के आदर्श चक्कवत्ति/चक्रवर्ती राजा के रूप में देखा जाता है। उसी प्रकार कनिष्क ने भी बौद्ध धर्म के प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान निभाया। इन शासकों के योगदान से बौद्ध धर्म वैश्विक स्तर पर एक प्रमुख धर्म बन कर उभरा।

9.11 अभ्यास प्रश्न

1. बुद्ध के प्रारम्भिक राजकीय संरक्षक के रूप में किस राजा का उल्लेख मिलता है?

(अ) अशोक

(ब) कनिष्क

(स) बिम्बिसार

(द) चन्द्रगुप्त मौर्य

2. वेणुवन उद्यान बौद्ध संघ को किसने दान में दिया था?

(अ) पसेनदी

(ब) अजातशत्रु

(स) बिम्बिसार

(द) महापद्म नन्द

3. सामञ्ञफल सुत्त किस निकाय में मिलता है?

(अ) अंगुत्तर निकाय

(ब) दीघ निकाय

(स) मज्झिम निकाय

(द) संयुत्त निकाय

4. प्रथम बौद्ध संगीति किसके संरक्षण में आयोजित हुई?

(अ) अशोक

(ब) कनिष्क

(स) बिम्बिसार

(द) अजातशत्रु

5. कलिंग युद्ध के पश्चात किस सम्राट ने बौद्ध धर्म को अपनाया?

(अ) चन्द्रगुप्त मौर्य

(ब) अशोक

(स) बृहद्रथ

(द) पुष्यमित्र शुंग

6. तृतीय बौद्ध संगीति का आयोजन कहाँ हुआ था?

(अ) वैशाली

(ब) राजगृह

(स) पाटलिपुत्र

(द) कुशीनगर

7. चतुर्थ बौद्ध संगीति का आयोजन किस शासक ने कराया?

(अ) अशोक

(ब) कनिष्क

(स) बिम्बिसार

(द) अजातशत्रु

8. चतुर्थ बौद्ध संगीति की अध्यक्षता किसने की थी?

(अ) आनंद

(ब) उपालि

(स) वसुमित्र

(द) महाकाश्यप

9. अशोक के धम्म का प्रमुख आधार क्या था?

(अ) सैन्य विस्तार

(ब) यज्ञ परम्परा

(स) नैतिक आचरण एवं धार्मिक सहिष्णुता

(द) वैदिक कर्मकाण्ड

10. बुद्ध के अवशेषों की वंदना हेतु पुरुषपुर में विशाल स्तूप किसने बनवाया?

(अ) बिम्बिसार

(ब) अशोक

(स) कनिष्क

(द) पसेनदी

9.12 शब्दावली

1. उपासक – बौद्ध धर्म का गृहस्थ अनुयायी, जो बुद्ध, धम्म और संघ में श्रद्धा रखता है।

2. धम्म – नैतिक आचरण, सदाचार तथा लोककल्याण पर आधारित जीवन-पद्धति; अशोक के अभिलेखों में इसका व्यापक अर्थ है।

3.बौद्ध संगीति – बुद्ध के उपदेशों के संरक्षण, संकलन एवं संघ की समस्याओं के समाधान हेतु आयोजित परिषद।

4. परिनिब्बान (परिनिर्वाण) – बुद्ध का अंतिम निर्वाण अथवा देहत्याग।

9.13 अभ्यास प्रश्न के उत्तर

1. (स) बिम्बिसार , 2. (स) बिम्बिसार , 3. (ब) दीघ निकाय , 4. (द) अजातशत्रु

5. (ब) अशोक , 6. (स) पाटलिपुत्र , 7. (ब) कनिष्क , 8. (स) वसुमित्र

9. (स) नैतिक आचरण एवं धार्मिक सहिष्णुता , 10. (स) कनिष्क

9.14 संदर्भ ग्रंथ

1. सांकृत्यायन, राहुल (अनुवादक). *दीघ निकाय*. वाराणसी: महाबोधि सभा.

2. सांकृत्यायन, राहुल (अनुवादक). *मज्झिम निकाय*. वाराणसी: महाबोधि सभा.

3. सांकृत्यायन, राहुल (अनुवादक). *संयुक्त निकाय*. वाराणसी: महाबोधि सभा.

3. सांकृत्यायन, राहुल (अनुवादक). *अंगुत्तर निकाय*. वाराणसी: महाबोधि सभा.

4. सांकृत्यायन, राहुल (अनुवादक). *विनय पिटक*. वाराणसी: महाबोधि सभा.

5. Romila Thapar. (2012). *Ashoka and the Decline of the Mauryas* (3rd ed.). Oxford University Press.

8. Upinder Singh. (2016). *A History of Ancient and Early Medieval India: From the Stone Age to the 12th Century*. Pearson India.

9.15 सहयोगी पठन सामग्री

1. Richard F. Gombrich. (2006). *Theravada Buddhism: A Social History from Ancient Benares to Modern Colombo* (2nd ed.). Routledge.

2. A. L. Basham. (2004). *The Wonder That Was India* (Rev. ed.). Picador India. *(Originally published 1954.)*

9.16 निबंधात्मक प्रश्न

1. बिम्बिसार एवं अजातशत्रु द्वारा बौद्ध धर्म और बौद्ध संघ को दिए गए संरक्षण का मूल्यांकन कीजिए।

2. सम्राट अशोक के धम्म तथा बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में उनकी भूमिका की विवेचना कीजिए।

3. कनिष्क के शासनकाल में बौद्ध धर्म के विकास तथा चतुर्थ बौद्ध संगीति के महत्व का विश्लेषण कीजिए।

4. पाली साहित्य एवं अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर बौद्ध धर्म के विकास में राजकीय संरक्षण की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

5. बुद्ध के समकालीन राजनीतिक परिस्थितियों तथा प्रमुख शासकों की बौद्ध धर्म के प्रति नीति का विवेचन कीजिए।

इकाई : 10 राजा राम मोहन रॉय

10.0 प्रस्तावना

10.1 उद्देश्य

10.2. जीवन परिचय एवं शैक्षणिक पृष्ठभूमि

10.3. धार्मिक एवं दार्शनिक विचार

10.4. सामाजिक सुधार और मानवाधिकार

10.5. शैक्षणिक दर्शन एवं आधुनिक शिक्षा का समर्थन

10.6. राजनीतिक विचार

10.7. पत्रकारिता एवं साहित्यिक योगदान

10.8. राम मोहन रॉय और भारतीय राष्ट्रवाद

10.9. राजा राम मोहन रॉय का आलोचनात्मक मूल्यांकन

10.10. भारतीय राजनीतिक चिंतन पर प्रभाव

10.11. सारांश

10.12. प्रमुख पारिभाषिक शब्द

10.13. अभ्यास प्रश्न

10.14. संदर्भ ग्रंथ सूची

10.0 प्रस्तावना

भारतीय राजनीतिक चिंतन की परंपरा में राजा राम मोहन रॉय का स्थान अत्यंत विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण है । वे उस संक्रमणकालीन युग के प्रतिनिधि विचारक थे जब भारत परंपरा और आधुनिकता के बीच सेतु की तलाश कर रहा था। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और 19वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में भारतीय समाज सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक अंधविश्वासों तथा राजनीतिक परतंत्रता की

त्रिवेणी में डूबा हुआ था। ऐसे कठिन वातावरण में राजा राम मोहन रॉय ने एक जागरूक, तर्कशील एवं मानवतावादी विचारक के रूप में अपनी पहचान स्थापित की।

राम मोहन रॉय को भारतीय नवजागरण (Indian Renaissance) का अग्रदूत माना जाता है। उन्होंने भारतीय परंपरा की पुनर्व्याख्या करते हुए पाश्चात्य उदारवाद के मूल्यों को भारतीय संदर्भ में प्रासंगिक बनाने का प्रयास किया। वे न केवल एक समाज सुधारक थे, अपितु एक गहन राजनीतिक चिंतक, धार्मिक दार्शनिक, पत्रकार एवं शिक्षाशास्त्री भी थे। उनका संपूर्ण जीवन मानव की मुक्ति, स्वतंत्रता एवं गरिमा के लिए समर्पित था।

राजा राम मोहन रॉय के विचारों को उनके युगीन संदर्भ में समझना आवश्यक है। औपनिवेशिक भारत में जब ब्रिटिश शासन अपने पैर जमा रहा था, तब राम मोहन रॉय ने न तो अंग्रेजों का अंध-अनुकरण किया और न ही परंपरा के नाम पर रूढ़िवाद का समर्थन किया। उन्होंने एक संतुलित दृष्टिकोण अपनाया जिसमें भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता को बनाए रखते हुए पश्चिम के वैज्ञानिक एवं उदार मूल्यों को आत्मसात करने पर बल दिया।

10.1 उद्देश्य :

1. राजा राम मोहन रॉय के जीवन, शिक्षा, वैचारिक विकास तथा उनके सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक विचारों का सम्यक् विश्लेषण करना
2. सती प्रथा उन्मूलन आंदोलन में उनकी भूमिका तथा ब्रह्म समाज की स्थापना, उद्देश्यों और भारतीय समाज में उसके महत्त्व का मूल्यांकन करना।
3. आधुनिक भारतीय राजनीतिक एवं सामाजिक चिंतन के विकास में राजा राम मोहन रॉय के योगदान और उनके दीर्घकालिक प्रभाव का परीक्षण करना।

10.2. जीवन परिचय एवं शैक्षणिक पृष्ठभूमि

10.2.1 प्रारंभिक जीवन

राजा राम मोहन रॉय का जन्म 22 मई, 1772 को बंगाल के हुगली जिले के राधानगर (Radhanagar) ग्राम में एक कुलीन वैष्णव ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम रमाकांत रॉय तथा माता का नाम तारिणी देवी था। परिवार धर्मपरायण एवं परंपरावादी था, किंतु राम मोहन रॉय बचपन से ही जिज्ञासु प्रवृत्ति के थे।

राम मोहन रॉय की प्रारंभिक शिक्षा संस्कृत में हुई। उन्होंने पटना में अरबी एवं फारसी भाषाओं का अध्ययन किया और वाराणसी में वेदांत एवं हिंदू दर्शन की गहन शिक्षा ग्रहण की।

इसके अतिरिक्त उन्होंने ग्रीक, लैटिन, हिब्रू तथा अंग्रेजी भाषाएं भी सीखीं। विभिन्न भाषाओं के अध्ययन ने उन्हें विभिन्न धर्मों एवं दर्शनों के प्राथमिक स्रोतों तक पहुंचने में सहायता की।

10.2.2 व्यावसायिक जीवन

राम मोहन रॉय ने ईस्ट इंडिया कंपनी में दीवान के पद पर कार्य किया। इस कार्यकाल में उन्हें ब्रिटिश प्रशासनिक व्यवस्था को निकट से समझने का अवसर मिला। कंपनी की सेवा में रहते हुए उन्होंने पाश्चात्य शासन-पद्धति, कानून-व्यवस्था एवं उदारवादी मूल्यों का गहन अध्ययन किया। इसी अनुभव ने उनके राजनीतिक चिंतन को व्यावहारिक आधार प्रदान किया।

1814 में उन्होंने कंपनी की नौकरी छोड़ी और कोलकाता में बसकर समाज सुधार के कार्य में पूर्णतः समर्पित हो गए। 1815 में उन्होंने 'आत्मीय सभा' की स्थापना की, जो बाद में ब्रह्म समाज का आधार बनी। 1828 में उन्होंने ब्रह्म समाज की औपचारिक स्थापना की।

10.2.3 इंग्लैंड यात्रा एवं निधन

1830 में राम मोहन रॉय मुगल सम्राट अकबर द्वितीय के राजदूत के रूप में इंग्लैंड गए। इस यात्रा का उद्देश्य मुगल सम्राट के पेंशन संबंधी विवाद को हल करना था। इंग्लैंड में उन्हें 'राजा' की उपाधि प्रदान की गई। इंग्लैंड प्रवास के दौरान वे यूरोपीय बुद्धिजीवियों, राजनेताओं एवं समाज सुधारकों के संपर्क में आए।

27 सितंबर, 1833 को ब्रिस्टल (इंग्लैंड) में मेनिनजाइटिस के कारण उनका निधन हो गया। उनकी मृत्यु भारत से दूर विदेशी धरती पर हुई, किंतु उनके विचारों का प्रभाव भारतीय समाज एवं राजनीतिक चिंतन पर सदियों तक बना रहा।

10.3. धार्मिक एवं दार्शनिक विचार

10.3.1 एकेश्वरवाद और धार्मिक सुधार

राजा राम मोहन रॉय के धार्मिक विचारों का आधार एकेश्वरवाद (Monotheism) था। उन्होंने उपनिषदों, वेदांत, इस्लाम की सूफी परंपरा तथा ईसाई धर्म के नैतिक सिद्धांतों का तुलनात्मक अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला कि सभी प्रमुख धर्मों का मूल सार एक ही ईश्वर की उपासना है। उन्होंने बहुदेववाद, मूर्ति पूजा एवं धार्मिक कर्मकांडों की तर्कपूर्ण आलोचना की।

1816 में उन्होंने 'वेदांत गाथा' प्रकाशित की जिसमें उपनिषदों की एकेश्वरवादी व्याख्या प्रस्तुत की गई। 1820 में उन्होंने 'ईसाई धर्म का उपदेश' (Precepts of Jesus) शीर्षक पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने ईसा मसीह की नैतिक शिक्षाओं को स्वीकार किया, किंतु उनकी ईश्वरीयता को अस्वीकार किया। इस पुस्तक से ईसाई मिशनरियों से उनका विवाद भी हुआ।

10.3.2 तर्कवाद एवं विज्ञान की उपासना

राम मोहन रॉय तर्कवाद (Rationalism) के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने किसी भी धार्मिक मान्यता को तर्क एवं नैतिकता की कसौटी पर परखने का आग्रह किया। वे ऐसे धार्मिक विश्वासों को अस्वीकार करते थे जो मनुष्य की बुद्धि एवं नैतिक विकास में बाधक हों। उनका मानना था कि सच्चा धर्म मनुष्य को भय से मुक्त करता है, न कि भय में डालता है।

वे आधुनिक विज्ञान एवं तर्कशास्त्र के उत्साही समर्थक थे। उन्होंने भारत में वैज्ञानिक शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया और माना कि केवल वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही भारतीय समाज को अज्ञान एवं अंधविश्वास से मुक्त कर सकता है। इसीलिए उन्होंने केवल संस्कृत शिक्षा का विरोध किया और अंग्रेजी माध्यम से आधुनिक शिक्षा का समर्थन किया।

10.3.3 ब्रह्म समाज की स्थापना (1828)

20 अगस्त, 1828 को राजा राम मोहन रॉय ने 'ब्रह्म सभा' की स्थापना की जो बाद में 'ब्रह्म समाज' के नाम से प्रसिद्ध हुई। यह संस्था एकेश्वरवाद, बिना किसी मध्यस्थ के ईश्वर-उपासना, सार्वभौमिक बंधुत्व एवं मानव-गरिमा के सिद्धांतों पर आधारित थी। ब्रह्म समाज में जाति, पंथ या लिंग के आधार पर कोई भेदभाव नहीं था।

ब्रह्म समाज के मूल सिद्धांत निम्नलिखित थे: (1) एकमात्र निराकार, सर्वशक्तिमान ईश्वर की उपासना, (2) मूर्ति पूजा का विरोध, (3) जातिवाद एवं छुआछूत का निषेध, (4) स्त्री-पुरुष समानता, (5) मानव-प्रेम को धर्म का आधार मानना। ब्रह्म समाज ने आगे चलकर देवेंद्रनाथ ठाकुर एवं केशवचंद्र सेन के नेतृत्व में और अधिक विस्तार पाया तथा भारतीय समाज सुधार आंदोलन को नई दिशा दी।

10.4. सामाजिक सुधार और मानवाधिकार

10.4.1 सती प्रथा के विरुद्ध अभियान

राजा राम मोहन रॉय के सामाजिक सुधार कार्यों में सती प्रथा के विरुद्ध अभियान सबसे महत्त्वपूर्ण एवं ऐतिहासिक था। सती प्रथा एक क्रूर प्रथा थी जिसमें विधवा स्त्री को उसके पति की चिता के साथ जीवित जला दिया जाता था। इस प्रथा को धर्मसम्मत ठहराने के लिए शास्त्रीय प्रमाण भी प्रस्तुत किए जाते थे।

राम मोहन रॉय ने इस क्रूर प्रथा के विरुद्ध दो मोर्चों पर एक साथ संघर्ष किया। प्रथमतः, उन्होंने शास्त्रार्थ के माध्यम से यह सिद्ध किया कि हिंदू धर्मग्रंथ सती प्रथा को अनिवार्य नहीं मानते। उन्होंने वेदों एवं उपनिषदों के प्रमाणों से यह दर्शाया कि मनुस्मृति एवं अन्य स्मृति-ग्रंथों में वर्णित

सती प्रथा मूल हिंदू धर्म का अंग नहीं है। द्वितीयतः, उन्होंने ब्रिटिश सरकार पर दबाव डाला कि वह इस प्रथा को कानूनी रूप से प्रतिबंधित करे।

उनके अथक प्रयासों के फलस्वरूप लॉर्ड विलियम बेंटिंक ने 1829 में 'बंगाल सती नियमन अधिनियम' (Bengal Sati Regulation Act) पारित किया जिससे सती प्रथा अवैध घोषित हो गई। यह भारतीय विधि-इतिहास में एक क्रांतिकारी घटना थी। इस उपलब्धि के लिए राम मोहन रॉय को जन-सामान्य एवं बुद्धिजीवियों दोनों का समर्थन प्राप्त हुआ, यद्यपि रूढ़िवादी वर्ग ने उनका तीव्र विरोध भी किया।

10.4.2 महिला अधिकारों का समर्थन

राजा राम मोहन रॉय स्त्री-स्वतंत्रता एवं स्त्री-अधिकारों के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने सती प्रथा के अतिरिक्त बाल-विवाह, पर्दा प्रथा, विधवाओं की दयनीय स्थिति एवं स्त्री-शिक्षा की कमी जैसी समस्याओं पर भी ध्यान आकृष्ट किया। उनका मानना था कि भारतीय समाज तब तक आगे नहीं बढ़ सकता जब तक उसकी आधी आबादी को उनके मौलिक अधिकारों से वंचित रखा जाए।

उन्होंने विधवा पुनर्विवाह का समर्थन किया और माना कि विधवाओं को पुनर्विवाह का अधिकार धर्मशास्त्र के विरुद्ध नहीं है। उन्होंने 'स्त्री अधिकार' पर लेख लिखे जिनमें उन्होंने यह तर्क प्रस्तुत किया कि स्त्री-पुरुष के बीच बौद्धिक एवं नैतिक क्षमता की दृष्टि से कोई मूलभूत अंतर नहीं है। अतः स्त्रियों को शिक्षा, संपत्ति एवं पारिवारिक निर्णयों में समान अधिकार मिलने चाहिए।

10.4.3 जाति-व्यवस्था का विरोध

राम मोहन रॉय ने हिंदू समाज में व्याप्त जाति-व्यवस्था एवं छुआछूत का विरोध किया। यद्यपि वे स्वयं एक कुलीन ब्राह्मण परिवार से थे, तथापि उन्होंने जन्म पर आधारित जातिगत भेदभाव को मानव-गरिमा के विरुद्ध घोषित किया। उनका मानना था कि ईश्वर की दृष्टि में सभी मनुष्य समान हैं, अतः जन्म के आधार पर किसी के साथ भेदभाव करना ईश्वरीय व्यवस्था का उल्लंघन है।

उन्होंने ब्रह्म समाज के माध्यम से एक ऐसे समाज की नींव रखी जहां जाति के आधार पर कोई भेद न हो। ब्रह्म समाज की उपासना सभाओं में जाति-निर्विशेष लोग एक साथ बैठते थे, जो उस युग की दृष्टि से एक क्रांतिकारी कदम था।

10.5. शैक्षणिक दर्शन एवं आधुनिक शिक्षा का समर्थन

10.5.1 पाश्चात्य शिक्षा का समर्थन

राजा राम मोहन रॉय आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा के प्रबल समर्थक थे। 1823 में उन्होंने लॉर्ड एमहर्स्ट को एक प्रसिद्ध पत्र लिखा जिसमें उन्होंने सरकारी अनुदान से केवल संस्कृत पाठशाला

खोलने की योजना का विरोध किया। उनका तर्क था कि पारंपरिक संस्कृत शिक्षा केवल व्याकरण, अलंकार एवं धर्मशास्त्र तक सीमित है, जबकि देश को गणित, भौतिकी, रसायन, शरीर-विज्ञान जैसे आधुनिक विषयों की शिक्षा की आवश्यकता है।

उनका मानना था कि आधुनिक वैज्ञानिक शिक्षा ही भारत को प्रगति के मार्ग पर ले जा सकती है। उन्होंने 1817 में डेविड हेयर के सहयोग से 'हिंदू कॉलेज' (वर्तमान प्रेसीडेंसी विश्वविद्यालय, कोलकाता) की स्थापना में योगदान दिया। 1825 में उन्होंने वेदांत कॉलेज की स्थापना की जहां प्राचीन भारतीय ज्ञान के साथ-साथ पाश्चात्य विज्ञान एवं सामाजिक अध्ययन भी पढ़ाया जाता था।

10.5.2 प्रेस की स्वतंत्रता

राजा राम मोहन रॉय प्रेस की स्वतंत्रता के प्रबल पक्षधर थे। उन्होंने 1821 में बांग्ला भाषा में 'संवाद कौमुदी' और फारसी भाषा में 'मिरात-उल-अखबार' नामक समाचार पत्र प्रकाशित किए। इन पत्रिकाओं के माध्यम से उन्होंने सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक मुद्दों पर जनमत तैयार किया।

1823 में ब्रिटिश सरकार ने 'प्रेस नियमन अधिनियम' लागू करके समाचार पत्रों पर प्रतिबंध लगाने का प्रयास किया। राम मोहन रॉय ने इसके विरुद्ध ऐतिहासिक विरोध-पत्र प्रस्तुत किया और इसे वापस लेने की मांग की। उनका तर्क था कि प्रेस की स्वतंत्रता लोकतांत्रिक शासन की आवश्यक शर्त है। यह उनके राजनीतिक उदारवाद का एक महत्त्वपूर्ण आयाम था।

10.6. राजनीतिक विचार

10.6.1 उदारवाद एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता

राजा राम मोहन रॉय के राजनीतिक विचारों का मूल आधार उदारवाद (Liberalism) था। वे जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम एवं जेम्स मिल जैसे पाश्चात्य उदारवादी विचारकों से प्रभावित थे। उन्होंने व्यक्ति की स्वतंत्रता, समानता एवं अधिकारों को राज्य की प्राथमिक जिम्मेदारी माना। उनका मानना था कि अच्छा शासन वही है जो नागरिकों की स्वतंत्रता की रक्षा करे और उनके जीवन-स्तर में सुधार लाए।

उन्होंने ब्रिटिश संवैधानिक प्रणाली की प्रशंसा की और माना कि भारत में भी ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जहां कानून का शासन हो, नागरिकों को मौलिक अधिकार प्राप्त हों, एवं न्यायपालिका स्वतंत्र हो। यद्यपि वे ब्रिटिश शासन की आलोचना करते थे, तथापि वे भारत की तत्कालीन परिस्थितियों में क्रमिक सुधार के पक्षधर थे।

10.6.2 ब्रिटिश शासन के प्रति दृष्टिकोण

राजा राम मोहन रॉय का ब्रिटिश शासन के प्रति दृष्टिकोण द्वंद्वात्मक था। एक ओर उन्होंने ब्रिटिश शासन के कुछ पहलुओं को भारत के लिए लाभकारी माना। उनका विचार था कि ब्रिटिश कानूनी व्यवस्था, आधुनिक शिक्षा एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण भारत को पुरानी सामाजिक कुरीतियों से मुक्ति दिलाने में सहायक हो सकता है।

दूसरी ओर उन्होंने ब्रिटिश शासन की नीतियों की तीव्र आलोचना भी की। उन्होंने भारतीयों के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार, भारतीयों को उच्च सरकारी पदों से वंचित रखने, तथा भारत की आर्थिक लूट पर प्रश्न उठाए। वे चाहते थे कि भारतीयों को भी शासन में समान भागीदारी मिले और उनके साथ ब्रिटिश नागरिकों जैसा व्यवहार हो। उनकी यह मांग आगे चलकर भारतीय राष्ट्रवाद की आधारशिला बनी।

10.6.3 न्यायिक सुधार की मांग

राजा राम मोहन रॉय ने भारत में न्यायिक सुधारों की दृढ़तापूर्वक मांग की। उन्होंने मांग की कि भारत में ऐसी न्यायपालिका स्थापित हो जो स्वतंत्र, निष्पक्ष एवं सभी के लिए समान न्याय सुनिश्चित करे। उन्होंने जूरी प्रणाली के विस्तार का समर्थन किया ताकि आम नागरिक भी न्याय प्रक्रिया में भागीदार बन सकें।

उन्होंने यह भी मांग की कि भारतीय जज एवं मजिस्ट्रेट ब्रिटिश जज के समान अधिकार रखें और ब्रिटिश एवं भारतीय अपराधियों के लिए एक समान दंड-व्यवस्था हो। उनकी इस मांग में विधि के समक्ष समानता (Equality before Law) का सिद्धांत निहित था जो आज भारतीय संविधान का मूलभूत तत्त्व है।

10.6.4 राजस्व एवं आर्थिक नीति

राम मोहन रॉय ने स्थायी बंदोबस्त (Permanent Settlement) व्यवस्था के दुष्परिणामों की ओर ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने भू-राजस्व की अत्यधिक ऊंची दरों का विरोध किया और मांग की कि किसानों से उचित राजस्व ही लिया जाए। उनका मानना था कि ब्रिटिश आर्थिक नीतियां भारतीय कृषकों एवं उद्योगों के लिए हानिकारक थीं।

वे मुक्त व्यापार (Free Trade) के समर्थक थे और चाहते थे कि भारतीय व्यापारियों को भी यूरोपीय व्यापारियों के समान व्यापारिक अधिकार मिलें। उनके आर्थिक विचारों में एक प्रकार का संरक्षणवाद भी था जो भारतीय उद्योगों की रक्षा करना चाहता था।

10.7. पत्रकारिता एवं साहित्यिक योगदान

10.7.1 बांग्ला गद्य का विकास

राजा राम मोहन रॉय को आधुनिक बांग्ला गद्य का जनक माना जाता है। उन्होंने बांग्ला भाषा में सरल, सुबोध एवं तर्कपूर्ण गद्य की रचना की। उनसे पूर्व बांग्ला गद्य में संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों एवं अलंकारों की अधिकता थी। राम मोहन रॉय ने सामान्य बोलचाल की भाषा को साहित्यिक माध्यम बनाया।

'संवाद कौमुदी' तथा उनकी अन्य बांग्ला रचनाएं आधुनिक बांग्ला साहित्य की नींव मानी जाती हैं। उन्होंने बांग्ला में अनेक धार्मिक ग्रंथों का अनुवाद किया तथा सामाजिक एवं राजनीतिक विषयों पर निबंध लिखे। उनकी भाषा स्पष्टता, तर्कशीलता एवं सरलता से युक्त थी।

10.7.2 प्रमुख रचनाएं

राजा राम मोहन रॉय की प्रमुख रचनाओं में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं: 'तुहफात-उल-मुवाहिदीन' (1803) उनकी प्रथम महत्त्वपूर्ण रचना थी जो फारसी भाषा में लिखी गई थी और जिसमें एकेश्वरवाद की स्थापना की गई थी। 'वेदांत गाथा' (1816) में उन्होंने उपनिषदों की एकेश्वरवादी व्याख्या प्रस्तुत की। 'प्रीसेप्ट्स ऑफ जीसस' (1820) में उन्होंने ईसाई नैतिक शिक्षाओं का सार प्रस्तुत किया।

इसके अतिरिक्त उन्होंने 'ब्रहमणिकल मैगजीन', 'मिरात-उल-अखबार' और 'संवाद कौमुदी' के माध्यम से नियमित रूप से सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक विषयों पर लेखन किया। उनका लेखन केवल साहित्यिक उद्देश्य से नहीं था, अपितु वे अपने लेखन को सामाजिक परिवर्तन के एक उपकरण के रूप में देखते थे।

10.8. राम मोहन रॉय और भारतीय राष्ट्रवाद

10.8.1 राष्ट्रवादी चेतना के अग्रदूत

यद्यपि राजा राम मोहन रॉय के जीवनकाल में भारतीय राष्ट्रवाद पूर्णतः विकसित नहीं हुआ था, तथापि वे उस राष्ट्रीय चेतना के बीज बोने वाले पहले विचारकों में से थे जो बाद में स्वतंत्रता आंदोलन के रूप में पल्लवित हुई। उन्होंने भारतीयों में अपनी सांस्कृतिक विरासत के प्रति गर्व की भावना जागृत की और साथ ही उन्हें पाश्चात्य उदार मूल्यों से परिचित कराया।

उन्होंने भारत को एक राष्ट्र के रूप में देखा और इसके विभिन्न समुदायों के बीच एकता स्थापित करने का प्रयास किया। उनका धार्मिक दर्शन, जो सभी धर्मों की मूलभूत एकता पर

आधारित था, भारतीय राष्ट्रवाद के लिए एक वैचारिक आधार प्रदान करता था। उन्होंने हिंदू, मुस्लिम एवं ईसाई सभी समुदायों के साथ संवाद स्थापित किया।

10.8.2 नागरिक अधिकारों की मांग

राजा राम मोहन रॉय ने भारतीयों के लिए नागरिक अधिकारों की मांग को एक राजनीतिक एजेंडे के रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने ब्रिटिश संसद में भारतीयों की समस्याओं को रखा और मांग की कि भारत में ब्रिटिश नागरिकों को प्राप्त मौलिक अधिकार भारतीयों को भी मिलने चाहिए। इनमें व्यक्ति की स्वतंत्रता, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, न्याय का अधिकार आदि प्रमुख थे।

1833 में इंग्लैंड में भारत के पुनर्नवीनीकरण अधिनियम (Charter Act of 1833) पर विचार के समय उन्होंने ब्रिटिश संसद की प्रवर समिति के समक्ष भारतीयों के हितों का पक्ष रखा। यह प्रयास भविष्य में भारतीय राजनीतिक आंदोलन की एक महत्त्वपूर्ण परंपरा का आरंभ था।

10.8.3 अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण

राजा राम मोहन रॉय का दृष्टिकोण केवल भारत तक सीमित नहीं था। वे एक वैश्विक मानवतावादी थे जो संपूर्ण विश्व में स्वतंत्रता एवं मानवाधिकारों के प्रसार में रुचि रखते थे। उन्होंने आयरलैंड की स्वतंत्रता के आंदोलन का समर्थन किया और फ्रांस की क्रांति की सफलता पर हर्ष व्यक्त किया। उनका मानना था कि स्वतंत्रता एवं मानव-गरिमा सार्वभौमिक मूल्य हैं जिनके लिए विश्व के सभी लोगों को संघर्ष करना चाहिए।

10.9. राजा राम मोहन रॉय का आलोचनात्मक मूल्यांकन

10.9.1 उपलब्धियां

राजा राम मोहन रॉय की उपलब्धियां बहुआयामी थीं। उन्होंने सती प्रथा का उन्मूलन करवाकर लाखों भारतीय महिलाओं के जीवन में सकारात्मक परिवर्तन लाया। ब्रह्म समाज की स्थापना करके उन्होंने एक ऐसे सुधारवादी धार्मिक आंदोलन की नींव रखी जिसने भारत में आधुनिकता के प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने पाश्चात्य शिक्षा को प्रोत्साहित करके भारतीय बौद्धिक जीवन में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का समावेश किया।

उनकी पत्रकारिता ने एक जागरूक जनमत तैयार किया। आधुनिक बांग्ला गद्य के विकास में उनका योगदान अविस्मरणीय है। भारतीय नागरिकों के अधिकारों के लिए उनकी आवाज ने भविष्य के राजनीतिक आंदोलनों को प्रेरणा दी। उनका जीवन एवं कार्य परवर्ती विचारकों जैसे स्वामी विवेकानंद, महात्मा गांधी एवं डॉ. भीमराव अंबेडकर के लिए भी एक महत्त्वपूर्ण संदर्भ बिंदु रहा।

10.9.2 सीमाएं एवं आलोचनाएं

राजा राम मोहन रॉय की दृष्टि में कुछ सीमाएं एवं अंतर्विरोध भी थे। प्रथमतः, आलोचकों का तर्क है कि वे मूलतः उच्च जाति के हिंदू समाज के सुधारक थे और निम्न जाति के शोषण पर उनका ध्यान पर्याप्त नहीं था। जाति-व्यवस्था की उनकी आलोचना सैद्धांतिक स्तर पर तो थी, किंतु उन्होंने दलित अधिकारों के लिए उस स्तर पर संघर्ष नहीं किया जैसा डॉ. अंबेडकर ने बाद में किया।

द्वितीयतः, उनका ब्रिटिश शासन के प्रति दृष्टिकोण अनेक राष्ट्रवादियों को अपर्याप्त लगता था। वे ब्रिटिश शासन को पूर्णतः अस्वीकार करने की बजाय उसमें सुधार चाहते थे। इसे कुछ विचारक उनकी सीमा मानते हैं। तृतीयतः, उनका दृष्टिकोण मुख्यतः शहरी, शिक्षित एवं मध्यवर्गीय समाज केंद्रित था। ग्रामीण एवं श्रमिक वर्ग की समस्याओं पर उनका ध्यान अपेक्षाकृत कम था।

10.9.3 ऐतिहासिक महत्त्व

इन सीमाओं के बावजूद राजा राम मोहन रॉय का ऐतिहासिक महत्त्व असंदिग्ध है। वे उस युग में जन्मे जब भारतीय समाज एवं संस्कृति गहरे संकट में थी। उन्होंने अपने एकाकी प्रयासों से भारत को एक नई दिशा दिखाई। उन्होंने भारतीय परंपरा की शक्ति को बनाए रखते हुए उसे पश्चिम के श्रेष्ठ मूल्यों से समृद्ध करने का प्रयास किया।

रवींद्रनाथ ठाकुर ने उन्हें 'आधुनिक भारत का जनक' कहा। सुभाष चंद्र बोस ने उन्हें 'भारतीय राष्ट्रवाद का प्रथम शिक्षक' माना। नेहरू ने उन्हें 'नवीन भारत का अग्रदूत' कहा। ये उद्गार इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि राजा राम मोहन रॉय का भारतीय इतिहास एवं राजनीतिक चिंतन में कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है।

10.10. भारतीय राजनीतिक चिंतन पर प्रभाव

10.10.1 परवर्ती सुधार आंदोलनों पर प्रभाव

राजा राम मोहन रॉय ने जो सुधार परंपरा आरंभ की वह परवर्ती सुधार आंदोलनों के लिए प्रेरणास्रोत बनी। महाराष्ट्र में महादेव गोविंद रानाडे, बाल गंगाधर तिलक, गोपालकृष्ण गोखले; गुजरात में दयानंद सरस्वती; बंगाल में केशवचंद्र सेन एवं देवेंद्रनाथ ठाकुर इन सभी ने राम मोहन रॉय की विरासत से प्रेरणा ली। आर्य समाज की स्थापना करने वाले स्वामी दयानंद सरस्वती ने भी अपने सुधार आंदोलन में राम मोहन रॉय की परंपरा का संदर्भ लिया।

10.10.2 भारतीय संविधान पर वैचारिक प्रभाव

भारतीय संविधान में जिन मूल्यों को स्थान दिया गया है स्वतंत्रता, समानता, धर्मनिरपेक्षता, सामाजिक न्याय उनकी जड़ें राजा राम मोहन रॉय के विचारों में मिलती हैं। उनका एकेश्वरवादी एवं

सार्वभौमिक धार्मिक दृष्टिकोण धर्मनिरपेक्षता की पृष्ठभूमि तैयार करता है। उनकी स्त्री-समानता की मांग संविधान के अनुच्छेद 15 में झलकती है। उनकी न्यायिक सुधार की मांग विधि के समक्ष समानता के सिद्धांत (अनुच्छेद 14) का पूर्वाभास है।

10.10.3 तुलनात्मक राजनीतिक दर्शन में स्थान

विश्व के राजनीतिक चिंतन के इतिहास में राजा राम मोहन रॉय का विशिष्ट स्थान है। वे उन विचारकों में से हैं जिन्होंने एशियाई एवं यूरोपीय उदारवादी परंपराओं के बीच संवाद स्थापित करने का प्रयास किया। उनके विचारों की तुलना वोल्टेयर, रूसो एवं लॉक जैसे यूरोपीय प्रबोधनकालीन (Enlightenment) विचारकों से की जा सकती है, यद्यपि उनका संदर्भ भिन्न था।

राम मोहन रॉय ने यह सिद्ध किया कि उदारवादी मूल्य पश्चिम की विशेष उपज नहीं हैं, अपितु ये भारतीय वेदांत की भी मूल चेतना है। उन्होंने भारत को एक 'आत्म-सुधार करने वाले समाज' के रूप में प्रस्तुत किया जो बाहरी दबाव के बिना भी अपनी कमियों को पहचानने एवं सुधारने में सक्षम है।

10.11. सारांश

राजा राम मोहन रॉय भारतीय इतिहास के उस महान विचारक एवं कर्मयोगी थे जिन्होंने एक ऐसे युग में आधुनिकता की मशाल जलाई जब भारतीय समाज अंधकार में डूबा हुआ था। उनका संपूर्ण जीवन मानव की मुक्ति, स्वतंत्रता एवं गरिमा के लिए संघर्ष का इतिहास है। सती प्रथा का उन्मूलन, ब्रह्म समाज की स्थापना, आधुनिक शिक्षा का प्रचार, प्रेस की स्वतंत्रता का समर्थन, महिला अधिकारों की मांग ये सभी उनके बहुआयामी व्यक्तित्व के विभिन्न पहलू हैं।

भारतीय राजनीतिक चिंतन में राम मोहन रॉय का अवदान यह है कि उन्होंने एक ऐसा वैचारिक ढांचा प्रस्तुत किया जिसमें भारतीय परंपरा की जड़ें भी थीं और पाश्चात्य उदारवाद के पंख भी। उन्होंने भारतीयों को यह विश्वास दिलाया कि आधुनिकता अपनाने के लिए अपनी सांस्कृतिक पहचान त्यागने की आवश्यकता नहीं है। वे भारतीय नवजागरण के वास्तविक अग्रदूत थे जिनके विचारों की प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है।

स्नातकोत्तर स्तर के विद्यार्थियों के लिए राम मोहन रॉय का अध्ययन इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वे भारतीय राजनीतिक चिंतन की उस परंपरा के प्रतिनिधि हैं जो समाज, राज्य एवं व्यक्ति के बीच संतुलन की खोज करती है। उनके विचारों का गहन अध्ययन न केवल अकादमिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, अपितु आज के भारत की चुनौतियों को समझने में भी सहायक है।

10.12 अभ्यास प्रश्न

1. राजा राममोहन राय द्वारा स्थापित संस्था कौन-सी थी?

A. आर्य समाज
B. ब्रह्म समाज
C. थियोसोफिकल सोसायटी
D. रामकृष्ण मिशन

2. राजा राममोहन राय ने किस सामाजिक कुप्रथा के उन्मूलन के लिए सबसे अधिक संघर्ष किया?

A. बाल विवाह
B. सती प्रथा
C. दहेज प्रथा
D. अस्पृश्यता

3. राजा राममोहन राय को निम्नलिखित में से किस उपाधि से जाना जाता है?

A. भारतीय पुनर्जागरण का जनक
B. राष्ट्रपिता
C. लौह पुरुष
D. लोकमान्य

4. सती प्रथा को समाप्त करने वाला कानून किस गवर्नर जनरल के शासनकाल में लागू किया गया, जिसके लिए राजा राममोहन राय ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई?

A. Lord Wellesley
B. Lord William Bentinck
C. Lord Dalhousie
D. Lord Curzon

5. राजा राममोहन राय का निधन किस देश में हुआ था?

A. फ्रांस
B. जर्मनी
C. इंग्लैंड
D. अमेरिका

10.13 शब्दावली

ब्रह्म समाज: 1828 में राजा राम मोहन रॉय द्वारा स्थापित एकेश्वरवादी धार्मिक एवं सुधारवादी संस्था।

नवजागरण (Renaissance): 19वीं शताब्दी में भारत में हुआ वह सांस्कृतिक एवं वैचारिक पुनरुत्थान जिसने समाज में तर्कशीलता एवं आधुनिकता के मूल्यों को प्रसारित किया।

उदारवाद (Liberalism): वह राजनीतिक दर्शन जो व्यक्ति की स्वतंत्रता, समानता एवं मौलिक अधिकारों को सर्वोच्च प्राथमिकता देता है।

एकेश्वरवाद (Monotheism): एकमात्र ईश्वर में विश्वास की धार्मिक विचारधारा।

सती प्रथा: वह क्रूर परंपरा जिसमें विधवा स्त्री को पति की चिता के साथ जला दिया जाता था, जिसे 1829 में बेंटिंक द्वारा कानूनन समाप्त किया गया।

तर्कवाद (Rationalism): वह दार्शनिक दृष्टिकोण जो तर्क एवं कारण को ज्ञान का प्राथमिक स्रोत मानता है।

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. B, 2.B, 3.A, 4.B, 5. C

10.14 निबंधात्मक प्रश्न

1. राजा राम मोहन रॉय के एकेश्वरवाद की अवधारणा की विवेचना करते हुए ब्रह्म समाज के मूल सिद्धांतों का परीक्षण कीजिए।

2. सती प्रथा उन्मूलन आंदोलन में राजा राम मोहन रॉय की भूमिका का विश्लेषण कीजिए। इसका समाज पर क्या प्रभाव पड़ा ?

3. राजा राम मोहन रॉय के राजनीतिक विचारों का मूल्यांकन करते हुए यह बताइए कि उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद की किस प्रकार नींव रखी।

4. पाश्चात्य शिक्षा के संदर्भ में राजा राम मोहन रॉय के विचारों का परीक्षण कीजिए। क्या उनके विचार आज भी प्रासंगिक हैं ?

5. राजा राम मोहन रॉय के विचारों की सीमाओं एवं अंतर्विरोधों का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए।

10.15 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. Collet, Sophia Dobson. The Life and Letters of Raja Rammohun Roy. Calcutta: Sadharan Brahmo Samaj, 1914.

2. Kopf, David. The Brahmo Samaj and the Shaping of the Modern Indian Mind. Princeton University Press, 1979.

3. Robertson, Bruce Carlisle. Raja Rammohan Ray: The Father of Modern India. Oxford University Press, 1995.

4. Murphet, Howard. When Daylight Comes: A Biography of Helena Petrovna Blavatsky. Theosophical Publishing House, 1975.

5. त्रिपाठी, अमलेश. राजा राममोहन राय और भारतीय पुनर्जागरण। कोलकाता: आनंद, 1988.

6. Sarkar, Sumit. A Critique of Colonial India. Calcutta: Papyrus, 1985.

7. Ray, Bharati. Women of India: Colonial and Post-Colonial Periods. Sage Publications, 2005.

8. भट्टाचार्य, सुकुमार. आधुनिक भारत का इतिहास। नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 2002.

इकाई 11 : स्वामी दयानन्द सरस्वती

इकाई की संरचना

11 .0 प्रस्तावना
11 .1 उद्देश्य
11 .2 स्वामी दयानन्द सरस्वती का जीवन परिचय
11 .3 स्वामी दयानन्द सरस्वती की रचनाएँ
11 .4 स्वामी दयानन्द सरस्वती के राजनीतिक विचार
11 .4.1 राष्ट्रवाद
11 .4.2 प्रबुद्ध राजतन्त्र
11 .4.3 लोकतंत्र
11 .4.4 ग्राम प्रशासन
11 .4.5 ईश्वरीय विधि की श्रेष्ठता
11 .4.6 सापेक्ष अहिंसा का सिद्धांत
11 .4.7 वैदिक सार्वभौमवाद
11 .5 स्वामी दयानन्द सरस्वती के सामाजिक विचार
11 .6 स्वामी दयानन्द सरस्वती के शिक्षा संबंधी विचार
11 .7 स्वामी दयानन्द सरस्वती का योगदान
11 .8 सारांश
11 .9 शब्दावली
11 .10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
11 .11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
11 .12 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री
11 .13 निबंधात्मक प्रश्न

11 .0 प्रस्तावना

स्वामी दयानंद सरस्वती एक महान शिक्षाविद, समाज सुधारक और सांस्कृतिक राष्ट्रवादी थे। भारतीय राजनीतिक चिंतन में उन्हें विशिष्ट स्थान प्राप्त है । वैदिक संस्कृति के महान उद्धारक तथा एक महान देशभक्त और राष्ट्र निर्माता के रूप में उनकी छवि विश्व प्रसिद्ध है । डॉक्टर राधाकृष्णन के अनुसार "स्वामी दयानंद एक महान सुधारक और प्रखर क्रांतिकारी महापुरुष तो थे ही, साथ ही उनके हृदय में सामाजिक अन्याय को उखाड़ फेंकने की प्रचंड अग्नि भी विद्यमान थी। उनकी शिक्षाओं का हम सबके लिए भारी महत्व है । उन्होंने हमें यह महान संदेश दिया था कि हम सत्य की कसौटी पर कसकर ही किसी बात को स्वीकार करें।" विमान बिहारी मजूमदार के शब्दों में "स्वामी दयानंद ने राज्य के उद्देश्यों को जितना व्यापक स्वरूप

प्रदान किया है वैसा प्राचीन, मध्यकालीन एवं आधुनिक समय के किसी राजनीतिक विचारक ने नहीं दिया ।" उन्होंने भारत के गौरवपूर्ण अतीत का न केवल गुणगान किया है बल्कि भारतीयों को आत्मविश्लेषण करके अपने दोषों तथा कमियों को देखने का भी आह्वान किया। उन्होंने समाज को तोड़ने वाली प्रवृत्तियों का जोरदार खंडन किया तथा देशवासियों को आत्मग्लानि, निराशा तथा हीन भावना से मुक्त कराने में योगदान दिया। दयानंद सरस्वती ने न केवल भावी राजनीति की रूपरेखा प्रस्तुत की बल्कि धर्म, दर्शन, शिक्षा एवं राजनीति के विविध आयामों का प्रतिरूप हमारे समक्ष रखा। आर्य समाज के संस्थापक के रूप में उन्होंने शिक्षा और धर्म के क्षेत्र में नवीन विचारों का सूत्रपात किया।

11 .1 उद्देश्य

इस अध्याय का उद्देश्य पाठकों को भारतीय राजनीतिक विचारक स्वामी दयानन्द सरस्वती के राजनीतिक विचारों से परिचय कराना है। स्वामी दयानंद सरस्वती आर्य समाज के संस्थापक, महान चिंतक, समाज-सुधारक और देशभक्त थे। इस अध्याय में स्वामी दयानन्द सरस्वती के राजनीतिक विचार यथा राष्ट्रवाद ,प्रबुद्ध राजतन्त्र, लोकतंत्र , ग्राम प्रशासन , ईश्वरीय विधि की श्रेष्ठता, सापेक्ष अहिंसा का सिद्धांत एवं वैदिक सार्वभौमवाद सम्बंधित विचार पर चर्चा से भी पाठकों का ज्ञानवर्धन होगा।

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आपको

i. स्वामी दयानन्द सरस्वती के राजनीतिक चिंतन के मूल तत्व के बारे में ज्ञान प्राप्त होगा।
ii. साथ ही आप स्वामी दयानन्द सरस्वती के सामाजिक विचारों के बारे में जान सकेंगे।
iii. आप स्वामी दयानन्द सरस्वती के शिक्षा संबंधी विचारों के बारे में जान सकेंगे तथा
iv. स्वामी दयानन्द सरस्वती के योगदान से भी आप अवगत होंगे।

11 .2 स्वामी दयानन्द सरस्वती का जीवन परिचय

आर्य समाज के संस्थापक और आधुनिक पुनर्जागरण को दिशा देने वाले महर्षि स्वामी दयानंद सरस्वती जी का जन्म 12 फरवरी 1824 को गुजरात में मोराबी के टंकारा गांव में कृष्णलाल जी तिवारी और अमृतबाई के घर हुआ था। मूल नक्षत्र में जन्म होने के कारण उनका नाम मूलशंकर रखा गया था। स्वामी दयानंद का परिवार अत्यंत रूढ़िवादी था तथा उनके पिता परम शिव भक्त थे। दयानंद के पिता एक कर-कलेक्टर होने के साथ ब्राह्मण परिवार के एक समृद्ध और प्रभावशाली व्यक्ति थे। जिसके चलते दयानंद ने संस्कृत, वेद, शास्त्रों एवं अन्य धार्मिक पुस्तकों का अध्ययन बिना किसी परेशानी के किया। बचपन से ही उनके पिता की शिवभक्ति से वे भी प्रेरित हुए। स्वामी दयानंद के जीवन में ऐसी बहुत सी घटनाएँ हुईं, जिनकी वजह से उन्होंने समाज के कई मूल्यों पर प्रश्न उठायें और ज्ञान की खोज में निकल पड़े । एक अप्रत्याशित घटनाक्रम ने उन्हें मूर्ति पूजा का घोर विरोधी बना दिया तथा उनकी बहन और चाचा की मृत्यु

ने यह बोध कराया कि जीवन में कुछ भी शाश्वत नहीं है। तत्पश्चात उन्होंने 1846 में गृह त्याग दिया और ज्ञान सत्य तथा मोक्ष की तलाश में अग्रिम यात्रा पर चल पड़े।

1856 में स्वामी दयानंद नाना साहब से मिले और दोनों ने मिलकर सन्यासियों द्वारा गुप्त रूप से रोटियों में गुप्त संदेशों को भेजने की योजना बनाई। सैनिक प्रतिष्ठानों में साधु के वेश में क्रांति की ज्वाला भड़काने में स्वामी दयानंद की भूमिका महत्वपूर्ण थी। परंतु 1857 की क्रांति में असफलता मिलने पर दयानंद निराश हो गए। उन्होंने अनुभव किया कि देश में एक विचारधारा, एक जाति, एक संगठन, एक भाषा और एक राष्ट्र का सर्वथा अभाव है। कुरीतियों ने सामान्य जनजीवन को निर्जीव बना दिया है। इन समस्याओं के समाधान की कोशिश में दयानंद सरस्वती संपूर्णानंद आश्रम पहुंचे, जहां उन्हें विरजानन्द जी के पास मथुरा जाने के लिए कहा गया। यहीं से उनके जीवन का एक नया अध्याय प्रारंभ हो जाता है। अनंतर स्वामी दयानंद सरस्वती ने सारे भारत में घूम- घूम कर प्राचीन सभ्यता एवं आरे ग्रंथों का प्रचार प्रसार प्रारंभ कर दिया। उनके जीवन के पश्चात उनके विचार समाप्त न हो जाएं, इस उद्देश्य से उन्होंने अपने अनुयायियों को एक मंच पर एकत्रित करने के लिए मुंबई में 1875 में आर्य समाज की स्थापना की। आर्य समाज निरंतर स्वामी दयानंद सरस्वती के नेतृत्व में प्रगति करता रहा। आर्य समाज की सफलता विशेषकर उत्तर भारत के पंजाब, संयुक्त प्रांत तथा राजपूताना जैसे राज्यों में देखकर तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था के समर्थक स्वामी दयानंद सरस्वती से घोर ईर्ष्या करने लगे तथा उन्हें मारने के विविध प्रयास करते रहे। अंततः 30 अक्टूबर 1883 को अजमेर में उनका स्वर्गवास हो गया। यह मृत्यु स्वभाविक नहीं थी क्योंकि उनके भोजन में जहर दे दिया गया था किंतु भारत के इस महान ऋषि ने अपने प्राणहंता को क्षमा देकर अपनी महानता को और भी आलोकित कर दिया। भारतीय ज्ञान राशि का यह दिव्य सितारा दीपावली के दिन ही बुझ गया।

11 .3 स्वामी दयानन्द सरस्वती की रचनाएँ

स्वामी दयानंद सरस्वती के दर्शन को उनके तीन प्रसिद्ध योगदान - सत्यार्थ प्रकाश, ऋग्वेद आदि भाष्य भूमिका और वेद भाष्य से जाना जाता है। इसके अतिरिक्त उनके द्वारा संपादित पत्रिका 'आर्य पत्रिका' भी उनके विचारों एवं दर्शन को प्रकट करती है।स्वामी दयानंद ने सत्यार्थ प्रकाश के दो अध्याय - अध्याय 2 और 3 को शिशुओं और किशोरों के लिए शिक्षा के विषय हेतु समर्पित किया है। इसके अतिरिक्त एक प्रतिष्ठित लेखक के रूप में उपरोक्त कार्य एक शैक्षिक और धार्मिक लेखक के रूप में उनकी भूमिका का संकेत देते हैं।

11 .4 स्वामी दयानन्द सरस्वती के राजनीतिक विचार

फ्रांसीसी विचारक रोम्यॉ रोलॉ का कथन है कि, "दयानन्द सरस्वती ईलियड या गीता के प्रमुख नायक समान थे, जिन्होंने हरक्युलिस जैसी शक्ति के साथ हिन्दुओं ने अन्धविश्वासों पर प्रबल प्रहार किए। वास्तव में शंकराचार्य के उपरान्त इतनी महान बुद्धि का सन्त दूसरा नहीं जन्मा।"

वह आधुनिक भारत के सबसे महान ऐसे पथ-निर्माता माने जाने जाते हैं, जिसने जातियों, उपजातियों, छुआछूत, आदि के बीहड़ वनों को चीर कर भारत के पतन-काल में ईश्वराधना, देश-भक्ति तथा मानव सेवा का सहज मार्ग बताया। इन्होंने तीक्ष्ण दृष्टि और दृढ़ संकल्प के साथ कोटिशः भारतीयों को आत्म सम्मान तथा मानसिक चेतना को उद्बुद्ध भी किया। दयानन्द जी ने देशवासियों में राष्ट्रवाद का संदेश ऐसे समय में दिया जबकि भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की प्रधानता स्थापित हो गयी थी। ईसाई सभ्यता और संस्कृति भारतीयों का ईसाईकरण प्रारम्भ कर चुकी थी और देश के प्रमुख राज्य अंग्रेजी कम्पनी के चाकर बन गए थे। ऐसे कठिन समय में उन्होंने हिन्दुओं में नवजीवन के प्राण फूके, भारत भूमि की कीर्ति और महिमा समझाई तथा देशवासियों को भारत का स्वर्णिम इतिहास बताया। उन्होंने हमें यह भी बताया कि वास्तव में आर्य जाति ही ईश्वर प्रिय सर्वोत्तम सृष्टि और प्रिय जाति है। वेद ही उनकी वाणी है तथा भारत देश ही ईश्वर को है। अन्य धर्म आधे-अधूरे मात्र हैं, अतः आर्यों का कर्तव्य है कि वे उन्हें आर्य धर्म में दीक्षा प्रदान करें।

दयानन्द के समय में हिन्दू समाज को मुस्लिम एवं ईसाई दोनों का आक्रमण सहना पड़ रहा था, अतः दयानन्द जी ने सुरक्षा की नीति को छोड़कर आक्रमण की नीति का अनुगमन किया। उन्होंने निर्भीकतापूर्वक घोषित किया कि केवल वैदिक धर्म ही सर्वदेशिक है और सत्य भी। इस प्रकार उन्होंने वैदिक धर्म की पुनः स्थापनार्थ लड़ाकू भारत की धारणा को बल दिया। उन्होंने कहा 'वेदो के युग में लौटो'। इस प्रकार उन्होंने भारत में नवजागरण की ज्वाला उत्पन्न की। शीघ्र ही उनके नवजागरण के सन्देश ने भारत में राष्ट्रवादी भावनाओं को पल्लवित करना आरम्भ कर दिया। स्वामी दयानंद सरस्वती ने विविध राजनीतिक विषयों पर अपने विचार रखें जिसे निम्न शीर्षकों में समेत जा सकता है :

11 .4.1 राष्ट्रवाद

दयानंद तकनीकी अर्थ में एक राजनीतिक दार्शनिक नहीं थे । उन्होंने राजनीतिक सिद्धांत के संग्रह में किसी क्रमबद्ध ग्रंथ की रचना नहीं की किंतु अपनी रचनाओं और कभी- कभी निजी वार्तालाप के दौरान उन्हें राजनीतिक विचार अवश्य व्यक्त किए हैं। उनकी रचना सत्यार्थ प्रकाश और ऋग्वेद आदिभाष्य भूमिका दोनों में 11 अध्याय ऐसे है जिसमें राजनीतिक विचारों की व्याख्या की गई है।

स्वामी दयानंद सरस्वती ने सदैव इस बात पर बल दिया है की आंतरिक महत्ता बाह्य प्रमुखता की अपरिहार्य शर्त है। दयानंद का आत्मिक जीवन एक ओर राष्ट्रवाद को मजबूत करता है वहीं दूसरी और राष्ट्रवाद से भी अधिक एकात्मकता का संदेश देता है। उनके अनुसार कर्मांत और वेदांत का सम्मान केवल मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन को उन्नत बनाता है बल्कि राष्ट्र के लिए सर्वाधिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त करती है । दयानंद ने राष्ट्रवाद को स्वदेशी एवं भारतीय अभिमुखीकरण प्रदान किया । उनका राष्ट्रवाद पश्चिमी राष्ट्रवाद का

अनुकरण मात्र नहीं है । दयानंद ने अपने दृष्टिकोण द्वारा भारतीयों को प्रथम बार यह अनुभव करने के लिए विवश किया है कि वे गौरवपूर्ण परंपरा के उत्तराधिकारी हैं । दयानंद ने स्वयं के धर्म, गौरवपूर्ण संस्कृति एवं स्वयं की भाषा द्वारा ही राष्ट्र के विकास का मार्ग दिखाया । स्वामी दयानंद सरस्वती प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने स्वराज की नई अवधारणा प्रदान की और यह उद्घोष किया कि सुराज कभी स्वराज का स्थान नहीं ले सकता। उन्होंने संपूर्ण राष्ट्र के लिए संपर्क भाषा के रूप में सर्वप्रथम एक भाषा हिंदी को स्वीकार किया तथा राष्ट्रीय चेतना को जगाया । उनका मानना था कि हमारे दुर्भाग्य, आलस्य, आंतरिक फूट , दूसरे देशों से संबंध में बात न करने के कारण भारत में आर्यों की स्वयं की स्वतंत्र एवम भयमुक्त सरकार नहीं रही। उनका मानना था कि चाहे दूसरे लोग कितना भी अच्छा साधन क्यों न करें , स्वशासन ही सर्वश्रेष्ठ शासन है।

'स्वशासन' तथा 'स्वराज्य' की पुकार सर्वप्रथम महर्षि दयानन्द के द्वारा उठाई गई थी। उन्होंने यह उद्घोष उस समय किया था जब कोई भी व्यक्ति यह साहस नहीं कर सकता था कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध कुछ कहे। उनका यह शक्तिशाली तथा निर्भीक कथन था "विदेशी सरकार चाहे सब में प्रकार से धार्मिक, पक्षपातों से मुक्त तथा देशी व विदेशी लोगों के प्रति निष्पक्ष ही क्यों न हो, लोगों को पूर्ण रूप से प्रसन्नता प्रदान नहीं कर सकती। स्वामी जी के ये सभी विचार राष्ट्रवादी थे। भारत पर गर्व करो, प्राचीन वैदिक संस्कृति का अनुसरण करो तथा भारत को फिर से उन्नत करने का प्रयास करो।" इन्हीं विचारों का स्वामी दयानन्द ने सम्पूर्ण जनता में प्रचार किया जिससे लोगों के मन में विदेशी शासन के प्रति आक्रोश उत्पन्न हुआ और आगे चलकर स्वतन्त्रता आन्दोलन के लिए पृष्ठभूमि तैयार हुई। राष्ट्रीय चेतना की भावना को जागृत करने में भारत के प्राचीन वैभव एवं शौर्य के प्रति जनता को शिक्षित करके स्वामी दयानन्द ने महत्वपूर्ण कार्य किया था। वेलेटाइन शिरोल ने इस तथ्य को स्वीकार किया है। कि स्वामी दयानन्द की शिक्षाएं महान् राष्ट्रवाद से ओत प्रोत थी। उनका यह कथन स्मरणीय है: "दयानन्द की शिक्षाओं का महत्वपूर्ण प्रवाह हिन्दूवाद को सुधारने की अपेक्षा इसे सक्रिय विरोध के क्रम में रखना था जिससे कि यह विदेशी प्रवाहों को रोक सके जो कि उनके विचार में इसे अराष्ट्रीय बनाने की धमकी दे रहे थे। मुस्लिमकाल में हिन्दू धर्म पर अत्याचार तथा उसका विनाश, 1857 के स्वतन्त्रता संग्राम की असफलता के पश्चात् की दशा तथा ईसाई धर्म प्रचारकों के कार्य कलाप और शासन की ओर से उनकी सहायता के फलस्वरूप समाज और धर्म की जो हानि हो रही थी उसे देखकर स्वामी जी ने अनुभव किया कि धर्म ही सब प्रकार की विपत्तियों से रक्षा कर सकता है, अत उनके धार्मिक पुनर्जागरण के प्रयास में राष्ट्रीय पुनर्जागरण का दूरगामी प्रभाव भी था। उनके विचार से पारस्परिक फूट, शिक्षा की कमी, जीवन में शुद्धता का अभाव, धर्म से विमुखता तथा अन्य धार्मिक कुरीतियों के कारण भारत का पतन हुआ था।

भारतीय राष्ट्रवाद को स्वामी दयानंद सरस्वती ने सर्वप्रथम नई दिशा प्रदान की। उन्होंने भारतीयों की हृदय में स्वधर्म और स्वदेश के प्रति स्वाभिमान उत्पन्न करने और देश में नवजागरण फूटने का महान कार्य किया। भारत के निराशाजनक और अवसाद ग्रस्त समय में हिंदू पुनरुत्थान बाद के महान प्रवक्ता थे जिन्होंने देश वासियों को अपने देश के धर्म संस्कृति और गौरवपूर्ण अतीत की ओर ध्यान आकर्षित किया। स्वामी दयानंद सरस्वती का विचार था कि आत्मविश्वास के अभाव में स्वराज कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में दयानंद ने भारत के गौरव पूर्ण अतीत के खोए हुए आत्मविश्वास को जगाया । उनका मानना था कि भारतीय राजनीतिक रूप से जागरूक और शक्तिशाली हो तो स्वराज प्राप्ति में समय नहीं लगेगा । स्वदेशी, स्वभाषा एवं स्वराज की अवधारणाओं का भारतीय राजनीति में प्रयोग करने वाले प्रथम विचारक स्वामी दयानंद सरस्वती थे। वे उस राष्ट्रवादी परंपरा के जनक थे, जिसका चरमोत्कर्ष लोकमान्य तिलक, बिपिन चंद्र पाल, महर्षि अरविंद और लाला लाजपत राय में देखते हैं।

11 .4.2 प्रबुद्ध राजतन्त्र

स्वामी दयानंद सरस्वती के राजनीतिक दर्शन में मनुस्मृति और वेदों के विचारों का समन्वय देखने को मिलता है । मनुस्मृति से उन्होंने राजतंत्र का सिद्धांत ग्रहण किया। उन्होंने एक ऐसे दिग्विजय राजा की आदर्श का समर्थन किया , जो धर्म के अनुसार और मंत्रियों के सहयोग से शासन करता है । दयानंद ने राजतंत्र का समर्थन किया लेकिन उनका राजतंत्र कोई निरंकुश राजतंत्र नहीं है । इसमें राजा पर धर्म और मंत्रियों का पूरा अंकुश है और वह मनमानी नहीं कर सकता। इस प्रकार वेदों में वर्णित राजा के निर्वाचन को उन्होंने स्वीकार किया है और यह माना है कि सभा में से योग्यतम व्यक्ति को ही राजा चुना जाए।

वैदिक संस्कृति की मान्यता के अनुसार दयानंद सरस्वती ने यह स्वीकार किया कि राजनीतिक सत्ता की आध्यात्मिक एवं नैतिक सत्ता की सहायता से कार्य किया जाना चाहिए, तभी राज्य कार्य उचित प्रकार से संभव है। उन्होंने राजनीति और नैतिकता को कभी अलग नहीं माना। दयानंद के अनुसार शासक और शासन के लिए सर्वोपरि लक्ष्य मानव कल्याण है और इसके अभाव में शासन का कोई अर्थ नहीं है । दयानंद ने धर्म को इतना महत्वपूर्ण माना है कि धर्मनिरपेक्षता पर आधारित राष्ट्र को भी स्वीकार नहीं कर सके।

मनुस्मृति के दर्शन से प्रेरित स्वामी दयानंद ने राजा के निश्चित गुणों की अनिवार्यता के प्रति संकेत करके राजतंत्र को मर्यादित किया और उसे जन शिक्षा को सम्मान देते हुए राज्य का चलाने की प्रेरणा देकर राजतंत्र को प्रबुद्ध अथवा जागरूक बनाया । दयानंद धर्म को संकेत नहीं बल्कि उदात्त रूप में ग्रहण किया और मानव धर्म में आस्था रखते हुए समानता और न्याय का पोषण किया। लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था के बीज़ दयानंद ने वेदों से ग्रहण किए जिसमें राजाओं के चुनाव का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

11 .4.3 लोकतंत्र

दयानंद सरस्वती ने सर्वप्रथम प्रजातांत्रिक शासन पद्धति के आधार पर आध्यात्मिकता से परिपूर्ण धर्म और संस्कृति की आधारशिला रखते हुए राष्ट्रीयता के सुंदर , सुदृढ़ एवं अजेय दुर्ग के निर्माण की अभूतपूर्व योजना बनाई थी। दयानंद ने लोकतंत्र को वर्ग विशेष या जाति विशेष का समर्थक नहीं बनाया बल्कि तथाकथित दलितों के लिए भी उसके द्वार खोल दिए। स्वामी दयानंद का लोकतंत्र व्यक्ति की उपेक्षा नहीं करता बल्कि व्यक्ति को स्वतंत्र विकास का अवसर प्रदान करता है। उनके अनुसार राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के लिए है न कि व्यक्ति का अस्तित्व राज्य के लिए। उन्होंने शासन के तीन प्रमुख अंग- धर्मार्थ सभा, विदयार्थ सभा और राज्यार्थ सभा स्वीकार किए हैं और तीनों के संगठन का आधार निर्वाचन को माना है। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उस लोकतंत्र के निर्माण, स्वरूप, शासन तथा न्याय सम्बन्धी धारणाओं की विवेचना की है जिसकी वे भारत में स्थापना करना चाहते थे। वह उनका आदर्श लोकतन्त्र था। स्वामी दयानन्द सरस्वती के चिन्तन, मनन और व्यवहार में वे तीन आदर्श समान रूप से देखे जाते हैं जिन पर वर्तमान लोकतंत्र आधारित है। वे हैं - स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जिस लोकतन्त्र की कल्पना की थी उसमें यह व्यवस्था है कि जनसाधारण स्वतन्त्रता को समान आधार पर भोग सके। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सभी उचित कार्यों के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता है। कोई शक्ति इसमें बाधक नहीं हो सकती। स्वामी जी ने एकाधिकारवाद एवं विशेषाधिकारवाद की प्रवृत्तियों को स्वीकार नहीं किया जिससे कि समानता आ सके। उनका लोकतंत्र प्रत्येक वर्ग, वर्ण, धर्म, जाति तथा लिंग के लिए मान है और उसमें यह नितान्त आवश्यक है कि समानता के आदर्श पर सभी आचरण करें। स्वामी दयानन्द सरस्वती भ्रातृत्व की भावना को आवश्यक मानते थे जिससे सामाजिक जीवन गतिशील बना है। उनके लोकतन्त्र के प्रारूप का मूल स्रोत 'मनुस्मृति' है जिसकी शिक्षा के अनुसार ही उन्होंने यह व्यवस्था रखी है कि राज्य व्यवस्था में सभासदों तथा मन्त्रियों का आचरण मर्यादित हो। नैतिकता के आधार पर धार्मिक मान्यताओं का समर्थन भी 'मनुस्मृति' के अनुकूल ही है।

11 .4.4 ग्राम प्रशासन

स्वामी दयानंद सरस्वती ने प्रजातांत्रिक आदर्शवाद से प्रेरित होकर ग्राम प्रशासन की परिकल्पना की थी। सत्यार्थ प्रकाश में दयानंद ने ग्राम प्रशासन का विस्तृत वर्णन किया है जिसमें लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण, जनता द्वारा पहल, प्रशासन पर जनता का नियंत्रण और जनसभा जैसे प्रशासनिक सिद्धांतों का समन्वय दिखाई देता है। स्वामी दयानंद द्वारा प्रतिपादित ग्राम प्रशासन पर्याप्त सुनियोजित और वैज्ञानिक प्रतीत होता है जिसमें शक्ति का उचित प्रकार से प्रत्यायोजन किया गया है, जिससे शासन सुचारू रूप से चलाई जा सके।

स्वामी दयानन्द सरस्वती देश में ग्राम पंचायतों के समर्थक थे। उन्होंने महर्षि मनु द्वारा प्रतिपादित ग्राम प्रशासन व्यवस्था को उचित माना और तत्सम्बन्धी श्लोकों को उद्धृत करते हुए कहा 'एक'-एक ग्राम में एक प्रधान पुरूष को रखें। उन्ही देश ग्रामों के ऊपर दूसरा, उन बीस ग्रामों के ऊपर तीसरा, उन सौ ग्रामों के ऊपर चौथा, और उन्हीं सहस्र ग्रामों के ऊपर पाँचवा पुरूष रक्खे अर्थात् जैसे एक ग्राम में एक पटवारी, उन्हीं दश ग्रामों में एक थाना, दो थानों पर एक बड़ा थाना, पाँच थानों पर एक तहसील, दश तहसीलों पर एक जिला नियत किया गया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती का चिन्तन स्थानीय शासन के विषय में ऐसा था। इसे न्यूनाधिक रूप में हमारे संविधान में अपनाया गया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती इस व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए आगे व्यवस्था देते हैं कि एक-एक ग्रामों का पति ग्रामों में नित्यप्रति जो जो दोष उत्पन्न हों, उन उनको गुप्तता से देश ग्राम के पति को विदित कर दें, और वह दश ग्रामाधिपति उसी प्रकार बीस ग्राम के स्वामी को दश ग्रामों का वर्त्तमान नित्यप्रति जना देवे, और बीस ग्रामों का अधिपति बीस ग्रामों के वर्त्तमान को शत ग्रामाधिपति को नित्यप्रति निवेदन करे, वैसे सौ-सो ग्रामों के पति आप सहस्राधिपति अर्थात् हजार ग्रामों के स्वामी को सौ-सौ ग्रामों के वर्त्तमान को प्रतिदिन जनाया करे और बीस बीस ग्राम के पाँच अधिपति सौ सौ ग्राम के अधिपति को और वे सहस्र-सहस्र के दश अधिपति दशसहस्र के अधिपति को और वे दश दश हजार के दश अधिपति लक्ष ग्रामों की राजसभा को प्रतिदिन का वर्त्तमान जनाया करें, और वे सब राजसभा महाराज सभा अर्थात् सार्वभौम चव्रफवर्ती महाराज सभा में सब भूगोल का वर्तमान जनाया करें, और एक एक दश हजार ग्रामों पर दो सभापति वैसे करें, जिनमें एक राजसभा में और दूसरा अध्यक्ष आलस्य छोड़कर सब न्यायाधीशादि राजपुरूषों के कामों को सदा घूमकर देखते रहें। बड़े-बड़े नगरों में एक-एक विचार करने वाल सभा का सुन्दर उच्च और विशाल जैसा कि चन्द्रमा है, वैसा-एक एक घर बनावें, उसमें बड़े-बड़े विद्यावृद्ध कि जिन्होंने विद्या से सब प्रकार की परीक्षा की हो, वे बैठकर विचार किया करें। जिन नियमों से राजा व प्रजा की उन्नति हो, वैसे वैसे नियम और विद्या प्रकाशित किया करें।''

11 .4.5 ईश्वरीय विधि की श्रेष्ठता

स्वामी दयानंद सरस्वती ने ईश्वर की अतिरिक्त किसी अन्य शक्ति की सत्ता को स्वीकार नहीं किया । निजी जीवन में दयानंद को अराजकतावादी माना जा सकता है परंतु अराजकतावादियों के समान उन्होंने कभी राज्य विहीन समाज की चर्चा नहीं की और ना ही राज्य के विनाश के कल्पना की । वे एक सन्यासी थे , अतः उनका निजी जीवन या व्यक्ति के जीवन में ईश्वर की सत्ता की सर्वोच्चता का प्रतिपादन करना स्वाभाविक ही था। यदि ईश्वरीय विधि और राजनीतिक सत्ताधारी की विधि में किसी एक को पालन करने का निर्णय करना पड़े तो दयानंद बिना किसी शर्त के इस पर यह विधि का अनुगमन करेंगे क्योंकि ईश्वर के सार्वभौम प्रभुत्व को स्वीकार करते थे और उसके प्रति भक्ति को सर्वोच्च मानते थे। वे मानते थे कि ईश्वर हमारा

राजा है और हम ईश्वर की प्रजा है। स्वामी दयानंद सरस्वती दैविक नियमों की श्रेष्ठता में विश्वास रखते थे। उन्होंने दैवी सत्ता के अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता को अपने व्यक्तिगत जीवन में महत्व नहीं दिया लेकिन सामाजिक जीवन में राज्य के महत्व में विश्वास प्रकट करते हुए उन्होंने कहा कि बिना राज्य के किसी प्रकार के समाज में व्यवस्था नहीं रह सकती।

11 .4.6 सापेक्ष अहिंसा का सिद्धांत

स्वामी दयानंद सरस्वती अहिंसा के निरपेक्षता के सिद्धांत में संशोधन करते हैं। उनका मानना है कि जिस प्रकार ईश्वर पापियों को दंडित करते हैं, उसी प्रकार से अपराधी को भी दंड देने का राज्य को पूर्ण अधिकार है। इसमें कुछ भी अनुचित नहीं है। दयानंद ने सार्वजनिक जीवन में उचित हिंसा के सिद्धांत का समर्थन किया तथा व्यक्तिगत जीवन में अहिंसा के उच्चतम स्वरूप को बनाया। इसलिए उन्होंने उस व्यक्ति को जिसने उन्हें जहर भी दे दिया था , स्वयं वहां से भाग जाने के लिए कहा, जिससे कि उसे कोई हानि न पहुंचे। यह ईश्वर के समान क्षमाशीलता और उच्च अहिंसा का अद्भुत उदाहरण है। स्वामी दयानंद सरस्वती ने अहिंसा की एक व्यावहारिक धारणा प्रस्तुत की। उन्होंने सापेक्ष अहिंसा को व्यावहारिक मानते हुए राजनीतिक मामलों में दंड व्यवस्था की अनिवार्यता को स्वीकार किया। उनके अनुसार अपराधियों को शारीरिक दंड मिलना ही चाहिए।

11 .4.7 वैदिक सार्वभौमवाद

स्वामी दयानंद सरस्वती भारतीय राष्ट्रवाद की प्रबल समर्थक थे परंतु एक राष्ट्र तक ही सीमित नहीं थे। उन्होंने सर्वधर्म सभा का आयोजन किया और हिंदू- मुस्लिम एकता पर बल दिया था। इससे यह प्रमाणित होता है कि धार्मिक एकता के आधार पर विश्व की एकता के उद्देश्य को प्राप्त करना चाहते थे। उनका यह अटूट विश्वास था कि सभी धर्मों का शांतिपूर्ण सह अस्तित्व संभव है। दयानंद ने यह अनुभव किया कि भारतीय समाज के दलित और गिरे हुए वर्गों का उद्धार करना सर्वोच्च और तात्कालिक आवश्यकता का विषय है। इस संसार में विशुद्ध वैदिक धर्म का प्रचार किया जाए। वे विश्व बंधुत्व के आदर्श के महान समर्थक थे किंतु उनके अंतरराष्ट्रीयवाद में विश्व के रास्तों की राजनीतिक संघ की कोई कल्पना नहीं थी।

दयानंद धार्मिक एकता के आधार पर विश्व एकता के इच्छुक हैं और अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने देश के विभिन्न धार्मिक नेताओं से विचार विमर्श किए। दयानंद ने मानवता और विश्व बंधुत्व के प्रति अद्भुत लग्न थी और इसकी पूर्ति की दिशा में काम करने में उन्हें सदैव प्रसन्नता होती थी। उन्हें नैतिक और आध्यात्मिक जगत पर पूर्व और पश्चिम की एकता के निमित्त धर्म उपदेश देने से कभी कोताही नहीं की।

11 .5 स्वामी दयानन्द सरस्वती के सामाजिक विचार

स्वामी दयानन्द की गणना भारत के उन महान् पुरुषों में की जाती है जो हिन्दू जाति और हिन्दू राष्ट्र के पुनरुत्थान के लिए अवतरित हुए। उनका भारतीय इतिहास में वही स्थान है जो स्थान

महावीर, महात्मा बुद्ध एवं शंकराचार्य को प्राप्त है। वे एक महान् धर्म सुधारक, समाज सुधारक तथा निर्भीक सत्यवादी थे। सामाजिक पुनर्निर्माण के महान लक्ष्य को साधने के लिए स्वामी दयानंद सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना की। उन्होंने सामाजिक बुराइयों और कुरीतियों को समाप्त करने के लिए उन पर आक्रमण की नीति अपनाई । भारत में शायद ही कोई राजनीतिक धार्मिक या सामाजिक आंदोलन हुआ हो जो आर्य समाज का ऋणी ना हो । गंगा प्रसाद उपाध्याय के शब्दों में 'आर्य समाज पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण शक्ति के समान था, जो यद्यपि अदृश्य होती है तथापि उसने प्रत्येक आंदोलन को प्रभावित किया।

स्वामी दयानन्द के समय में भारत की राजनीति तथा सामाजिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। एक ओर विदेशी शासन के अन्तर्गत देशवासियों पर पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव स्थापित हो रहा था। दूसरी ओर हिन्दू समाज कुरीतियों एवं अन्ध विश्वासों का अखाड़ा बना हुआ था। इस विषय परिस्थिति में स्वामी दयानन्द ने भारतीय संस्कृति की रक्षा और प्राचीन गरिमा को पुनः स्थापित करने के लिए सब कुछ लगा दिया। उन्होंने अन्धविश्वास तथा पाखण्डवाद के विरुद्ध जबरदस्त आन्दोलन प्रारम्भ किया। स्वामी दयानन्द वैदिक धर्म के कट्टरता की सीमा तक 'अनुयायी थे। फिर भी कभी उन्होंने कुप्रथाओं का समर्थन नहीं किया। वे हमेशा समाज में फैली कुप्रथाओं का विरोध किया करते थे। वे बाल-विवाह, दहेज प्रथा, बलात वैधव्य जैसी प्रथाओं का कट्टर विरोध करते थे। धर्म सुधार के अतिरिक्त समाज सुधार के क्षेत्र में शिक्षा विशेषकर स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहित करने, स्त्री पुरुष समानता और ऊंच-नीच की समाप्ति एवं जाति प्रथा की समाप्ति के लिए उन्होंने वैचारिक क्रांति एवं सामाजिक परिवर्तन तथा पुन: रचना के मार्ग को हमेशा बढ़ावा दिया । वह समाज सुधार को राजनीतिक चेतना और राष्ट्रीयता के विकास के लिए अनिवार्य मानते थे।

भारतीय समाज की एक घातक समस्या- जाति प्रथा- की कठोरता को समाप्त करने के लिए स्वामी दयानंद ने अथक प्रयास किए। उनका मानना था कि यदि कोई व्यक्ति ब्राह्मण होने योग्य नहीं है तो उसे या तो उसकी जाति से वंचित कर देना चाहिए या उसे उस अपेक्षित स्तर को प्राप्त करना चाहिए। स्वामी दयानंद की शिक्षा में बुद्ध एवं शंकर दोनों का समन्वय है। जहां गौतम बुद्ध ने समानता पर आधारित संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था की समाप्ति का प्रयत्न किया, वही दयानंद ने प्राचीन वर्ण व्यवस्था को सुरक्षित रखते हुए विकृत जाति व्यवस्था की समाप्ति का प्रयास किया है। वे दहेज प्रथा को निर्मूल नष्ट करना चाहते थे तथा इस प्रथा को समाज के लिये अभिशाप बताया करते थे। वे विधवा पुनर्विवाह का समर्थन किया करते थे।

दयानन्द के काल में दलित वर्ग को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपमान और घुटन के वातावरण में रहना पड़ता था। उन्हें समाज में स्वतन्त्र अस्तित्व अथवा व्यक्तित्व के रूप में मान्यता प्राप्त नहीं थी। बल्कि उन्हें हीन समझा जाता था। उन्हें मन्दिरों में जाने नहीं दिया जाता था और ना ही उन्हें वेद अध्ययन के योग्य माना जाता था। दयानन्द ने इसे पंडितों और ब्राह्मणों का पाखण्ड जाल बताया। वे कहा करते थे कि जैसे परमात्मा ने सभी प्राकृतिक वस्तुयें समान रूप से प्रत्येक मनुष्य को प्रदान की है, उसी प्रकार वेद सबके लिए प्रकाशित हैं। वे जाति के आधार पर शुद्र नहीं मानते थे किन्तु वे कहते थे, जिसे पढ़ना-पढ़ाना न आये, वह निबुद्धि और मूर्ख होने से शूद्र है। इस व्याप्त जाति प्रथा के कारण ही हिन्दू समाज असंगठित एवं शक्तिविहीन है। समाज को सशक्त और उन्नत बनाने हेतु जाति प्रथा एवं अस्पृश्यता को नष्ट करना ही होगा।

यद्यपि स्वामी दयानन्द जातिवाद तथा अस्पृश्यता 'आदि कुप्रथाओं के कट्टर विरोधी थे तथापि वे वर्णाश्रम के समर्थक थे। वर्णाश्रम व्यवस्था के समर्थक होने पर भी प्रचलित वर्णाश्रम व्यवस्था का विरोध इस बात पर करते थे कि वर्ण कर्म के आधार पर निश्चित किया जाना चाहिये न कि जन्म के आधार पर। वे कर्म के साथ-साथ गुणों एवं प्रकृति का भी ध्यान रखने को कहते थे। यह सर्वविदित है कि आर्य समाज वर्णाश्रम व्यवस्था का इच्छित रूप प्राप्त नहीं कर सका परन्तु उसके बन्धनों को ढीला करने में अवश्य सफल हुआ।

स्वामी दयानन्द मूर्तिपूजा का विरोध किया करते थे तथा वे अंधविश्वास तथा पाखण्ड को मूर्तिपूजा के द्वारा ही जन्मा मानते थे। इसलिए वे मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी थे उनका कहना था— "यद्यपि मेरा जन्म आर्यावर्त में हुआ है और मैं यहाँ का निवासी भी हूँ.......''परन्तु मैं पाखण्ड का विरोधी हूँ और यह मेरा व्यवहार अपने देशवासियों तथा विरोधियों के साथ समान है। मेरा मुख्य उद्देश्य मानव जाति का उद्धार करना है।" वे इस पर प्रकाश डालते हुए आगे कहते हैं कि वेदों में मूर्तिपूजा की आज्ञा नहीं है। अतःउनके पूजन में आज्ञा-भंग का दोष है। इसलिये इसे मैं धर्म विरोधी कृत्य मानता हूँ।

स्वामी दयानंद सरस्वती ने प्राचीन भारतीय मूल्यों की स्थापना हेतु अधिकाधिक प्रयास किए। उनके पुनरुत्थान बाद में सभी मध्यकालीन अंधविश्वासों, कुरीतियों, रूढ़ियों एवं अज्ञान से लोहा लिया । उन्होंने भारत वासियों की मानसिक परतंत्रता को समाप्त कर दिया ताकि वे स्वतंत्रता की दिशा में अग्रसर हो सके। दयानंद शानदार सपनों के स्वप्न दृष्टा थे जिनके पास अंधविश्वासों से मुक्त भारत की दृष्टि थी जो ईश्वर भक्ति और विज्ञान से युक्त हो तथा जो स्वशासन के लिए उपयुक्त हो।

स्वामी दयानन्द को भारतीय समाज में नारी की गिरती हुई स्थिति में व्यथित कर दिया। वे नारी के उत्थान के लिये वेदों में निहित इस श्लोक को दोहराया करते थे— **"यत्र नार्यस्तु, पूजयन्ते रमन्ते तत्र देवता।"** अर्थात् "जहाँ नारी की पूजा है, वहाँ देवता निवास करते हैं।" उन्होने पर्दा प्रथा, अशिक्षा, तथा नारी की उपेक्षित और विपन्न होती स्थिति का घोर विरोध

किया। उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज ने अनेक नगरों में आर्य कन्या स्कूलों की स्थापना की। इस प्रकार उन्होंने स्त्री शिक्षा का प्रचार एवं प्रसार किया। उन्होंने नारी को समान अधिकार दिलवाये। नारी से सम्बन्धित अनेक कुप्रथाओं के विरुद्ध आन्दोलन चलाकर आर्य समाज ने स्त्रियों को समाज में उच्च स्थान दिलवाया। इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने नारी उद्धार के लिए अनेक प्रयत्न किये।

स्वामी दयानन्द जी समाज के सर्वांगीण विकास के समर्थक थे। वे शिक्षा का ऐसा रूप चाहते थे जिससे बौद्धिक के साथ-साथ शारीरिक, मानसिक व आत्मिक विकास भी हो। इसलिए वे पाश्चात्य शिक्षा पद्धति के विरुद्ध थे। वे व्यवस्था पर जोर देते वे अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा के समर्थक थे। गुरुकुल शिक्षा वे स्वयं गुजराती होते हुए भी आर्य भाषा के समर्थक थे। इसलिए उन्होंने अपनी समस्त रचनायें आर्य भाषा में कीं। एक बार उन्हें पुस्तकों के अनुवाद अन्य भाषा में कराने को कहा गया जिससे आर्य भाषा न जानने वालों को भी लाभ पहुँचे। उन्होंने आर्य भाषा की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा है— "अनुवाद तो विदेशियों के लिये हुआ करता है। नागरी के थोड़े से अक्षर थोड़े दिनों में सीखे जा सकते हैं। जो आर्य भाषा सीखने में थोड़ा भी श्रम नहीं कर सकता, उससे और क्या आशा की जा सकती है? उसमें धर्म की लगन है, इसका क्या प्रणाम है? आप तो अनुवाद की सम्मति देते हैं, परन्तु दयानन्द के नेत्र तो वह दिन देखना चाहते हैं जब काश्मीर से कन्याकुमारी तक, अटक से कटक तक नागरी अक्षरों का प्रचार होगा। मैंने आर्यावर्त भर में भाषा के सभ्य सम्पादन के लिये ही अपने सफल ग्रन्थ आर्य भाषा में लिखे और प्रमाणित किये हैं।" इस प्रकार दयानन्द जी ने भविष्य पर दृष्टि रखते हुए हिन्दी को मातृभाषा के रूप में अपनाया।

इस प्रकार दयानन्द एक महान् समाज सुधारक, देशभक्त तथा ईश्वरीय दूत के रूप में प्रकट हुए। स्पष्टतः दयानन्द उच्च श्रेणी के निर्भीक दूत एवं समाज सुधारक थे।

11 .6 स्वामी दयानन्द सरस्वती के शिक्षा संबंधी विचार

स्वामी दयानंद सरस्वती आध्यात्मिक चिंतक, धर्म सुधारक एवं समाज सुधारक थे। वे प्लेटो और अरस्तू की भांति राजनीतिक विचारक या चिंतक नहीं थे। वे नेहरू के समान एक राजनीतिज्ञ भी नहीं थे । उनका जीवन राजनीतिमय नहीं था। राजनीति उनके लिए कभी प्रमुख नहीं रही परंतु समग्र जीवन चिंतन में राजनीति को पृथक नहीं किया जा सकता। अतः राजनीतिक विचारों का निर्माण दार्शनिक आधार पर ही हुआ। दयानंद सरस्वती एकेश्वरवादी ,मूर्ति पूजा विरोधी और निराकार पूजक थे । उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण रूप हिंदू पुनरुत्थानवादी के रूप में स्पष्ट होता है। जिस समय संपूर्ण भारत अंग्रेजों का मानसिक गुलाम बन चुका था, उन्होंने भारतीय सभ्यता और संस्कृति के गौरव में अतीत का स्मरण दिला कर 'वेदों की ओर लौट चलो' का मूल मंत्र प्रदान किया। उन्होंने आध्यात्मिकता और वैज्ञानिकता का समन्वय कर आत्मा के ज्ञान को बताया बल्कि सम्यक कर्म को भी आवश्यक समझा।

दयानंद ने स्वयं के धर्म, गौरवपूर्ण संस्कृति एवं स्वयं की भाषा द्वारा ही राष्ट्र के विकास का मार्ग दिखाया। उन्होंने संपूर्ण राष्ट्र के लिए संपर्क भाषा के रूप में सर्वप्रथम एक भाषा हिंदी को स्वीकार किया तथा राष्ट्रीय चेतना को जगाया। उनका मानना था कि हमारे दुर्भाग्य, आलस्य, आंतरिक फूट , दूसरे देशों से संबंध में बात न करने के कारण भारत में आर्यों की स्वयं की स्वतंत्र एवम भयमुक्त सरकार नहीं रही। स्वदेशी, स्वभाषा एवं स्वराज की अवधारणाओं का भारतीय राजनीति में प्रयोग करने वाले प्रथम विचारक स्वामी दयानंद सरस्वती थे।

11 .7 स्वामी दयानन्द सरस्वती का योगदान

स्वामी दयानंद सरस्वती आर्य समाज के संस्थापक, महान चिंतक, समाज-सुधारक और देशभक्त थे। इन्होंने बाल विवाह, सती प्रथा जैसी कुरीतियों को दूर करने में एक अहम भूमिका निभाई थी। एक सन्यासी और महान चिन्तक के रूप में जाने जाने वाले स्वामी जी ने कर्म सिद्धान्त, पुनर्जन्म, ब्रह्मचर्य तथा सन्यास को अपने दर्शन के चार स्तम्भ बनायें। उन्होंने ही सबसे पहले 1876 में 'स्वराज्य' का नारा दिया जिसे बाद में लोकमान्य तिलक ने आगे बढ़ाया। इन्होंने ही सन् 1876 में स्वराज के लिए भारत के लिए भारतीयों यानी India For Indians को शुरू किया था जिसे बाद में लोकमान्य तिलक द्वारा चलाया गया। स्वामी दयानंद सरस्वती ने वेदों को सर्वोच्च माना। साथ ही वेदों का प्रमाण देते हुए समाज में कई कुरीतियों का कड़ा विरोध भी किया। ऐसा कोई क्षेत्र नहीं बचा जिसे स्वामी दयानन्द से कुछ प्राप्त न हुआ हो और प्रत्येक को जो प्राप्त हुआ वह इस महान् ही था। धर्म की और ही उनका ध्यान सर्वप्रथम गया था। इस क्षेत्र में उनकी तीन महान् देन थीं। रूढ़ियों एवं कुप्रथाओं का विरोध, वैदिक धर्म की सर्वश्रेष्ठता की स्थापना तथा धर्म के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीयता का समर्थन। सामाजिक क्षेत्र में स्वामी जी ने जातीय भेदभाव ऊंच नीच की भावना तथा बाल विवाह जैसी कुरीतियों का घोर विरोध किया। उन्होंने प्रयत्न किया कि नारी जाति शिक्षित हो तथा गरिमामय बने। राजनीति के क्षेत्र में उन्होंने बहुत कुछ किया। श्री अरविन्द घोष का कथन -"उनमें स्वामी दयानन्द में राष्ट्रीयता की भावना थी। उस अनुभूति को उन्होंने राष्ट्रीय भावना के सन्दर्भ में ज्योतिमर्य बना दिया। उनकी कृतियाँ भले ही वह कितनी भी मान्यताओं से भिन्न हों, वास्तव में राष्ट्रीय भावना को समर्पित है।" स्वराज्य की भावना के सर्वप्रथम प्रचारक वे ही थे। उन्होंने स्वदेशी वस्तुओं का आन्दोलन चलाया उससे राष्ट्रीय भावना का सम्पूर्ण भारत में प्रसार हुआ। राजनीतिक के क्षेत्र में उनकी यह सब देन महानतम् हैं।

बम्बई में आर्य समाज की स्थापना 11 अप्रैल, 1875 को करके स्वामी दयानन्द ने बहुत ही महत्वपूर्ण एवं दूरदर्शिता का कार्य किया। उनके पश्चात् भी यह संस्था उनके विचारों का सर्वत्र प्रचार कर रही है तथा उन्हें कार्यरूप में परिणत कर रही है। यह संस्था आज भी भारतीय समाज को जागृत रखने का महत्वपूर्ण कार्य उत्तरदायित्व के साथ कर रही है। स्वामी की इन दोनों को ध्यान में रखे तो हमें यही अनुभव होता है कि स्वामी जी वास्तव में एक महान्

सुधारक, धर्म रक्षक, देश भक्त ईश्वरीय दूत थे। जवाहरलाल नेहरू ने अपनी पुस्तक 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' में लिखा है "आन्तरिक रूप से यह एक सुधारवादी आन्दोलन था तथा बाह्य रूप से आक्रमणों से बचने के लिए एक रक्षात्मक संगठन था।" रोम्मां रोलां ने भी आर्य समाज के कार्य का सच्चा विश्लेषण करते हुए उसे उचित रूप से बहुत सराहा है। उनके अनुसार, "आर्य समाज उस समय राष्ट्रीय पुनर्जागरण एवं राष्ट्रीय चेतना के महत्वपूर्ण कार्य में महत्वपूर्ण शक्ति थी। स्वामी जी ने राष्ट्रीय संगठन एवं पुनर्निर्माण के लिए यह एक महान कार्य किया। उनके आर्य समाज ने 1905 के बंगाली राष्ट्रवादी आन्दोलन का मार्ग प्रशस्त किया।"

अभ्यास प्रश्न

1. 'सत्यार्थ प्रकाश' किसकी रचना है ?
2. आर्य समाज की स्थापना कब हुई ?
3. किसने कहा था 'वेदो के युग में लौटो'?
4. स्वदेशी, स्वभाषा एवं स्वराज की अवधारणाओं का भारतीय राजनीति में प्रयोग करने वाले प्रथम विचारक कौन थे?
5. स्वामी दयानंद सरस्वती के बचपन का नाम क्या था ?

11 .8 सारांश

स्वामी दयानंद सरस्वती ने भारत की गौरवपूर्ण अतीत को आलोकित किया और देशवासियों को अपनी पतित अवस्था से ऊपर उठकर भविष्य की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा दी। वह आधुनिक भारत के सबसे महान ऐसे पथ-निर्माता माने जाने जाते हैं, जिसने जातियों, उपजातियों, छुआछूत, आदि के बीहड़ वनों को चीर कर भारत के पतन-काल में ईश्वराधना, देश-भक्ति तथा मानव सेवा का सहज मार्ग बताया। इन्होंने तीक्ष्ण दृष्टि और दृढ़ संकल्प के साथ कोटिशः भारतीयों को आत्म सम्मान तथा मानसिक चेतना को उद्बुद्ध भी किया। दयानन्द जी ने देशवासियों में राष्ट्रवाद का संदेश ऐसे समय में दिया जबकि भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की प्रधानता स्थापित हो गयी थी। दयानंद ने अपने दृष्टिकोण द्वारा भारतीयों को प्रथम बार यह अनुभव करने के लिए विवश किया है कि वे गौरवपूर्ण परंपरा के उत्तराधिकारी हैं । दयानंद ने स्वयं के धर्म, गौरवपूर्ण संस्कृति एवं स्वयं की भाषा द्वारा ही राष्ट्र के विकास का मार्ग दिखाया । स्वामी दयानंद सरस्वती प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने स्वराज की नई अवधारणा प्रदान की और यह उद्घोष किया कि सुराज कभी स्वराज का स्थान नहीं ले सकता। उन्होंने संपूर्ण राष्ट्र के लिए संपर्क भाषा के रूप में सर्वप्रथम एक भाषा हिंदी को स्वीकार किया तथा राष्ट्रीय चेतना को जगाया । उनका मानना था कि हमारे दुर्भाग्य, आलस्य, आंतरिक फूट , दूसरे देशों से संबंध में बात न करने के कारण भारत में आर्यों की स्वयं की स्वतंत्र एवम भयमुक्त सरकार नहीं रही। स्वदेशी, स्वभाषा एवं स्वराज की अवधारणाओं का भारतीय राजनीति में प्रयोग करने वाले प्रथम विचारक स्वामी दयानंद सरस्वती थे। वे उस राष्ट्रवादी परंपरा के जनक थे, जिसका

चरमोत्कर्ष लोकमान्य तिलक, बिपिन चंद्र पाल, महर्षि अरविंद और लाला लाजपत राय में देखते हैं।

11 .9 शब्दावली

राजतन्त्र : शासन की वह प्रणाली है जिसमें एक व्यक्ति वंशानुगत आधार पर शासन का सर्वेसर्वा होता है

अहिंसा : किसी भी प्राणी को तन, मन, कर्म, वचन और वाणी से कोई नुकसान न पहुँचाना।

निकाय – प्रजा के प्रतिनिधियों द्वारा परिचालित शासन व्यवस्था।

11 .10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. स्वामी दयानंद सरस्वती 2. 10 अप्रैल, 1875
3. स्वामी दयानंद सरस्वती 4. स्वामी दयानंद सरस्वती 5. मूल शंकर

11 .11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. वी.पी.वर्मा ,2004 , *आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन* , लक्ष्मी नारायण अग्रवाल , आगरा .
2. पी. के. चड्ढा एवं इन्द्रजीत सिंह सोढ़ी ,2007, *प्रमुख भारतीय राजनीतिक विचारक* , यूनिवर्सिटी बुक हाउस, जयपुर .
3. पुखराज जैन , 2012 ,*प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक* , एस.बी.पी.डी. पब्लिकेशन्स, आगरा .
4. अवस्थी एवं आर. के. अवस्थी ,1996, *भारतीय राजनीतिक चिन्तन*, रिसर्च पब्लिकेशन्स , जयपुर

11 .12 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. ए. अप्पादोराय , 2002, *पोलिटिकल थॉट इन इंडिया* , खामा पब्लिशर्स , दिल्ली.
2. ओ. पी. गाबा, 2005, *राजनीतिक विचारक विश्व कोश* , मयूर पेपर बैक , दिल्ली.
3. विष्णु भगवान, 2002 ,*भारतीय राजनीतिक विचारक* , आत्माराम एण्ड संस , दिल्ली.

11 .13 निबंधात्मक प्रश्न

1. स्वामी दयानन्द सरस्वती के राजनीतिक विचारों की समीक्षा कीजिए I
2. स्वामी दयानन्द सरस्वती के के सामाजिक विचारों का मूल्यांकन कीजिए।
3. स्वामी दयानन्द सरस्वती के शिक्षा संबंधी विचारों का विस्तार से वर्णन कीजिए।
4. स्वामी दयानन्द सरस्वती के योगदान की समीक्षा कीजिए।

इकाई 12 गोपाल कृष्ण गोखले

इकाई संरचना

12 .1 प्रस्तावना
12 .2 उद्देश्य
12 .3 गोपाल कृष्ण गोखले का जीवन परिचय
12 .4 गोखले की शिक्षा और बौद्धिक विकास
12 .5 राजनीतिक विचार और दर्शन
12 .6 सामाजिक सुधार संबंधी विचार
12 .7 आर्थिक नीति संबंधी विचार
12 .8 शैक्षणिक विचार
12 .9 स्वराज्य और राजनीतिक स्वतंत्रता संबंधी विचार
12 .10 विदेश नीति और अंतर्राष्ट्रीय संबंध संबंधी विचार
12 .11 गोखले का मूल्यांकन
12 .12 मध्यकालीन मूल्यांकन
12 .13 सारांश
12 .14 शब्दावली
12 .15 अभ्यास प्रश्न के उत्तर
12 .16 संदर्भ ग्रंथ सूची
12 .17 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
12 .18 निबंधात्मक प्रश्न

12 .1 प्रस्तावना

भारतीय राजनीतिक चिंतन का इतिहास अत्यंत समृद्ध और विविध है। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक भारत में ऐसे अनेक विचारक हुए हैं जिन्होंने राजनीति, समाज, अर्थनीति और शिक्षा के क्षेत्र में अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किए हैं। उन्नीसवीं शताब्दी और बीसवीं शताब्दी के आरंभ में भारत में जो राजनीतिक जागरण हुआ, उसमें अनेक महत्वपूर्ण विचारकों का योगदान रहा है। गोपाल कृष्ण गोखले इसी काल के एक प्रमुख और प्रभावशाली विचारक थे।

गोपाल कृष्ण गोखले का जन्म भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के एक महत्वपूर्ण काल में हुआ था। उस समय भारत में ब्रिटिश साम्राज्य अपने पूर्ण प्रभाव में था। ऐसी परिस्थिति में गोखले ने भारत के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक विकास के लिए अपने विचार और कार्य प्रस्तुत किए। वे न तो कट्टर राष्ट्रवादी थे और न ही पूर्ण रूप से साम्राज्यवाद के समर्थक थे। उन्होंने एक मध्यम मार्ग अपनाया जो व्यावहारिक और प्रगतिशील था।

गोखले के विचारों का प्रभाव केवल उनके समकालीन समाज पर ही नहीं पड़ा, बल्कि आधुनिक भारतीय राजनीति के विकास में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। महात्मा गांधी को गोखले का विशेष प्रभाव था और उन्हें गोखले से प्रेरणा मिली। गोखले की विदेश यात्रा, उनके सामाजिक सुधार के प्रयास, शिक्षा के प्रति उनकी समर्पण और राजनीतिक विचारों ने भारतीय चिंतन में एक नया आयाम जोड़ा है।

यह इकाई गोपाल कृष्ण गोखले के जीवन, उनके राजनीतिक विचारों, सामाजिक सुधार की योजनाओं, आर्थिक विचारों और शिक्षा संबंधी विचारों का एक व्यापक अध्ययन प्रस्तुत करेगी। इसके माध्यम से हम समझ सकेंगे कि गोखले ने भारतीय राजनीति में कौन से नए विचार और कार्य प्रणाली को प्रस्तुत किया और आधुनिक भारत के निर्माण में उनकी भूमिका क्या थी।

12 .2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप निम्नलिखित बातों को समझ सकेंगे:

1. गोपाल कृष्ण गोखले का जीवन परिचय, उनकी शिक्षा, परिवार का पृष्ठभूमि और उनके व्यक्तित्व का विकास कैसे हुआ, इसका विस्तृत ज्ञान प्राप्त करना।
2. गोखले के राजनीतिक विचारों को समझना और यह जानना कि वे राष्ट्रीय राजनीति में किस प्रकार का मार्ग अपनाते थे।

3. गोखले द्वारा प्रस्तावित सामाजिक सुधार की योजनाओं का अध्ययन करना और समझना कि वे समाज को कैसे बदलना चाहते थे।
4. गोखले की आर्थिक नीति संबंधी विचारों का विश्लेषण करना और यह समझना कि भारत के आर्थिक विकास के संबंध में उनके क्या विचार थे।
5. गोखले के शैक्षणिक विचारों का अध्ययन करना और शिक्षा के प्रति उनके दृष्टिकोण को जानना।
6. गोखले द्वारा प्रस्तावित स्वराज्य और राजनीतिक स्वतंत्रता संबंधी विचारों का अध्ययन करना।
7. गोखले के विदेश नीति और अंतर्राष्ट्रीय संबंध संबंधी विचारों को समझना।

12 .3 गोपाल कृष्ण गोखले का जीवन परिचय

गोपाल कृष्ण गोखले का जन्म 9 मई 1866 को महाराष्ट्र के रत्नागिरी जिले के गाथला गांव में हुआ था। उनका परिवार एक मध्यम वर्गीय ब्राह्मण परिवार था जहां शिक्षा और संस्कृति को विशेष महत्व दिया जाता था। उनके पिता का नाम कृष्ण राव गोखले था जो एक सामान्य व्यक्ति थे किंतु माता की शिक्षा और संस्कार का गोखले के व्यक्तित्व पर गहरा प्रभाव पड़ा। गोखले के बचपन से ही उनमें सीखने की ललक थी। वे एक मेधावी छात्र थे और उन्होंने अपनी प्रारंभिक शिक्षा पूणे में प्राप्त की। बाद में वे पूणे के डेक्कन कॉलेज में भर्ती हुए, जहां उन्होंने अपनी उच्च शिक्षा प्राप्त की। इसी कॉलेज में उन्हें महादेव गोविंद रानाडे जैसे महान शिक्षकों का मार्गदर्शन मिला जिन्होंने उनके विचारों को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। गोखले की शिक्षा के दौरान ही उन्होंने राजनीतिक और सामाजिक विचारों में रुचि दिखाई। वे महादेव गोविंद रानाडे के विचारों से प्रभावित हुए और धीरे-धीरे वे एक कुशल राजनेता और सामाजिक सुधारक के रूप में विकसित हुए। उन्होंने 1887 में डेक्कन कॉलेज से अपनी स्नातक की परीक्षा पास की और तत्पश्चात् विभिन्न शैक्षणिक संस्थानों में अध्यापन कार्य किया।

गोखले के जीवन का एक महत्वपूर्ण पहलू यह था कि वे एक समर्पित जनसेवक थे। उन्होंने अपने संपूर्ण जीवन को भारत के विकास और समाज सुधार के लिए न्यौछावर कर दिया। उनका व्यक्तिगत जीवन बहुत सादा और पवित्र था। वे विलासिता के विरोधी थे और सरलता में विश्वास करते थे। गोखले की राजनीतिक गतिविधियां 1889 के आसपास शुरू हुईं जब वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से जुड़े। वे कांग्रेस के एक सक्रिय सदस्य बने और धीरे-धीरे उसके महत्वपूर्ण नेताओं में से एक बन गए। उन्होंने कांग्रेस के विभिन्न सम्मेलनों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और अपने विचारों को प्रभावी ढंग

से प्रस्तुत किया। उनकी सार्वजनिक गतिविधियों में से एक महत्वपूर्ण कार्य था "सर्वेंट्स ऑफ इंडिया सोसाइटी" की स्थापना। यह संगठन सामाजिक सुधार और जनसेवा के लिए समर्पित था। इस संगठन के माध्यम से गोखले ने भारत के विभिन्न भागों में शिक्षा, स्वास्थ्य और सामाजिक कल्याण के कार्य किए। गोखले की अंतर्राष्ट्रीय ख्याति भी थी। वे एक विद्वान व्यक्ति थे जिन्होंने पाश्चात्य चिंतन का गहन अध्ययन किया था। उन्होंने 1905 और 1906 में इंग्लैंड की यात्रा की जहां उन्होंने ब्रिटिश राजनीतिज्ञों और विचारकों से मिलकर भारत की समस्याओं पर चर्चा की। इंग्लैंड की यात्रा से उन्हें भारतीय समस्याओं को अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में देखने का अवसर मिला।

गोखले का राजनीतिक जीवन बहुत गतिशील और प्रभावशाली रहा। वे भारत के प्रथम राष्ट्रवादी नेताओं में से एक थे जिन्होंने ब्रिटिश शासन के प्रति विरोध तो दिखाया किंतु हिंसा के विरुद्ध थे। वे संवैधानिक तरीकों से राजनीतिक परिवर्तन लाना चाहते थे। उनका मानना था कि शिक्षा, सामाजिक सुधार और आर्थिक विकास के माध्यम से भारत को शक्तिशाली बनाया जा सकता है। गोखले का व्यक्तिगत जीवन बहुत कठोर परिश्रम और समर्पण का उदाहरण था। वे स्वास्थ्य समस्याओं से ग्रस्त थे किंतु फिर भी उन्होंने अपने सामाजिक कार्यों को जारी रखा। उनकी मृत्यु 19 फरवरी 1915 को हुई जब वे केवल 49 वर्ष के थे। उनकी असामयिक मृत्यु भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के लिए एक बड़ी क्षति थी। गोखले की मृत्यु पर महात्मा गांधी ने कहा था कि "गोखले भारत के दक्षिण-पूर्व तारे (South Star) थे।" यह कथन उनके महत्व और प्रभाव को दर्शाता है। गोखले ने अपने जीवन में जो विचार प्रस्तुत किए, वे आज भी प्रासंगिक हैं और भारतीय राजनीति और समाज के विकास के लिए प्रेरणा प्रदान करते हैं।

12 .4 गोखले की शिक्षा और बौद्धिक विकास

गोपाल कृष्ण गोखले की शिक्षा का इतिहास अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि इसी के माध्यम से उनके विचारों का विकास हुआ। उनकी प्राथमिक शिक्षा पूणे के एक संस्कृत पाठशाला में हुई जहां उन्होंने हिंदू संस्कृति और परंपराओं का गहन अध्ययन किया। यह शिक्षा उनके व्यक्तित्व का एक महत्वपूर्ण अंग बनी और आजीवन उनके विचारों को प्रभावित करती रही। गोखले की माध्यमिक शिक्षा पूणे के राजा राम कॉलेज में हुई। यहां उन्होंने अंग्रेजी, गणित, इतिहास और अन्य विषयों का अध्ययन किया। इसी काल में उन्होंने पाश्चात्य ज्ञान और विचारों के संपर्क में आए। वे एक कुशल छात्र थे और उन्होंने अपनी कक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त किया।

गोखले की उच्च शिक्षा डेक्कन कॉलेज, पूणे में हुई। यह कॉलेज भारत के सबसे प्रतिष्ठित शैक्षणिक संस्थानों में से एक था। डेक्कन कॉलेज में गोखले को महादेव गोविंद रानाडे जैसे प्रख्यात शिक्षक का मार्गदर्शन मिला। रानाडे एक महान विचारक, सामाजिक सुधारक और राजनीतिज्ञ थे। उन्होंने गोखले को केवल किताबी ज्ञान ही नहीं दिया, बल्कि समाज सेवा और राजनीतिक विचारों में भी प्रशिक्षित

किया। रानाडे के मार्गदर्शन में गोखले ने पाश्चात्य राजनीतिक विचार, अर्थनीति, इतिहास और दर्शन का गहन अध्ययन किया। उन्होंने जॉन स्टुअर्ट मिल, एडम स्मिथ, डेविड रिकार्डो और अन्य महान पाश्चात्य विचारकों की रचनाओं का अध्ययन किया। यह अध्ययन उनके विचारों को एक वैज्ञानिक और तार्किक आधार प्रदान करता है। गोखले की बौद्धिक विकास का एक और महत्वपूर्ण पहलू यह था कि वे न केवल पाश्चात्य ज्ञान से प्रभावित थे, बल्कि भारतीय संस्कृति और परंपरा के प्रति भी गहरी आस्था रखते थे। वे दोनों संस्कृतियों को समन्वित करने का प्रयास करते थे। उनका मानना था कि भारत के विकास के लिए पाश्चात्य विज्ञान और तकनीक की आवश्यकता है, किंतु इसे भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों के साथ मिलाया जाना चाहिए।

डेक्कन कॉलेज से अपनी शिक्षा समाप्त करने के बाद गोखले ने विभिन्न शैक्षणिक संस्थानों में अध्यापन कार्य किया। उन्होंने फर्ग्यूसन कॉलेज, पूणे में इतिहास और राजनीति विज्ञान पढ़ाया। अध्यापन के माध्यम से वे अपने विचारों को अगली पीढ़ी के छात्रों तक पहुंचाते थे। उनकी कक्षाओं में उनके विचारों का प्रभाव था और वे अपने छात्रों को केवल पाठ्यक्रम की सामग्री नहीं, बल्कि जीवन की महत्वपूर्ण सीखें भी देते थे। गोखले का बौद्धिक विकास उनकी व्यक्तिगत पढ़ने की आदत से भी बहुत प्रभावित था। वे एक अत्यंत पढ़े-लिखे व्यक्ति थे और विभिन्न विषयों पर किताबें पढ़ते थे। वे राजनीतिक अर्थशास्त्र, इतिहास, समाजशास्त्र, दर्शन और अन्य विषयों में विशेषज्ञता प्राप्त करने के लिए निरंतर अध्ययन करते थे। उनकी यह बौद्धिक प्रवृत्ति उन्हें अपने समकालीनों से अलग करती थी। गोखले की शिक्षा और बौद्धिक विकास का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह था कि वे एक व्यापक दृष्टिकोण वाले विचारक बनकर उभरे। वे न तो परंपरावादी थे और न ही पूर्ण रूप से आधुनिकतावादी। वे दोनों के मध्य एक संतुलन बनाए रखना चाहते थे। यह दृष्टिकोण उन्हें अपने समय का एक अद्वितीय राजनेता और विचारक बनाता है।

12 .5 राजनीतिक विचार और दर्शन

गोपाल कृष्ण गोखले के राजनीतिक विचार आधुनिक भारतीय राजनीति के विकास में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। उनके विचार न तो पूर्ण रूप से परंपरावादी थे और न ही क्रांतिकारी। उन्होंने एक मध्यम मार्ग अपनाया जो व्यावहारिक, प्रगतिशील और संवैधानिक था।

गोखले का मानना था कि भारत को स्वराज्य (स्वशासन) की आवश्यकता है, किंतु यह तुरंत नहीं बल्कि क्रमिक रूप से अर्जित किया जाना चाहिए। उन्होंने भारतीय जनता को शिक्षित और आर्थिक रूप से सशक्त बनाने के लिए समय की आवश्यकता को स्वीकार किया। उनका विश्वास था कि जब तक भारत की जनता शिक्षित और सचेत नहीं हो जाती, तब तक स्वराज्य केवल एक सपना ही रहेगा।

गोखले के राजनीतिक विचारों का एक मुख्य सिद्धांत था - "संवैधानिक सुधार के माध्यम से राजनीतिक परिवर्तन"। वे हिंसा और क्रांति के विरोधी थे। उनका मानना था कि ब्रिटिश संवैधानिक प्रणाली में सुधार और सुधारवादी राजनीति के माध्यम से भारत को अधिक स्वायत्तता प्राप्त हो सकती है। वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के माध्यम से ब्रिटिश सरकार से संवाद स्थापित करना चाहते थे। गोखले का मत था कि स्वराज्य केवल एक राजनीतिक अधिकार नहीं है, बल्कि यह एक सामाजिक और आर्थिक प्रक्रिया है। भारत को स्वराज्य के लिए तैयार होने के लिए अपनी सामाजिक संरचना को सुधारना होगा, अपनी जनता को शिक्षित करना होगा और आर्थिक विकास को सुनिश्चित करना होगा। उन्होंने कहा था कि "स्वराज्य केवल राजनीतिक अधिकार नहीं है, यह एक आत्मनिर्भर और सुसंगठित समाज का निर्माण है।" गोखले की राजनीतिक व्यावहारिकता का एक उदाहरण यह है कि वे ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग करने के लिए तैयार थे, किंतु इस शर्त पर कि यह सहयोग भारत के हित में हो। वे भारतीय उच्च सेवा परीक्षा में भारतीयों को प्रवेश देने के पक्ष में थे। उन्होंने स्थानीय स्वशासन संस्थाओं के विकास के लिए भी प्रयास किया।

गोखले के राजनीतिक दर्शन में एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू था - "जनता की भागीदारी में विश्वास"। वे केवल बुद्धिजीवियों के बल पर राजनीतिक परिवर्तन में विश्वास नहीं करते थे। उनका मानना था कि सामान्य जनता को भी राजनीतिक प्रक्रिया में सक्रिय रूप से भाग लेना चाहिए। इसी कारण उन्होंने "सर्वेंट्स ऑफ इंडिया सोसाइटी" की स्थापना की ताकि जनसेवा के माध्यम से जनता से सीधा संबंध स्थापित किया जा सके। गोखले का राजनीतिक दर्शन भारतीय परंपरा और पाश्चात्य उदारवादी विचारों का एक अद्वितीय समन्वय था। वे भारतीय संस्कृति को पुरानी और कमजोर मानते थे, किंतु यह भी मानते थे कि भारत के पास एक महान सांस्कृतिक विरासत है। उनका लक्ष्य था भारत को आधुनिक और शक्तिशाली बनाना, किंतु भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को खोए बिना।

12 .6 सामाजिक सुधार संबंधी विचार

गोपाल कृष्ण गोखले समाज सुधार के एक प्रमुख प्रवक्ता थे। वे मानते थे कि भारत के राजनीतिक विकास के लिए सामाजिक सुधार अत्यंत आवश्यक है। उनके सामाजिक सुधार के विचार व्यापक और समग्र थे। गोखले का पहला महत्वपूर्ण विचार था - "शिक्षा के माध्यम से सामाजिक सुधार"। वे मानते थे कि शिक्षा ही सामाजिक बुराइयों को दूर करने का मुख्य साधन है। उनके अनुसार, शिक्षित समाज ही अपनी बुराइयों को पहचान सकता है और उन्हें दूर कर सकता है। वे महिला शिक्षा के विशेष समर्थक थे। उनका विश्वास था कि महिलाओं की शिक्षा से पूरा समाज शिक्षित होता है।

गोखले सती प्रथा, बाल विवाह और अन्य सामाजिक कुप्रथाओं के विरोधी थे। वे इन प्रथाओं को आधुनिक समाज के लिए हानिकारक मानते थे। उन्होंने इन कुप्रथाओं को दूर करने के लिए कानूनी उपाय और सामाजिक जागरूकता दोनों की आवश्यकता पर बल दिया। गोखले के सामाजिक सुधार

विचारों का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू था - "जातिगत भेदभाव का विरोध"। वे अछूतता और जातिगत विभाजन के विरुद्ध थे। उनका मानना था कि समाज की उन्नति तब तक संभव नहीं है जब तक सामाजिक समानता नहीं आती। हालांकि गोखले वर्ण व्यवस्था का पूर्ण उन्मूलन नहीं चाहते थे, किंतु वे जातिगत कठोरता को समाप्त करना चाहते थे। गोखले के सामाजिक सुधार कार्यों का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम था "सर्वेंट्स ऑफ इंडिया सोसाइटी" की स्थापना जो 1905 में की गई थी। यह संगठन सामाजिक कल्याण और जनसेवा के लिए समर्पित था। इस संगठन के सदस्य भारत के विभिन्न भागों में शिक्षा, स्वास्थ्य और सामाजिक कल्याण के कार्य करते थे।

गोखले के सामाजिक विचारों में एक महत्वपूर्ण पहलू यह था कि वे सामाजिक सुधार को आर्थिक विकास से जोड़ते थे। वे मानते थे कि गरीबी और आर्थिक पिछड़ापन भारतीय समाज की मुख्य समस्याएं हैं। इसलिए गरीबों के उत्थान और आर्थिक सशक्तिकरण के लिए कार्यक्रम लागू करने चाहिए। गोखले धार्मिक सुधार के भी समर्थक थे। वे धार्मिक कट्टरता के विरोधी थे। उनका मानना था कि धर्म को समाज के प्रगति में योगदान देना चाहिए। वे विभिन्न धर्मों के प्रति सहिष्णु थे और साम्प्रदायिक सद्भावना के समर्थक थे।

12 .7 आर्थिक नीति संबंधी विचार

गोपाल कृष्ण गोखले के आर्थिक विचार भारत के आर्थिक विकास के संबंध में अत्यंत महत्वपूर्ण थे। वे ब्रिटिश आर्थिक नीतियों के विरोधी थे जो भारत को आर्थिक रूप से कमजोर करती थीं। गोखले का मुख्य आर्थिक विचार यह था कि भारत की गरीबी का मुख्य कारण ब्रिटिश शासन की आर्थिक नीति है। उन्होंने यह दिखाया कि ब्रिटिश ने भारत के प्राकृतिक संसाधनों का दोहन किया है और भारतीय उद्योग को नष्ट किया है। उन्होंने कर नीति की आलोचना की और कहा कि भारतीय किसानों पर अत्यधिक कर का बोझ है। गोखले स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग के समर्थक थे किंतु वे उदारवादी थे। उनका मानना था कि स्वदेशी आंदोलन केवल विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के लिए नहीं होना चाहिए, बल्कि भारतीय उद्योग को मजबूत करने के लिए होना चाहिए। वे भारतीय उद्योग के विकास के लिए ब्रिटिश सरकार के समर्थन की मांग करते थे। गोखले के आर्थिक विचारों का एक महत्वपूर्ण पहलू यह था कि वे भारत की आर्थिक विषमता को समझते थे। वे शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में विकास के अंतर को दूर करना चाहते थे। उनका विश्वास था कि कृषि का विकास भारत के आर्थिक विकास के लिए सबसे महत्वपूर्ण है। गोखले के आर्थिक कार्यक्रमों में कृषकों की स्थिति में सुधार, ग्रामीण उद्योग की स्थापना, और छोटे पैमाने पर व्यापार को बढ़ावा देना शामिल था। वे मानते थे कि गरीबों के आर्थिक सशक्तिकरण के बिना भारत की प्रगति संभव नहीं है।

गोखले तत्कालीन भारत की आर्थिक दुर्दशा से बहुत चिन्तित थे। उन्होंने न केवल तत्कालीन भारत की आर्थिक दुर्दशा के मूल कारणों का विश्लेषण प्रस्तुत किया अपितु भारत के उत्थान

और समृद्धि के उपायों पर भी प्रकाश डाला। गोखले ने एक अर्थशास्त्री के रूप में समय-समय पर भारत की आर्थिक स्थिति पर विचार व्यक्त किए। गोखले के आर्थिक विचारों पर मुख्यता दादाभाई नौरोजी, महादेव गोविंद रानाडे और गणेश वेंकटेश जोशी के विचारों का प्रभाव था। उन्हें दादा भाई नौरोजी की तरह ही राजनीति के आर्थिक आधारों के अध्ययन में भी अभिरुचि थी। लेकिन नौरोजी के प्रभाव के बावजूद गोखले ने उनके सिद्धांत को अपने आर्थिक विचारों का आधार नहीं बनाया। वे आर्थिक समस्याओं का अत्यधिक सरलीकरण करना नहीं चाहते थे। उनके आर्थिक विचार देश की वास्तविक आर्थिक स्थितियों से ज्यादा प्रभावित थे। गोखले ने आर्थिक नीति के एक ऐसे ढांचे के निर्माण का प्रयास किया जिसका उद्देश्य लोक कल्याण, औद्योगिक विकास, न्यायोचित संरक्षणवाद पर आधारित राज्य का रचनात्मक परंतु सतर्क हस्तक्षेप हो। वे भारत सरकार के आय और व्यय के बीच अधिक संतुलन स्थापित करने के पक्षधर थे। इस सम्बन्ध में उनका सुझाव था कि आय का अधिक न्यायोचित ढंग से वितरण किया जाए।

गोखले ने भारत के सैनिकों को कम करने के लिए सुझाव भी प्रस्तुत किए। उनके अनुसार यदि सैनिक व्यय को इंग्लैंड और भारत के बीच बांट दिया जाए तो भारतीय खजाने की डेढ़ करोड़ रुपए की बचत हो सकती है तथा भारत के कुल राजस्व व्यय तथा सैनिक के का अनुपात किसी अन्य देश की तुलना में भी उनके अनुसार अधिक था। गोखले के अनुसार भारत के कुल राजस्व व्यय और सैनिक व्यय का अनुपात अन्य देशों की तुलना में अधिक था। गोखले का मत था कि भारत सचिव साम्राज्यीय केबिनेट का सदस्य होता है, अतः उसके और उसकी परिषद के कर्मचारियों पर होने वाले व्यय को केवल भारतीय राजस्व पर भारित नहीं होना चाहिए बल्कि उसे इंग्लैंड और भारत के बीच बराबर-बराबर बाँटना चाहिए।

गोखले के मतानुसार एक आरक्षित सेना का निर्माण किया जाए जिस पर शांतिकाल में अधिक खर्च नहीं होगा, वहाँ युद्ध और आक्रमण की स्थिति में इसका इस्तेमाल किया जा सकेगा। सेना का भारतीयकरण किया जाए। इससे भर्ती सम्बन्धी खर्चे कम होंगे, वेतन कम देना पडेगा और भारतीयों को रोजगार के अवसर बढ़ेंगे। भारत की भौगोलिक सीमाओं से बाहर इंग्लैंड की इच्छानुसार भारत की सेना का इस्तेमाल किया जाए, तो उस पर आने वाले व्यय का एक निश्चित भाग इंग्लैंड के राजस्व से भी लिया जाना चाहिए। सेना में भारतीयों की भर्ती का प्रस्ताव गोखले ने दिया क्योंकि उनके अनुसार इससे खर्च में कमी होगी तथा भारतीयकरण से शिक्षित भारतीयों को रोजगार के अवसर भी प्राप्त होंगे। उनका कहना था कि भारतीय सेनाओं का इस्तेमाल भारतीय सीमाओं की सुरक्षा के लिए किया जाना चाहिए। यदि उसका इस्तेमाल भारतीय सीमाओं से बाहर किया जाता है तो उसका समस्त व्यय ब्रिटिश बजट के अनुसार ही किया जाना चाहिए। गोखले का मानना था कि भारत पर आरोपित कर न केवल अनियंत्रित थे

बल्कि वे ब्रिटिश व्यवसाय के हितों के अधीन थे तथा उनका भारतीय करदाताओं के हितों या उसके कल्याण से कोई सरोकार नहीं था।

गोखले को सरकार की प्राथमिकताओं पर भी आपत्ति थी । इसी कारण गोखले ने सरकार के रेलों के विस्तार का विरोध भी किया। गोखले राजनीतिक क्षेत्र में उदारवाद तथा लोकतांत्रिक सिद्धांतों के समर्थक थे परंतु आर्थिक क्षेत्र में उदारवाद और उससे जुड़े मुक्त व्यापार और हस्तक्षेप के सिद्धांत के समर्थक नहीं थे । उनका मानना था कि जब तक किसी देश का न्यूनतम आर्थिक विकास अथवा औद्योगिकरण नहीं हो जाता, तब तक उसे स्वतंत्र प्रतियोगिता में धकेलना न्याय संगत नहीं होगा। भारतीय किसानों की ऋणग्रस्तता और उत्पादन की पुरानी तकनीकों से भी चिंतित थे। गोखले भारत का औद्योगीकरण करना चाहते थे। वे भारतीय अर्थव्यवस्था को पुनर्जीवित करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने भारत के उद्योगपतियों को जहाँ उद्योगों के विकास का सुझाव दिया वहाँ उन्होंने विदेशों में मण्डियाँ खोलने के लिए भी कहा। उन्होंने नवयुवकों को तकनीकी शिक्षा में प्रशिक्षण देने और अपने क्षेत्र में निपुणता प्राप्त करने पर जोर दिया। गोखले उदारवादी होते हुए भी भारत के निर्बाध व्यापार तथा कम से कम हस्तक्षेप की नीति के पक्षपाती नहीं थे। उनका आग्रह था कि भारत की विशिष्ट आर्थिक परिस्थितियों में ब्रिटिश राज को 'संरक्षण की सतर्क नीति' के साथ मुक्त व्यापार की मर्यादित नीति का पालन करना चाहिए। उनके अनुसार भारत में नए और आधुनिक उद्योगों की स्थापना और विकास में ब्रिटिश सरकार को सहयोग देना चाहिए। भारतीय उद्योगों को ब्रिटेन सहित विश्व के समृद्ध और उन्नत उद्योगों के साथ खुली प्रतियोगिता से बचाया जाना चाहिए। भारत के अन्दर भारतीय उद्योगों के बीच प्रतियोगिता होनी चाहिए ताकि वे अपनी तकनीक और प्रबन्ध कला आदि में उन्नति की प्रेरणा प्राप्त करें। भारतीय उद्योगों का विकास तो होना चाहिए, किन्तु उनमें एकाधिकारवादी प्रवृत्ति का विकास नहीं होना चाहिए। गोखले भारतीय उद्योगों के लिए ऐसी सरकारी नीति चाहते थे जो आर्थिक संरक्षण और मुक्त व्यापार के दोषों से मुक्त हो।

12 .8 शैक्षणिक विचार

गोपाल कृष्ण गोखले शिक्षा को राष्ट्रीय विकास का मुख्य साधन मानते थे। उनके शैक्षणिक विचार अत्यंत प्रगतिशील और व्यापक थे। गोखले का प्रमुख शैक्षणिक विचार यह था कि भारत में सभी के लिए आवश्यक और मुक्त शिक्षा होनी चाहिए। उनके अनुसार, शिक्षा किसी विशेष वर्ग के लिए नहीं होनी चाहिए, बल्कि सभी वर्गों के लिए होनी चाहिए। वे गरीब बच्चों को शिक्षा प्रदान करने के लिए विशेष योजनाओं का समर्थन करते थे। गोखले महिला शिक्षा के विशेष समर्थक थे। उनका मानना था कि महिलाओं की शिक्षा समाज की प्रगति के लिए अत्यंत आवश्यक है। एक शिक्षित माता-पिता एक शिक्षित समाज का निर्माण करती है।

गोखले के शैक्षणिक विचारों में व्यावहारिक शिक्षा को भी महत्व दिया गया था। वे पूरी तरह सैद्धांतिक शिक्षा के विरोधी थे। उनके अनुसार, शिक्षा को छात्रों को जीवन के लिए तैयार करना चाहिए। इसलिए तकनीकी और व्यावहारिक विषयों को भी पाठ्यक्रम में शामिल किया जाना चाहिए।

गोखले एक आदर्श शिक्षक थे जिन्होंने जीवन के बीस वर्ष शिक्षा जगत में ही व्यतीत किया था तथा शिक्षा के विस्तार और विकास के संबंध में वे निरंतर प्रयासरत थे । गोखले की धारणा थी कि राष्ट्र की प्रगति के लिए शिक्षा एक अनिवार्य तत्व और माध्यम है। इसीलिए न केवल सर्वसाधारण नागरिक को शिक्षित करने पर उन्होंने जोड़ दिया बल्कि राष्ट्र के औद्योगिक और आर्थिक विकास के लिए तकनीकी शिक्षा को भी बढ़ावा देने के लिए उन्होंने प्रयास किए। उनका यह स्पष्ट मानना था कि देश के नागरिकों विशेषकर युवाओं में पवित्र विचारों के संचार में ना देश की स्थिति में सुधार नहीं हो सकता । सुधार का एकमात्र माध्यम शिक्षा है । गोखले ने कहा था कि शिक्षा के बिना व्यक्ति की कुशलता में बुद्धिमत्ता सामान्य स्तर में वृद्धि और समुदाय के एक बड़े भाग में चारित्रिक शुद्धता सुनिश्चित नहीं किया जा सकता। भारत में अज्ञानता और अनभिज्ञता का प्रचंड साम्राज्य था और उनके अनुसार ऐसे लोगों की कमी नहीं थी जो बालकों को शिक्षा देना अपना कर्तव्य नहीं समझते थे । गोखले शिक्षा के क्षेत्र में सरकार के हस्तक्षेप के पक्ष में थे। इसीलिए उन्होंने सुझाव दिया कि शिक्षा को विशेषकर प्राथमिक शिक्षा को निशुल्क और अनिवार्य बना दिया जाए । गोखले ने भारत सरकार के समक्ष शिक्षा संबंधी अपने प्रस्तावों को प्रेषित किया । निशुल्क और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा संबंधी प्रस्ताव में अनिवार्यता का तत्व डाल कर देख लेना अपनी प्रतिबद्धता जताई। गोखले का मानना था कि राज्य को भय मूर्ख लोगों से ही है न कि जानवरों से। अनिवार्य शिक्षा का असल उद्देश्य संपूर्ण अज्ञान का नाश करना है।

गोपाल कृष्ण गोखले ब्रिटिश संपर्क को भारत के लिए वरदान स्वरूप मानते थे क्योंकि उसके कारण ही भारत में पाश्चात्य शिक्षा का प्रवेश हुआ था । गोखले की दृष्टि में पाश्चात्य शिक्षा भारत के लिए एक मुक्तिदायिनी स्थिति थी और भारत में उसका अधिकाधिक विस्तार होना चाहिए था । देश की तत्कालीन दशा में पाश्चात्य शिक्षा का सबसे बड़ा कार्य भारतीय जनमानस को पुनः विचारों की दासता से मुक्त करना और उसमें पाश्चात्य जीवन चरित्र और चिंतन के सर्वोत्तम तत्वों को समाहित करना था । गोखले के अनुसार भारतीयों ने पाश्चात्य शिक्षा का बहिष्कार किया तो यह एक गंभीर भूल होगी। वे पश्चिमी देशों की शिक्षा प्रणाली को ही भारत के लिए अधिक उपयुक्त समझते थे क्योंकि भारत की परंपरागत शिक्षा पद्धति की तुलना में भारत को प्रगति के मार्ग ले जाने में अधिक सफल वही शिक्षा पद्धति हो सकती है । गोपाल कृष्ण गोखले ने 1903 में अपने एक बजट भाषण में कहा था कि भावी भारत दरिद्रता और असंतोष का भारत नहीं होगा बल्कि उद्योगों, जाग्रत शक्तियों और संपन्नता का भारत

होगा। वे पाश्चात्य शिक्षा को भारत के लिए वरदान मानते थे और इसका अधिकाधिक विस्तार चाहते थे। उनका मानना था कि देश की तत्कालीन दशा में पाश्चात्य शिक्षा का सबसे बड़ा कार्य भारतीयों को पुराने, जीर्ण-शीर्ण विचारों की दासता से मुक्त कराना होगा। उन्होंने सरकार को ये विचार दिया कि प्राथमिक शिक्षा को छह से दस वर्षो तक के बच्चों के लिए अनिवार्य कर दिया जाए और इसके खर्चे को सरकार और संस्थाएं उठाएं। लेकिन सरकार इस बात के लिए राज़ी नहीं थी। उसका मानना था कि शिक्षा के प्रसार से अंग्रेज़ी साम्राज्य को दिक्कत होगी। गोखले ने अपनी तर्क बुद्धि से उन्हें समझाया कि सरकार को अनपढ़ लोगों से ही डरना चाहिए, पढ़े-लिखों से नहीं। यद्यपि अपने जीवन के अंतिम काल में गोखले को ब्रिटिश व्यवहार से निराशा हुई फिर भी ब्रिटिश सद्भावना में उन्होंने अपना विश्वास नहीं खोया। गोखले नारी शिक्षा के प्रबल और उत्कृष्ट समर्थक थे। उनके अनुसार प्रत्येक राष्ट्र के यथार्थ कल्याण में नारी शिक्षा एक उच्चतम मूल्य का तत्व है। भारत में इसका महत्व इसलिए भी हो जाता है , जहां जाति और रिति रिवाज के बंधन के कारण हिंदू नारी एक साथ यथास्थिति की शिकार और जबरदस्त समर्थक है। शिक्षा के माध्यम से गोखले हिंदू नारी को उसकी अपमानजनक स्थिति से छुटकारा दिलाने का प्रयास प्रयासरत रहे।

इसके साथ गोखले ने भारत के औद्योगिक और आर्थिक विकास के लिए तकनीकी शिक्षा के विस्तार और विकास की आवश्यकता भी जताई। उन्होंने तकनीकी शिक्षा के विस्तार के लिए एक आयोग के गठन की मांग की थी। गोखले विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता के पक्षधर भी थे। विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता और स्वतंत्रता को नष्ट करने सरकारी नियंत्रण में लाने संबंधी विधेयक का विरोध किया था। उनका कहना था कि इसका उद्देश्य विश्वविद्यालय प्रशासन से भारतीय तत्व हटाना और उन पर यूरोपीय प्रोफेसर के प्रभाव को बढ़ाना है। पाश्चात्य शिक्षा से अत्यधिक प्रभावित और उनकी धारणा थी कि इसका महान कार्य भारतीय मस्तिष्क को पुराने विचारों की दासता से मुक्ति दिलाना था। उनके अनुसार पाश्चात्य शिक्षा उदार और लोकतांत्रिक मूल्यों से भरपूर है। अतः भारत में इसके विस्तार और विकास से उदार और लोकतांत्रिक विचारों का विकास होगा। स्पष्ट रूप से वे शिक्षा के माध्यम से भारतीयों की अज्ञानता और अंधविश्वासों को दूर करना चाहते थे।

12 .9 स्वराज्य और राजनीतिक स्वतंत्रता संबंधी विचार

गोपाल कृष्ण गोखले के स्वराज्य संबंधी विचार उनके समकालीनों से भिन्न थे। उन्होंने एक क्रमिक और संवैधानिक दृष्टिकोण अपनाया। गोखले का मानना था कि स्वराज्य भारत का अधिकार है, किंतु इसे अभी के लिए पूरी तरह असंभव मानते थे। उनके अनुसार, भारत को पहले आर्थिक और सामाजिक विकास करना चाहिए फिर धीरे-धीरे राजनीतिक स्वतंत्रता की ओर बढ़ना चाहिए। गोखले के स्वराज्य की कल्पना में स्थानीय स्वशासन महत्वपूर्ण भूमिका निभाता था। वे स्थानीय स्तर पर

भारतीयों को अधिकार देने के पक्ष में थे। उन्होंने पंचायतों और नगरपालिकाओं को मजबूत करने के लिए कार्य किया।

12 .10 विदेश नीति और अंतर्राष्ट्रीय संबंध संबंधी विचार

गोपाल कृष्ण गोखले की विदेश नीति संबंधी विचार अत्यंत उदार और अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण वाले थे। वे विश्व शांति और अंतर्राष्ट्रीय सहयोग में विश्वास करते थे।

गोखले का मानना था कि भारत को विश्व समुदाय का एक सम्मानित सदस्य बनना चाहिए। इसलिए वे भारत के अंतर्राष्ट्रीय समर्थन बढ़ाने के लिए कार्य करते थे। उन्होंने इंग्लैंड की यात्रा की और वहां के राजनेताओं और विचारकों से भारत की समस्याओं पर चर्चा की।

गोखले का यह विचार था कि भारत और ब्रिटेन के बीच एक सहयोगपूर्ण संबंध हो सकता है। किंतु यह सहयोग समानता के आधार पर होना चाहिए, अधीनता के आधार पर नहीं।

12.11 विकेन्द्रीकरण का समर्थन

गोखले सत्ता के केन्द्रीकरण के विरोधी थे। उनके अनुसार भारतीयों को उनके अधिकार तभी प्राप्त हो सकते थे जब ब्रिटिश सरकार सत्ता के विकेन्द्रीकरण की नीति अपनाती। गोखले ने इसकी आवश्यकता को नौकरशाही पर तत्काल नियंत्रण हेतु स्वीकार किया। उनका मानना था कि प्रान्तीय विकेन्द्रीकरण तभी सफल हो सकता है जब प्रान्तीय परिषदों के आकार में वृद्धि हो और उन्हें प्रान्तीय बजट पर विवाद करने का अधिकार दे दिया जाए। वे जिलाधीशों को प्रशासन के मामलों में सलाह देने के लिए जिला परिषदों के निर्माण के पक्षधर थे।

गोखले ने विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता को स्वीकार किया। वे ऐसी व्यवस्था के पक्ष में थे जिससे नौकरशाही पर तत्काल नियन्त्रण लगाया जा सके। वे प्रशासन पर जनता का उचित नियन्त्रण चाहते थे। जिला प्रशासन में कलेक्टर की स्वेच्छाचारिता रोकने के लिए प्रत्येक जिले में जिला स्तरीय परिषद् का निर्माण किया जाना चाहिए, जो कलेक्टर को प्रशासकीय मामलों में सलाह दे। गोखले शक्तियों के विकेंद्रीकरण के पक्ष में थे । वे न केवल प्रांतीय और केंद्रीय स्तर पर विकेंद्रीकरण नहीं चाहते थे बल्कि जिला स्तर पर भी विकेंद्रीकरण चाहते थे । उनका मानना था कि जिला स्तरीय विकेंद्रीकरण से जिला प्रशासन को केंद्रीय सरकार के सचिवालय और उसके अनेक विशेष विभागों के नियम से मुक्ति मिल जाएगा। उनके अनुसार दूसरे जिले के लोगों को जिले की प्रशासन को प्रभावित करने में अधिक से अधिक अवसर दिए जाएं , जब तक के पदाधिकारी जनसेवक ना बन जाए।

गोखले केंद्र और प्रांतीय सरकारों के आर्थिक और प्रशासनिक विषयों को अलग अलग करना चाहते थे तथा प्रांतीय स्तर पर प्रांतीय विधानसभा परिषदों की आकार, निर्वाचित

सदस्यों की संख्या और शक्तियों विशेषकर बजट पर वाद विवाद की शक्तियों में विस्तार चाहते थे। गोखले ने हौबहाउस विकेंद्रीकरण आयोग के समक्ष कहा था कि निम्न स्तर पर ग्राम पंचायतों, माध्यमिक स्तर पर जिला परिषदों और शिखर के स्तर पर विधान परिषदों का परिषदों का पुनर्गठन किया जाए।

12.12 हिन्दू – मुस्लिम एकता के प्रबल पक्षधर

गोखले राष्ट्रीय एकता को विशेष महत्त्व देते थे। उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता को राष्ट्र के लिए हितकारी माना। दोनों ही धर्मो के व्यक्तियों से उनकी मार्मिक अपील थी कि वे परस्पर सहिष्णुता और आत्म-संयम से काम लें और परस्पर मैत्रीपूर्ण सहयोग की भावना का विकास करें। रानाडे की तरह ही गोखले ने नैतिक, बौद्धिक और शारीरिक योग्यताओं का विकास पर विशेष बल दिया । उनका कहना था कि कठोर परिश्रम, त्याग, सामाजिक स्थिति और नैतिक विकास के बल पर ही राष्ट्रीयता को सुदृढ़ बनाया जा सकता है। राष्ट्रीय एकता और निष्ठा पूर्ण प्रयासों द्वारा ही भारतवासी अपनी समस्याओं के समाधान करने में सक्षम हो सकेंगे, ऐसी गोखले की मान्यता थी।

गोखले ने हिंदू - मुस्लिम एकता को भारतीय राष्ट्र के लिए कल्याणकारी माना और स्वयं को यथासंभव ऐसे विचारों में पड़ने से अलग रखा जिससे इन दो वर्गों के बीच कटुता उत्पन्न होने की संभावना होती हो। दोनों ही वर्गों से उनकी मार्मिक अपील की कि वे परस्पर सहिष्णुता और अपनी संयम से काम ले तथा आपसी मतभेदों पर बल देने की तुलना में परस्पर मैत्रीपूर्ण सहयोग की भावना बनाए रखें। गोखले ने ऐसी किसी भी आलोचना का स्वागत नहीं किया, जिसके फलस्वरूप दोनों वर्गों में वर्गीय चेतना के प्रसार का भय हो। उनका कहना था कि बहुसंख्यक होने और शिक्षा की दृष्टि से उन्नत होने के कारण हिंदुओं का कर्तव्य है कि सामान्य राष्ट्रीयता की भावना विकसित करने में अपने मुस्लिम भाइयों के सहायक बनें। जिन्ना को वे हिंदू- मुस्लिम भाईचारे का सबसे बड़ा पैरोकार मानते थे। गांधी के साथ-साथ वे जिन्ना के भी राजनैतिक गुरु थे। गोखले एक ऐसे राजनैतिक विचारक थे जो राजनीति में आध्यात्मिक अवधारणा लेकर आये थे। उनके द्वारा स्थापित 'सर्वेन्टस ऑफ इंडिया सोसायटी' का एक मुख्य उद्देश्य राजनीति और धर्म में समन्वय करना था। लोकमान्य तिलक के गणपति और शिवाजी उत्सव के प्रति उन्होंने कोई रुचि नहीं दिखाई। यद्यपि इस कार्य से वे अलोकप्रिय भी हो गए पर अपने आदर्शों और विश्वासों से डिगना उन्होंने कभी नहीं सीखा। गोखले जीवन पर्यंत एक राष्ट्र के सिद्धांत के समर्थक रहे तथा इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु हिंदू-मुस्लिम सामंजस्य और मित्रता के समर्थक थे। वे राष्ट्र निर्माण के लिए भारत की इन दो वर्गों में सौहार्दपूर्ण सहयोग और पारस्परिक विश्वास को आवश्यक समझते थे क्योंकि उनका मानना था कि साथ रहना, एक साथ कष्ट सहना और एक साथ कुछ बनाना और एक प्रकार की आकांक्षाएं रखना ही राष्ट्र का निर्माण करना है। इस पर भी गोखले राष्ट्रीय राज्य के समर्थक नहीं थे। उनकी राष्ट्रीयता

सांस्कृतिक थी । गोखले चाहते थे कि जो लोग सार्वजनिक क्षेत्र में कार्यरत हैं , उन्हें किसी ऐसी गतिविधियों से न केवल डरना चाहिए बल्कि उसकी निंदा नहीं करनी चाहिए , जो समुदायों में द्वेष , अविश्वास और संदेह पैदा करती है।

12 .13 गोखले का मूल्यांकन

गोपाल कृष्ण गोखले का मूल्यांकन करते समय हम देखते हैं कि वे भारतीय राजनीति के एक अद्वितीय व्यक्तित्व थे। उन्होंने न तो पूर्णतः परंपरावादी रुख अपनाया और न ही पूर्णतः क्रांतिकारी।

गोखले का सकारात्मक पहलू यह है कि उन्होंने सामाजिक सुधार, शिक्षा और आर्थिक विकास पर बल दिया। उन्होंने व्यावहारिक राजनीति को प्रमोट किया। उनके विचारों में वैज्ञानिकता और तार्किकता दिखाई देती है।

हालांकि, कुछ लोग उनकी आलोचना यह कहते हुए करते हैं कि वे ब्रिटिश शासन के साथ बहुत सहयोगी थे। वे तुरंत स्वराज्य की मांग नहीं करते थे, जो कि एक राजनीतिक कमजोरी थी।

फिर भी, गोखले का समग्र मूल्यांकन यह है कि वे भारतीय राजनीति के एक महान निर्माता और दूरदर्शी थे। उन्होंने भारत को आधुनिकता और परंपरा के बीच एक संतुलन खोजने का रास्ता दिखाया।

गोखले का मध्यकालीन अर्थात् उनके समय के कुछ समकालीनों द्वारा किए गए मूल्यांकन अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। महात्मा गांधी ने गोखले की मृत्यु पर उन्हें भारत का "दक्षिण-पूर्व तारा" कहा। यह कथन उनके प्रभाव और महत्व को दर्शाता है।

रविंद्रनाथ टैगोर ने भी गोखले के विचारों की प्रशंसा की। वे गोखले की मानवीय दृष्टिकोण की प्रशंसा करते थे।

गोखले के विरोधियों में राष्ट्रवादी नेता भी थे जो मानते थे कि वे बहुत मृदु और समझौतावादी थे। किंतु आज के समय में इतिहासकार यह मानते हैं कि गोखले का दृष्टिकोण उस समय के लिए अत्यंत प्रगतिशील था।

12 .14 सारांश

गोपाल कृष्ण गोखले आधुनिक भारत के निर्माताओं में से एक थे। उन्होंने राजनीति, समाज सुधार, शिक्षा और आर्थिक विकास के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया। उनके विचार व्यावहारिक, प्रगतिशील और मानवीय थे। वे भारत को आधुनिकता और परंपरा के बीच एक संतुलित मार्ग दिखाते हैं।

गोखले की विरासत आज भी प्रासंगिक है। भारत के विकास में शिक्षा, सामाजिक सुधार और आर्थिक विकास की भूमिका गोखले द्वारा बताई गई थी। उनके विचारों का अनुसरण कर भारत अपने विकास के पथ पर आगे बढ़ सकता है।

12 .15 शब्दावली

स्वराज्य: आत्मशासन या स्वशासन, जिसका अर्थ राजनीतिक स्वतंत्रता है।

संवैधानिक सुधार: कानूनी और संवैधानिक प्रक्रियाओं के माध्यम से समाज में सुधार।

जनसेवा: जनता की सेवा करना और सामाजिक कल्याण के लिए कार्य करना।

उदारवाद: व्यक्तिगत स्वतंत्रता और मानवाधिकारों में विश्वास करने का राजनीतिक दर्शन।

12 .15 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. गोपाल कृष्ण गोखले का जन्म 1866 को महाराष्ट्र के रत्नागिरी जिले में हुआ था।
2. गोखले के मुख्य विचार - शिक्षा, सामाजिक सुधार, आर्थिक विकास और संवैधानिक राजनीति।
3. गोखले संवैधानिक सुधार के माध्यम से राजनीतिक परिवर्तन में विश्वास करते थे।
4. सर्वेंट्स ऑफ इंडिया सोसाइटी की स्थापना 1905 में गोखले ने की।
5. गोखले महात्मा गांधी के लिए एक प्रमुख प्रेरणा स्रोत थे।

12 .16 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. गोखले, जी.के., "स्पीचेज ऑफ गोपाल कृष्ण गोखले"
2. राव, एम.वी., "द हेराल्ड्स ऑफ मॉडर्न इंडिया"
3. शर्मा, परमात्मा, "प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार"
4. पांडेय, श्यामलाल, "भारतीय राजनीतिक विचार का इतिहास"
5. भार्गव, वी.पी., "आधुनिक भारतीय राजनीति"

12 .17 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भार्गव, राजेंद्र, "इंडियन पॉलिटिकल थॉट"
2. गोखले, जी.के., "द फ्यूचर ऑफ इंडिया"
3. कार, ई.एच., "द ट्वेंटीथ सेंचुरी"

12 .18 निबंधात्मक प्रश्न

1. गोपाल कृष्ण गोखले के जीवन और उनके राजनीतिक विचारों पर एक विस्तृत निबंध लिखिए।
2. गोखले के सामाजिक सुधार कार्यक्रमों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
3. गोखले के आर्थिक विचारों की प्रासंगिकता आधुनिक समय में क्या है, इस पर एक निबंध लिखिए।
4. गोखले के शैक्षणिक विचारों और उनके कार्यान्वयन पर एक विस्तृत निबंध लिखिए।
5. गोखले और गांधी के विचारों में समानता और अंतर को रेखांकित करते हुए एक तुलनात्मक निबंध लिखिए।

इकाई 13 : बाल गंगाधर तिलक

इकाई की संरचना

13.0 प्रस्तावना
13.1 उद्देश्य
13.2 बाल गंगाधर तिलक: जीवन एवं कृतियाँ
13.3 तिलक के राजनीतिक चिंतन का वैचारिक आधार
13.4 तिलक का राष्ट्रवाद एवं पुनरुत्थानवाद
13.5 तिलक का राजनीतिक उग्रवाद
13.6 स्वराज्य की अवधारणा
13.7 जन-राजनीति: स्वदेशी, बहिष्कार एवं राष्ट्रीय शिक्षा
13.8 तिलक का सामाजिक एवं धार्मिक चिंतन
13.9 तिलक के राजनीतिक चिंतन का महत्त्व
13.10 सारांश
13.11 शब्दावली
13.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
13.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
13.14 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री
13.15 निबंधात्मक प्रश्न

13.0 प्रस्तावना

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के स्वरूप में महत्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिलता है। प्रारम्भिक चरण में जहाँ उदारवादी नेताओं ने संवैधानिक उपायों, याचिकाओं तथा क्रमिक सुधारों के माध्यम से राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति पर बल दिया, वहीं बाद के दौर में अधिक सक्रिय, संघर्षशील और जनोन्मुख राष्ट्रवाद का उदय हुआ। इस परिवर्तन के प्रमुख शिल्पियों में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। तिलक ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को केवल शिक्षित अभिजात वर्ग तक सीमित न रखकर जनसाधारण से जोड़ने का प्रयास किया। उन्होंने स्वराज्य को भारतीयों का जन्मसिद्ध अधिकार घोषित करते हुए राष्ट्रीय चेतना को नई दिशा प्रदान की। धार्मिक एवं सांस्कृतिक प्रतीकों, सार्वजनिक उत्सवों, स्वदेशी, बहिष्कार तथा राष्ट्रीय शिक्षा जैसे माध्यमों का उपयोग कर उन्होंने राष्ट्रवाद को जन-आन्दोलन का स्वरूप देने का प्रयास किया। उनके विचारों में भारतीय परम्परा और आधुनिक राजनीतिक चेतना का एक विशिष्ट समन्वय दिखाई देता है।

यद्यपि तिलक को प्रायः उग्र राष्ट्रवाद का प्रमुख प्रवक्ता माना जाता है, किन्तु उनका राजनीतिक चिंतन केवल उग्रवाद तक सीमित नहीं था। उनके विचारों में स्वराज्य, राष्ट्रीय आत्मसम्मान, सांस्कृतिक पुनर्जागरण, आध्यात्मिकता, सामाजिक प्रश्नों तथा राजनीतिक संगठन के विविध आयाम समाहित हैं। आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन के विकास में उनका योगदान भारतीय राष्ट्रवाद की वैचारिक और व्यावहारिक दोनों धाराओं को समझने की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

इस इकाई में बाल गंगाधर तिलक के राजनीतिक चिंतन के प्रमुख आयामों जैसे राष्ट्रवाद एवं पुनरुत्थानवाद, राजनीतिक उग्रवाद, स्वदेशी और बहिष्कार, स्वराज्य की अवधारणा, आध्यात्मिक एवं धार्मिक दृष्टिकोण तथा सामाजिक सुधार संबंधी विचारों का क्रमबद्ध अध्ययन किया जाएगा।

13.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप-

1) बाल गंगाधर तिलक के राजनीतिक चिंतन के मूल तत्वों की व्याख्या कर सकेंगे।
2) तिलक के राष्ट्रवाद एवं पुनरुत्थानवाद की अवधारणा का विश्लेषण कर सकेंगे।
3) तिलक के राजनीतिक उग्रवाद के स्वरूप एवं उसके महत्त्व की विवेचना कर सकेंगे।
4) स्वदेशी, बहिष्कार तथा स्वराज्य-दर्शन से संबंधित विचारों को समझ सकेंगे।
5) तिलक के आध्यात्मिक, धार्मिक एवं सामाजिक सुधार संबंधी विचारों का विश्लेषण कर सकेंगे।

13.2 बाल गंगाधर तिलक: जीवन एवं कृतियाँ

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के स्वरूप में महत्वपूर्ण परिवर्तन दिखाई देता है। इस काल में राष्ट्रवाद केवल शिक्षित अभिजात वर्ग तक सीमित न रहकर जनसाधारण तक पहुँचने लगा। इस परिवर्तन के प्रमुख शिल्पियों में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। उन्होंने शिक्षा, पत्रकारिता, सांस्कृतिक पुनर्जागरण तथा जन-संगठन को राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रभावी साधन बनाकर भारतीय राष्ट्रवाद को नई दिशा प्रदान की। उनके नेतृत्व में स्वराज्य की माँग भारतीय राजनीति का केंद्रीय लक्ष्य बनी और राष्ट्रवाद को वैचारिक ही नहीं, बल्कि जन-आन्दोलन का स्वरूप भी प्राप्त हुआ। तिलक का जीवन एक ऐसे राष्ट्रवादी चिंतक की बौद्धिक यात्रा है जिसने आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन को गहराई से प्रभावित किया।

बाल गंगाधर तिलक का जन्म 23 जुलाई 1856 को बम्बई प्रेसीडेंसी के रत्नागिरि जिले के चिखली (चिखलगाँव) में हुआ। उनका मूल नाम केशव गंगाधर तिलक था, यद्यपि वे आगे चलकर बाल गंगाधर तिलक के नाम से प्रसिद्ध हुए। उनके पिता गंगाधर रामचंद्र तिलक संस्कृत

एवं गणित के विद्वान तथा शिक्षक थे और उनकी माता पार्वतीबाई एक धार्मिक महिला थीं। उनके पारिवारिक वातावरण में भारतीय संस्कृति, शास्त्रीय अध्ययन तथा नैतिक अनुशासन को विशेष महत्त्व दिया जाता था। इसी वातावरण ने बालक तिलक के व्यक्तित्व में आत्मसम्मान, तर्कशीलता, अध्ययनशीलता तथा भारतीय परम्पराओं के प्रति गहरी आस्था का विकास किया।

उन्होंने डेक्कन कॉलेज से 1877 में स्नातक की उपाधि प्राप्त की तथा तत्पश्चात् विधि (एल.एल.बी.) की शिक्षा भी ग्रहण की। उनका विश्वास था कि भारत की राजनीतिक दासता का प्रमुख कारण जनता में राष्ट्रीय चेतना का अभाव है और इस चेतना का विकास शिक्षा के माध्यम से ही संभव है। उन्होंने अपने सहयोगियों गोपाल गणेश आगरकर, विष्णुशास्त्री चिपलूणकर के साथ मिलकर न्यू इंग्लिश स्कूल की स्थापना की। आगे चलकर 1884 में डेक्कन एजुकेशन सोसाइटी की स्थापना हुई, जिसके अंतर्गत 1885 में फर्ग्यूसन कॉलेज की स्थापना भी की गई। वर्ष 1881 में उन्होंने मराठी भाषा में 'केसरी' तथा अंग्रेज़ी भाषा में 'द मराठा' (The Mahratta) नामक समाचार-पत्रों का प्रकाशन किया। इन पत्रों के माध्यम से उन्होंने ब्रिटिश शासन की दमनकारी नीतियों तथा आर्थिक शोषण की निर्भीक आलोचना की।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना (1885) के बाद तिलक सक्रिय रूप से राष्ट्रीय राजनीति से जुड़े। प्रारम्भिक कांग्रेस नेतृत्व संवैधानिक सुधारों, प्रार्थना-पत्रों और याचिकाओं के माध्यम से राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने की नीति का समर्थन करता था। तिलक ने इस पद्धति को अपर्याप्त मानते हुए जनशक्ति, संगठन और संघर्ष का समर्थन किया। यही विचार आगे चलकर उन्हें कांग्रेस के उग्रवादी नेतृत्व का प्रमुख प्रवक्ता बनाता है। लाला लाजपत राय और बिपिन चन्द्र पाल के साथ उनका नाम भारतीय राष्ट्रवादी आन्दोलन के उग्रवादी चरण से विशेष रूप से जुड़ गया। 1896-97 के प्लेग के दौरान ब्रिटिश प्रशासन की तिलक ने तीखी आलोचना की। उनके लेखों को सरकार ने राजद्रोहात्मक मानते हुए 1897 में उन्हें कारावास की सज़ा दी। इसके पश्चात् जनता के बीच उन्हें 'लोकमान्य' की उपाधि प्राप्त हुई, जिसका अर्थ है—जिसे जनता ने अपना नेता स्वीकार किया हो।

1905 में बंगाल विभाजन के पश्चात् देशभर में स्वदेशी और बहिष्कार आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। तिलक ने इस आन्दोलन का प्रबल समर्थन किया तथा विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार, स्वदेशी उद्योगों के विकास और राष्ट्रीय शिक्षा के प्रसार को राजनीतिक संघर्ष का आवश्यक अंग बताया। उनका मत था कि राजनीतिक स्वतंत्रता के बिना आर्थिक और सामाजिक प्रगति संभव नहीं है। इसी काल में कांग्रेस के नरम और गरम दलों के बीच मतभेद तीव्र हुए, जिनका परिणाम 1907 के सूरत अधिवेशन में कांग्रेस के विभाजन के रूप में सामने आया। 1908 में उन पर पुनः राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया। इस मुकदमे में प्रसिद्ध अधिवक्ता मुहम्मद अली जिन्ना

ने उनका पक्ष रखा, किन्तु न्यायालय ने उन्हें छह वर्ष के कठोर कारावास का दण्ड सुनाया और बर्मा (वर्तमान म्यांमार) के मांडले कारागार भेज दिया। इसी अवधि में उन्होंने अपनी सर्वाधिक प्रसिद्ध कृति 'श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य' की रचना की। इस ग्रंथ में उन्होंने गीता की ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की जिसमें निष्क्रिय संन्यास के स्थान पर कर्मयोग, कर्तव्यपालन और सक्रिय जीवन को सर्वोच्च आदर्श माना गया। आगे चलकर यही विचार उनके राजनीतिक दर्शन का आधार बना।

1914 में कारावास से मुक्त होने के पश्चात् तिलक ने पुनः राष्ट्रीय आन्दोलन को संगठित करने का कार्य प्रारम्भ किया। 1916 में उन्होंने ऐनी बेसेंट के सहयोग से ऑल इंडिया होमरूल लीग की स्थापना की, जिसका उद्देश्य भारत के लिए स्वशासन (Home Rule) की प्राप्ति था। इसी काल में उनका प्रसिद्ध उद्घोष—"स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा"—सम्पूर्ण देश में स्वतंत्रता आन्दोलन का प्रेरणास्रोत बन गया।

राजनीतिक नेतृत्व के साथ-साथ तिलक एक बहुआयामी विद्वान भी थे। उनकी विद्वत्ता का परिचय उनकी अनेक रचनाओं से मिलता है। 'द ओरिओन' तथा 'द आर्कटिक होम ऑफ द वेदाज' में उन्होंने वैदिक सभ्यता से संबंधित अपने विचार प्रस्तुत किए। 1 अगस्त 1920 को मुंबई में उनका निधन हो गया। उनके निधन पर समूचे देश में शोक की लहर दौड़ गई। महात्मा गांधी ने उन्हें "आधुनिक भारत का निर्माता" तथा जवाहरलाल नेहरू ने "भारतीय क्रांति का जनक" कहकर श्रद्धांजलि अर्पित की।

13.3 तिलक के राजनीतिक चिंतन का वैचारिक आधार

बाल गंगाधर तिलक का राजनीतिक चिंतन भारतीय सांस्कृतिक परम्परा, औपनिवेशिक शासन के अनुभव तथा समकालीन राजनीतिक परिस्थितियों के समन्वय का परिणाम था। उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद की ऐसी अवधारणा को विकसित किया, जिसकी जड़ें भारतीय इतिहास, धर्म और संस्कृति में निहित थीं, किन्तु जिसका उद्देश्य आधुनिक भारत का निर्माण था। उनका मानना था कि किसी भी राष्ट्र का राजनीतिक विकास उसकी सांस्कृतिक चेतना और आत्मसम्मान पर आधारित होना चाहिए। तिलक के चिंतन पर भगवद्गीता का गहरा प्रभाव था। उन्होंने 'गीता रहस्य' में कर्मयोग, कर्तव्यपालन और लोककल्याण को सर्वोच्च महत्व दिया गया। यही विचार उनके राजनीतिक दर्शन का आधार बना, जिसके अनुसार अन्यायपूर्ण शासन का विरोध करना भी एक नैतिक कर्तव्य है।

महात्मा गांधी के पूर्व भारत में लोगों को एक जुट करने और पराधीनता के विरोध में लोगों को जागरूक करने की डोर बाल गंगाधर तिलक के पास ही थी। राष्ट्रीय आन्दोलन को नया जीवन प्रदान करने के लिए तिलक ने सार्वजनिक गणपति उत्सव तथा शिवाजी उत्सव के माध्यम से

भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं को राष्ट्रीय चेतना से जोड़ने का प्रयास किया, जनता को संगठित किया और राष्ट्रीय गौरव का विकास किया। इस प्रकार तिलक ने संस्कृति, धर्म और राजनीति के मध्य एक ऐसा संबंध स्थापित किया जिसने राष्ट्रवादी आन्दोलन को जनाधार प्रदान किया। उनका मानना था कि विदेशी विचारों और प्रथाओं के अंधानुकरण से नई पीढ़ी में अधार्मिकता पैदा हो रही है और उसका विनाशक प्रभाव भारतीय युवकों के चरित्र पर पड़ रहा है। तिलक का विश्वास था कि अगर स्थिति को इसी प्रकार बिगड़ने दिया गया तो अंतत: नैतिक दीवालिएपन की स्थिति आ जाएगी, जिससे कोई भी राष्ट्र उबर नहीं सकता। ब्रिटिश शासन के प्रति विद्रोह उनके अंग-अंग में निहित था। तिलक जीवनभर नौकरशाही के लिए खतरा बने रहे। तिलक ने कहा था कि "स्वतन्त्रता के लिए शिवाजी और बाजीराव की तरह साहसी कार्य करने पड़ेंगे"।

एक व्यावहारिक समाज-सुधारक के रूप में उन्होंने अपनी बेटियों को शिक्षा दी, शास्त्र सम्मत अधिकतम आयु होने तक उनका विवाह स्थगित किया, जाति संबंधी प्रतिबंधों में छूट देने की अपील की और आमतौर पर समाज-सुधार आंदोलन का समर्थन किया। लेकिन इसके बावज़ूद उन्होंने समाज-सुधार पार्टी की आलोचना की। सतही स्तर पर निरीक्षण करने वालों को उनके व्यवहार में यह विरोधाभास नज़र आता है, जबकि उनके विरोधी इसका कारण उनकी सस्ती लोकप्रियता प्राप्त करने की इच्छा बताते थे। वास्तविकता यह है कि इस विषय में उनका आचरण उनके पक्के विश्वास का नतीजा था। उनकी राय में, पिछली पीढ़ी के समाज-सुधारकों के पास ना तो वह योग्यता थी और न वे नैतिक गुण थे, जो सुधार आंदोलन की सफलता के लिए आवश्यक हैं। अत: उनकी आलोचना आम तौर पर उन व्यक्तियों के विरुद्ध होती थी, उन उद्देश्यों के विरुद्ध नहीं होती थी जिसके लिए ये लोग कार्य कर रहे थे। इसी प्रकार वे किसी सुधार को लागू करने के पक्ष में होते थे लेकिन वे उन लोगों की आलोचना करते थे, जो इस सुधार के मठाधीश होने का दावा करते थे।

यद्यपि तिलक भारतीय परम्परा के समर्थक थे, फिर भी वे आधुनिक राजनीतिक विचारों, विशेषकर स्वशासन (Self-Government), जनभागीदारी तथा राजनीतिक अधिकारों के महत्त्व से भली-भाँति परिचित थे। उन्होंने इन विचारों को भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप व्याख्यायित किया। इस प्रकार उनका राजनीतिक चिंतन भारतीय सांस्कृतिक विरासत और आधुनिक राष्ट्रवादी विचारों का एक सृजनात्मक समन्वय था। बाल गंगाधर तिलक कांग्रेस की उग्रवादी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते थे। वे उदारवादी साधनों में विश्वास नहीं करते थे। तिलक ने दबाव के जिन साधनों पर जोर दिया है वे है : स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा और स्वराज्य । राष्ट्रवाद , पुनरुत्थानवाद ,राजनीतिक उग्रवाद, स्वदेशी और बहिष्कार तथा स्वराज्य संबंधी अवधारणाएं तिलक की मौलिक देन हैं।

13.4 तिलक का राष्ट्रवाद एवं पुनरुत्थानवाद

बाल गंगाधर तिलक भारतीय राष्ट्रवाद के प्रमुख प्रवक्ताओं में थे। उनके राष्ट्रवाद का उद्देश्य केवल ब्रिटिश शासन से राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करना नहीं था, बल्कि भारतीय समाज में राष्ट्रीय चेतना, आत्मसम्मान और सांस्कृतिक आत्मविश्वास का विकास करना भी था। उनका विश्वास था कि किसी भी राष्ट्र का राजनीतिक उत्थान उसकी ऐतिहासिक स्मृति, सांस्कृतिक परम्पराओं और सामूहिक चेतना पर आधारित होता है। इसी कारण उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद को भारत की प्राचीन सांस्कृतिक विरासत, धार्मिक परम्पराओं तथा ऐतिहासिक अनुभवों से जोड़ने का प्रयास किया। उनके राष्ट्रवाद का अंतिम लक्ष्य स्वराज्य तथा राष्ट्रीय एकीकरण था। चूँकि उनका राष्ट्रवाद भारतीय जीवन के सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक सभी पक्षों को समाहित करता था।
यद्यपि तिलक भारतीय परम्पराओं के समर्थक थे, उनके राष्ट्रवाद पर आधुनिक पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का भी प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। उन्होंने जे. एस. मिल, मैजिनी, गैरीबाल्डी, एडमंड बर्क तथा बाद में विकसित राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्तों से प्रेरणा ग्रहण की। किन्तु उन्होंने इन विचारों का यांत्रिक अनुकरण नहीं किया, बल्कि उन्हें भारतीय परिस्थितियों और सांस्कृतिक संदर्भों के अनुरूप रूपायित किया। इस प्रकार उनका राष्ट्रवाद भारतीय परम्परा और आधुनिक राजनीतिक विचारों का सृजनात्मक समन्वय था।

तिलक के राष्ट्रवाद का एक महत्वपूर्ण पक्ष पुनरुत्थानवाद था। उनका पुनरुत्थानवाद अतीत की पुनर्स्थापना का आग्रह नहीं करता था, बल्कि भारत की सांस्कृतिक परम्पराओं से प्रेरणा लेकर राष्ट्रीय पुनर्जागरण का मार्ग प्रशस्त करना चाहता था। उनका विश्वास था कि वेद, उपनिषद, भगवद्गीता तथा भारतीय इतिहास में निहित आदर्श भारतीय समाज में नैतिक शक्ति, आत्मविश्वास और राष्ट्रीय चेतना का संचार कर सकते हैं। इसी उद्देश्य से उन्होंने भारतीय संस्कृति के स्वस्थ एवं सजीव तत्वों को राष्ट्रीय आन्दोलन का आधार बनाया।

भारतीय इतिहास के महापुरुषों में छत्रपति शिवाजी महाराज तिलक के लिए विशेष प्रेरणा के स्रोत थे। उन्होंने शिवाजी को केवल एक ऐतिहासिक शासक के रूप में नहीं, बल्कि साहस, स्वाभिमान और नेतृत्व के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया। शिवाजी उत्सव के माध्यम से उन्होंने जनता में राष्ट्रीय गौरव और ऐतिहासिक चेतना का विकास करने का प्रयास किया। इसी प्रकार उन्होंने सार्वजनिक गणपति उत्सव को सामाजिक और धार्मिक आयोजन से आगे बढ़ाकर जन-जागरण, राजनीतिक संगठन तथा राष्ट्रीय एकता का माध्यम बनाया। उनका मानना था कि मनुष्य स्वभावतः उत्सवप्रिय होता है; इसलिए उत्सव जनता को संगठित करने और सामूहिक चेतना विकसित करने के प्रभावी साधन बन सकते हैं। राष्ट्रवाद के विकास में प्रतीकों का

विशेष महत्व होता है, क्योंकि वे सीधे जनता की भावनाओं को स्पर्श करते हैं। तिलक ने गणपति और शिवाजी को ऐसे ही राष्ट्रीय प्रतीकों के रूप में स्थापित किया।

तिलक का राष्ट्रवाद केवल राजनीतिक नहीं, बल्कि आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक भी था। उनका विश्वास था कि जिस प्रकार प्रारम्भिक समाजों में व्यक्ति अपने समुदाय के प्रति निष्ठा रखता था, उसी प्रकार आधुनिक युग में राष्ट्र के प्रति निष्ठा राष्ट्रीय जीवन का आधार बनती है। इसलिए उन्होंने राष्ट्रवाद को केवल राजनीतिक सिद्धान्त न मानकर एक भावनात्मक और नैतिक बंधन के रूप में देखा, जो समूचे राष्ट्र को एकता के सूत्र में बाँधता है।

यद्यपि तिलक के राष्ट्रवाद में हिन्दू सांस्कृतिक प्रतीकों का व्यापक उपयोग दिखाई देता है, तथापि इसका उद्देश्य किसी एक समुदाय का प्रभुत्व स्थापित करना नहीं था। तिलक का राष्ट्रवाद हिंदू- मुस्लिम एकता अर्थात राष्ट्रीय एकता पर आधारित था। तिलक न तो सांप्रदायिक थे और नहीं भी हिंदू मुस्लिम विभाजन में विश्वास रखते थे। वे राष्ट्रीय आन्दोलन में सभी भारतीयों की सहभागिता के पक्षधर थे। लखनऊ समझौते (1916) के समर्थन तथा विभिन्न राजनीतिक नेताओं के साथ उनके सहयोग से यह स्पष्ट होता है कि वे राष्ट्रीय एकता को स्वतंत्रता संघर्ष की आवश्यक शर्त मानते थे। उनके लिए सांस्कृतिक पुनर्जागरण राष्ट्रीय संगठन का माध्यम था, न कि सामाजिक विभाजन का। तिलक का उद्देश्य राष्ट्रीय एकीकरण और स्वराज्य उनका अंतिम लक्ष्य था।

इस प्रकार तिलक का राष्ट्रवाद और पुनरुत्थानवाद परस्पर पूरक थे। उन्होंने भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं को आधुनिक राष्ट्रवाद से जोड़ते हुए राष्ट्रीय स्वाभिमान, जनसंगठन और राजनीतिक सक्रियता को स्वतंत्रता आन्दोलन की आधारशिला बनाया। यही कारण है कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास में उनका योगदान केवल एक राजनीतिक नेता के रूप में नहीं, बल्कि एक ऐसे विचारक के रूप में भी स्मरणीय है, जिसने संस्कृति और राजनीति के बीच एक सशक्त वैचारिक सेतु का निर्माण किया।

13.5 तिलक का राजनीतिक उग्रवाद

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक को भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में उग्रवादी राजनीति का प्रमुख प्रवर्तक माना जाता है। उनका विश्वास था कि विदेशी शासन से राजनीतिक अधिकार केवल प्रार्थना, निवेदन और याचिकाओं के माध्यम से प्राप्त नहीं किए जा सकते। उन्होंने अपने समाचार-पत्र 'केसरी' के माध्यम से विशेष रूप से लॉर्ड कर्जन की साम्राज्यवादी एवं निरंकुश नीतियों की तीखी आलोचना की। तिलक का मत था कि ब्रिटिश सरकार भारतीयों की न्यायोचित मांगों पर तब तक ध्यान नहीं देगी, जब तक उन मांगों को अधिकारपूर्वक और

संगठित जनदबाव के साथ प्रस्तुत नहीं किया जाएगा। इसलिए उन्होंने भारतीयों से आग्रह किया कि वे अपने अधिकारों को याचना के रूप में नहीं, बल्कि अपने वैध अधिकार के रूप में प्रस्तुत करें।

1905 के बंगाल विभाजन के पश्चात् तिलक को उग्र राष्ट्रवादी नेतृत्व का व्यापक अवसर प्राप्त हुआ। उन्होंने इस अवसर का उपयोग राष्ट्रीय आन्दोलन को अधिक व्यापक, संगठित और जनोन्मुख बनाने के लिए किया। उनका उद्देश्य ऐसा राष्ट्रव्यापी आन्दोलन खड़ा करना था जिसमें समाज के सभी वर्गों, जातियों और क्षेत्रों की सक्रिय भागीदारी हो तथा जो नगरों के साथ-साथ गाँवों तक भी पहुँचे। ब्रिटिश सरकार की दमनकारी नीतियों ने उग्रवादी आन्दोलन को और अधिक गति प्रदान की तथा तिलक द्वारा प्रतिपादित स्वराज्य का आदर्श राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रेरक सिद्धान्त बन गया।

तिलक ने अपने राजनीतिक कार्यक्रम को स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा तथा निष्क्रिय प्रतिरोध के चार प्रमुख आधारों पर संगठित किया। उनका विश्वास था कि भारतीय समाज की वास्तविक शक्ति उसकी संगठन क्षमता, आत्मनिर्भरता और आत्मविश्वास में निहित है। यदि भारतीय जनता संगठित होकर विदेशी शासन का नैतिक और आर्थिक प्रतिरोध करे, तो स्वराज्य की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। तिलक ने उदारवादी नेताओं द्वारा अपनाई गई संवैधानिक एवं प्रार्थनामूलक राजनीति की सीमाओं की भी आलोचना की। उनका मत था कि राजनीति में अधिकार संघर्ष के माध्यम से प्राप्त किए जाते हैं, न कि दया या उदारता के आधार पर। इसी भावना को व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा कि "हमारा उद्देश्य आत्मनिर्भरता है, भिक्षावृत्ति नहीं।" इस प्रकार उन्होंने भारतीयों में आत्मसम्मान, आत्मविश्वास और राजनीतिक सक्रियता का संचार करने का प्रयास किया।

यद्यपि तिलक को उग्रवादी नेता माना जाता है, तथापि उनका उग्रवाद हिंसा या अराजकता का पर्याय नहीं था। उन्होंने न तो सशस्त्र क्रान्ति का समर्थन किया और न ही बिना कारण सरकारी कानूनों की अवज्ञा को उचित माना। उनका स्पष्ट मत था कि यदि सरकार जनता के वैध राजनीतिक अधिकारों और राष्ट्रीय आन्दोलन में अनावश्यक बाधाएँ उत्पन्न न करे, तो कानून तोड़ने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। इसलिए उनका उग्रवाद मुख्यतः दृढ़ राजनीतिक प्रतिरोध, जनसंगठन, आत्मनिर्भरता तथा राष्ट्रीय अधिकारों की निर्भीक अभिव्यक्ति पर आधारित था, जिसने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को अधिक सक्रिय और संघर्षशील स्वरूप प्रदान किया।।

13.6 स्वराज्य की अवधारणा

तिलक की स्वराज्य की अवधारणा का आधार प्राचीन भारतीय राजनीतिक दर्शन था। उनके लिए स्वराज्य केवल एक राजनीतिक लक्ष्य नहीं, बल्कि जीवन का सर्वोच्च आदर्श और राष्ट्रीय अस्तित्व का मूल आधार था। यद्यपि 1906 के कलकत्ता अधिवेशन में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने स्वराज्य को अपने लक्ष्य के रूप में स्वीकार कर लिया था, किन्तु तिलक ने ही इस अवधारणा को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया, उसके विभिन्न आयामों की व्याख्या की तथा उसे जन-जन तक पहुँचाया। 1907 के सूरत अधिवेशन के बाद उन्होंने अपने प्रत्येक सार्वजनिक भाषण में यह उद्घोष दोहराया कि "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा।" तिलक के अनुसार स्वराज्य का अर्थ ऐसी शासन-व्यवस्था से है, जिसमें भारत के आंतरिक मामलों का संचालन और नियंत्रण भारतीय जनता के हाथों में हो। सरल शब्दों में, यह अपने देश के शासन का अधिकार स्वयं भारतीयों के पास होने की मांग थी।

उनके विचार में प्राचीन भारतीय राजनीतिक दर्शन का धर्मराज्य किसी धार्मिक राज्य (Theocratic State) का प्रतीक नहीं था, बल्कि ऐसी शासन-व्यवस्था का द्योतक था जिसमें राज्य की शक्तियाँ मर्यादित हों तथा उनका प्रयोग जनकल्याण और समाज के सर्वांगीण विकास के लिए किया जाए। वे एक ऐसी शासन व्यवस्था चाहते थे जिसमें सभी अधिकारी और कर्मचारी जनता के प्रति उत्तरदायी हो और अन्तिम सत्ता जनता के हाथ में हो। जब सरकार ने उन पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया, तो वकील के पूछने पर तिलक ने उत्तर दिया "गुलाम जाति के लिए स्वाधीनता की कामना करना न तो बुरा है और न कोई अपराध"। उन्होंने आह्वान किया कि भारतीयों को स्वराज्य के लिए त्याग करना होगा, कष्ट सहने होंगे और अपना सर्वस्व त्याग करना होगा। वास्तव में तिलक लोकतान्त्रिक स्वराज्य के प्रवर्तक विचारक थे। तिलक के प्रयासों से 1906 में कांग्रेस ने स्वराज्य का प्रस्ताव पारित किया। उदारवादी नेताओं जैसे गोखले, मेहता और बनर्जी ने इसका विरोध भी किया। 1907 में तिलक बहुमत के आधार पर उन्हें कांग्रेस से निकाल दिया गया। सरकार ने उन्हें 6 वर्ष का कारावास देकर माण्डले जेल में डाल दिया। मृत्यु के समय भी उन्होंने कहा कि स्वराज्य हमारे अस्तित्व के लिए अनिवार्य है। यदि स्वराज्य नहीं मिला, तो भारत समृद्ध नहीं हो सकता।

वे उदारवादियों की याचना, प्रार्थना आदि में विश्वास नहीं करते थे। उनका कहना था कि "स्वराज्य आज तक किसी विदेशी सत्ता द्वारा किसी अधीन राज्य को नहीं दिया गया है, इसका गवाह इतिहास है। जितने राष्ट्रों ने स्वराज्य प्राप्त किया है, उन्होंने अपने प्रयत्नों से ही प्राप्त किया है। याचिका की पद्धति को संघर्ष की पद्धति में बदलकर ही किसी राष्ट्र को आगे बढ़ने का अवसर मिल सकता है। तिलक उदारवादी विचारधारा के विरुद्ध इसलिए भी थे क्योंकि उदारवादीयों के अनुसार ब्रिटिश शासन एक दैविक शासन था तथा उसके द्वारा भारत का जो कल्याण हुआ है, वह उसके बिना सम्भव नहीं हो पता । बिटिश सरकार वह सब अधिकार हमें

देगी जिसके हम धीरे-धीरे अधिकारी होते जाएंगे। परन्तु तिलक के लिए स्वशासन का अधिकार एक प्राकृतिक अधिकार था।

तिलक स्वराज्य को राजनीतिक नहीं अपितु नैतिक आवश्यकता मानते थे। तिलक ने बंगाल विभाजन के समय तथा 1916 के लखनऊ अधिवेशन में दोहराया कि "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा। वे स्वराज्य का अर्थ स्वधर्म आचरण की स्वतन्त्रता से लगाते हैं। उनकी स्वराज्य को धारणा छत्रपति शिवाजी तथा सामी दयानन्द सरस्वती के जैसी ही है। तिलक इसे अन्तिम लक्ष्य नहीं अपितु स्वतन्त्रता को पूर्व स्थिति मानते थे। उन्होंने कहा, "जिस स्वराज्य का मैं वर्णन कर रहा हूँ,उसका तात्पर्य है जिससे जनता के कल्याण में उन्नति हो सके, स्वराज्य के प्रश्न का अर्थ वास्तव में यह है कि हमारे विषयों के ऊपर नियन्त्रण करने की शक्ति किसके हाथों में निहित हो। हमारी माँग यह है कि हमारा शासन प्रबन्ध नौकरशाही के हाथों में नहीं रहना चाहिए, वरन् उसे हमारे हाथों में आना चाहिए"। हम अपने शासन तन्त्र पर नियन्त्रण चाहते हैं, लिपिक नहीं बनना चाहते।" आगे उन्होंने कहा, "होम रूल लीग क्या चाहती है, वह यह कहना चाहती है कि तुम्हें अनुभव करना चाहिए कि तुम्हारा भाग्य पूर्णतया तुम्हारे हाथों में है। टी. बी. पर्वते ने तिलक को 'लोकतान्त्रिक स्वराज्य का प्रवर्तक' कहा है।

13.7 जन-राजनीति : स्वदेशी, बहिष्कार एवं राष्ट्रीय शिक्षा

बाल गंगाधर तिलक ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को जन-आन्दोलन का स्वरूप प्रदान करने के लिए स्वदेशी, बहिष्कार एवं राष्ट्रीय शिक्षा को अपने राजनीतिक कार्यक्रम के प्रमुख आधारों के रूप में अपनाया। उनका विश्वास था कि राजनीतिक स्वतंत्रता केवल राजनीतिक संघर्ष से ही नहीं, बल्कि आर्थिक आत्मनिर्भरता, राष्ट्रीय चेतना और जनसंगठन के माध्यम से भी प्राप्त की जा सकती है। अपने स्वराज्य की अवधारणा में यह भी बताया कि किन उपायों से हम स्वराज्य प्राप्त कर सकते हैं- राष्ट्रीय शिक्षा, बहिष्कार तथा स्वदेशी।

राष्ट्रीय शिक्षा: राष्ट्रीय शिक्षा उनके कार्यक्रम का मुख्य अंग था। उन्होंने पूना में 'न्यू इंग्लिश स्कूल' तथा 'फर्ग्युसन कॉलेज' की स्थापना की। तत्कालीन शिक्षा आयोग के अध्यक्ष डब्ल्यू. हण्टर ने 'न्यू इंग्लिश स्कूल के प्रति अपने विचार प्रकट करते हुए कहा था, "समस्त भारत में मैंने इस प्रकार की एक भी संस्था अभी तक नहीं देखी जिसकी इसके साथ तुलना की जा सके। यद्यपि इस संस्था को सरकार कोई सहायता नहीं देती है, तथापि वह न केवल सरकारी हाईस्कूलों से प्रतिद्वन्द्विता कर सकती है, अपितु अन्य देशों के स्कूलों से भी जीत सकती है।" शिक्षा प्रसार के लिए उन्होंने 'दक्षिण शिक्षा समाज' की भी स्थापना की। तिलक के अनुसार राष्ट्रीय शिक्षा का उद्देश्य ऐसी शिक्षा व्यवस्था स्थापित करना था, जिसका संचालन भारतीयों द्वारा भारतीयों के हित में किया जाए। वे सुलभ एवं गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के साथ-साथ ऐसी

नवीन शिक्षा प्रणाली के पक्षधर थे, जो विद्यार्थियों में राष्ट्रीय चेतना, आत्मनिर्भरता और सेवा-भाव का विकास करे। उनका विश्वास था कि राष्ट्रीय शिक्षा ऐसे युवाओं का निर्माण करे, जो राष्ट्रहित के प्रति समर्पित हों और जनसेवा में सक्रिय भूमिका निभा सकें। तिलक केवल धर्मनिरपेक्ष शिक्षा को पर्याप्त नहीं मानते थे; वे नैतिक एवं धार्मिक मूल्यों से युक्त शिक्षा के समर्थक थे। साथ ही, वे मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने तथा राजनीतिक जागरूकता और राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के लिए शिक्षा को अनिवार्य मानते थे।

बहिष्कार: स्वदेशी के साथ-साथ तिलक ने विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार को भी एक प्रभावी राजनीतिक हथियार माना। उनका विचार था कि यदि भारतीय जनता संगठित होकर ब्रिटिश वस्तुओं का बहिष्कार करे, तो इससे औपनिवेशिक शासन के आर्थिक हितों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा और भारतीयों की राजनीतिक माँगों की उपेक्षा करना सरकार के लिए कठिन हो जाएगा। इस प्रकार बहिष्कार उनके लिए आर्थिक प्रतिरोध के साथ-साथ राष्ट्रीय एकता का भी प्रतीक था। तिलक ने भारतीय जनता को अवज्ञा का सिद्धान्त भी प्रदान किया, जो स्वराज्य प्राप्ति में सहायक बना। तिलक राजनीतिक अधिकारी व सुधार के लिए सरकार पर दबाव डालना चाहते थे। इसके लिए वे बलिदान, त्याग के लिए भी तैयार थे। उनका मत था कि यदि स्वराज्य संवैधानिक साधनों से प्राप्त नहीं होता है, तो हिंसात्मक साधनों को महण करने में कोई बुराई नहीं है।

स्वदेशी: तिलक के अनुसार स्वदेशी केवल देश में निर्मित वस्तुओं के उपयोग तक सीमित नहीं था, बल्कि यह राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता, स्वाभिमान और आर्थिक पुनर्निर्माण का सिद्धान्त था। स्वदेशी आन्दोलन का अर्थ था- देश की बनी वस्तुओं का प्रयोग । उनहोंने स्वदेशी शिक्षा, स्वदेशी विचार तथा स्वदेशी जीवन-पद्धति आदि सभी क्षेत्रों में इसका पयोग किया। तिलक ने स्वदेशी आन्दोलन में विदेशी बहिष्कार भी जोड दिया। स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग किया जाए और विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया जाए-यह नारा तिलक ने दिया। उसके साथ तिलक ने कहा कि हमें अपने धर्म संस्कृति, भाषा और सभ्यता को पश्चिम से श्रेष्ठ समझना चाहिए और अपनी संस्कृति को अधिक महत्त्व देना चाहिए । उदारवादी पाश्चात्य भाषा और संस्कृति को अपनाने के पक्ष में थे, जिनका तिलक ने घोर विरोध किया। तिलक ने अनेक विद्यालय खोले और चन्दा इकट्ठा कर नये उद्योग-धन्धे भी प्रारम्भ कराए। तिलक वदेशी को अपनाने और विदेशी का बहिष्कार करने को एक सशक्त हथियार मानते थे। वे अपनी फौज भेजकर अंग्रेजों की सहायता करने के भी विरोधी थे। तिलक के विदेशी बहिष्कार को अपनाकर ही गांधीजी ने असहयोग आन्दोलन चलाया। यह असहयोग तिलक के बहिष्कार का ही नवीन संस्करण था। स्वदेशी आन्दोलन को जन-आन्दोलन बनाने के लिए तिलक ने स्वदेशी मेलों, दुकानों और प्रदर्शनियों के आयोजन को प्रोत्साहित किया तथा स्वदेशी उद्योगों और कुटीर उद्योगों के

विकास पर बल दिया। उनका विश्वास था कि आर्थिक आत्मनिर्भरता ही राजनीतिक स्वाधीनता की आधारशिला है।

13.8 तिलक का सामाजिक एवं धार्मिक चिंतन

तिलक के राजनीतिक चिंतन का आधार उनके आध्यात्मिक एवं धार्मिक दृष्टिकोण में निहित था। महात्मा गांधी की भाँति वे भी राजनीति को नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों से पृथक नहीं मानते थे। वे अद्वैत वेदान्त, ऋग्वेद, उपनिषदों तथा विशेष रूप से श्रीमद्भगवद्गीता से गहरे प्रभावित थे। उनका विश्वास था कि आत्मा सर्वोच्च सत्ता है तथा मनुष्य का कर्तव्य लोककल्याण के लिए सक्रिय कर्म करना है। उन्होंने गीता रहस्य में कर्मयोग की व्याख्या करते हुए निष्क्रिय संन्यास के स्थान पर कर्तव्यपालन और सक्रिय जीवन पर बल दिया। भारतीय संस्कृति और उसके दार्शनिक आदर्शों को वे राष्ट्रीय पुनर्जागरण का आधार मानते थे। तिलक के लिए धर्म का अर्थ किसी संकीर्ण धार्मिक व्यवस्था से नहीं, बल्कि ईश्वर, समाज और राष्ट्र के प्रति कर्तव्य का पालन था। उनका मानना था कि भारत की राष्ट्रीय एकता उसकी सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक परम्पराओं में निहित है; इसलिए धर्म राष्ट्रीय एकीकरण का प्रभावी माध्यम बन सकता है। इसी नैतिक आधार पर उन्होंने स्वराज्य और राष्ट्रीय आन्दोलन का समर्थन किया।

सामाजिक प्रश्नों के संदर्भ में तिलक को प्रायः रूढ़िवादी और समाज-सुधार विरोधी कहा जाता है, किन्तु यह आकलन पूर्णतः उचित नहीं है। यद्यपि वे राजा राममोहन राय की भाँति प्रत्यक्ष सामाजिक सुधार आन्दोलन के नेता नहीं थे, फिर भी वे बाल-विवाह के विरोधी, विधवा-विवाह, महिला अधिकारों तथा अस्पृश्यता-निवारण के समर्थक थे। उन्होंने मद्यपान और दहेज-प्रथा जैसी सामाजिक बुराइयों का भी विरोध किया। तिलक का मत था कि सामाजिक सुधार जन-सहमति, शिक्षा और सामाजिक जागरूकता के माध्यम से होने चाहिए, न कि कानून द्वारा जनता पर थोपे जाने चाहिए। वे राजनीतिक स्वतंत्रता को तत्कालीन भारत की प्राथमिक आवश्यकता मानते थे और उनका विश्वास था कि स्वतंत्र राष्ट्र ही प्रभावी सामाजिक सुधारों को स्थायी रूप से लागू कर सकता है। इस प्रकार तिलक का सामाजिक एवं धार्मिक चिंतन भारतीय सांस्कृतिक परम्परा, नैतिकता और राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के समन्वय पर आधारित था।

13.9 तिलक के राजनीतिक चिंतन का महत्त्व

बाल गंगाधर तिलक का भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन और आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन के विकास में अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वे उन आरम्भिक राष्ट्रीय नेताओं में थे जिन्होंने स्वराज्य को भारतीय राजनीति का केंद्रीय लक्ष्य बनाया तथा उसे जन-जन तक पहुँचाया। उनके लिए स्वराज्य केवल राष्ट्रीय आत्मसम्मान, आत्मनिर्भरता और स्वतंत्र

अस्तित्व का प्रतीक था। उन्होंने भारतीयों में आत्मविश्वास, आत्मबल, आत्मानुशासन तथा राष्ट्रीय कर्तव्य की भावना जागृत करने का निरंतर प्रयास किया।

तिलक का सबसे बड़ा योगदान यह था कि उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को सीमित अभिजात वर्ग की राजनीति से निकालकर व्यापक जन-आन्दोलन का स्वरूप दिया। गणपति उत्सव, शिवाजी उत्सव, स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा तथा होमरूल आन्दोलन जैसे माध्यमों के द्वारा उन्होंने जनता की प्रत्यक्ष भागीदारी सुनिश्चित की। इसी कारण उन्हें भारतीय जन-राजनीति के प्रारम्भिक निर्माताओं में गिना जाता है। उनके राजनीतिक चिंतन में आदर्शवाद और व्यावहारिक राजनीति का प्रभावी समन्वय दिखाई देता है। वे उग्र राष्ट्रवाद के समर्थक थे, किन्तु हिंसक क्रान्ति के पक्षधर नहीं थे। उनका विश्वास था कि संगठित जनशक्ति, आत्मनिर्भरता और नैतिक साहस के माध्यम से भी औपनिवेशिक शासन को चुनौती दी जा सकती है।

सामाजिक प्रश्नों पर तिलक का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत सावधानीपूर्ण था। वे सामाजिक सुधारों के विरोधी नहीं थे, किन्तु उनका मत था कि ऐसे सुधार समाज की सहमति, शिक्षा और जागरूकता के माध्यम से होने चाहिए। तत्कालीन परिस्थितियों में उन्होंने राजनीतिक स्वतंत्रता को राष्ट्रीय प्राथमिकता माना और इसे सामाजिक पुनर्निर्माण की आधारशिला के रूप में देखा। तिलक के व्यक्तित्व और नेतृत्व ने उनके समकालीनों को भी गहराई से प्रभावित किया। विट्ठलभाई पटेल ने उनके बारे में कहा था कि "राजनीति को आरामकुर्सी वाले राजनीतिज्ञों के कमरों से निकालकर जनता तक पहुँचाने का श्रेय लोकमान्य तिलक को है।" यह टिप्पणी उनके सबसे बड़े योगदान को स्पष्ट करती है। इसी प्रकार ऐनी बेसेण्ट ने तिलक के असाधारण नेतृत्व, राजनीतिक दूरदर्शिता और जनसमर्थन की सराहना की थी। समकालीन ब्रिटिश प्रशासन भी उन्हें भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के सबसे प्रभावशाली नेताओं में से एक मानता था, जो उनके बढ़ते राजनीतिक प्रभाव का प्रमाण है।

इस प्रकार बाल गंगाधर तिलक का योगदान केवल एक राष्ट्रवादी नेता के रूप में नहीं, बल्कि ऐसे राजनीतिक विचारक के रूप में भी महत्त्वपूर्ण है, जिसने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को वैचारिक स्पष्टता, जनाधार और संघर्षशील दिशा प्रदान की। स्वराज्य, राष्ट्रीय चेतना, जन-संगठन और सांस्कृतिक पुनर्जागरण के क्षेत्र में उनके योगदान ने भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन की आगामी दिशा निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

अभ्यास प्रश्न

1. गरम दल में लोकमान्य तिलक के साथ कौन-कौन शामिल थे?
2. 'भारतीय अशान्ति का जनक' किसे कहा जाता है?
3. ‘स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा’ का नारा किसने दिया ?
4. तिलक द्वारा प्रारंभ दोनों समाचार पत्र क्या थे ?

5. तिलक की सर्वोत्कृष्ट रचना क्या है?

13.10 सारांश

बाल गंगाधर तिलक आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन के ऐसे प्रमुख विचारक थे, जिन्होंने राष्ट्रवाद, स्वराज्य, जन-राजनीति और सांस्कृतिक चेतना को भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन के सशक्त आधारों में रूपांतरित किया। उनके राजनीतिक चिंतन में आदर्शवाद और यथार्थवाद का संतुलित समन्वय दिखाई देता है। उन्होंने भारतीय राजनीति को सीमित अभिजात वर्ग की परिधि से निकालकर सामान्य जनता तक पहुँचाया और स्वराज्य को राष्ट्रीय आन्दोलन का केंद्रीय लक्ष्य बनाया। विट्ठलभाई पटेल के शब्दों में, "राजनीति को आरामकुर्सी वाले राजनीतिज्ञों के कमरों से निकालकर जनता तक पहुँचाने का श्रेय लोकमान्य तिलक को है।"

तिलक केवल एक राजनीतिक नेता ही नहीं, बल्कि एक शिक्षक, पत्रकार, चिंतक और समाज-सुधार के समर्थक भी थे। केसरी और द मराठा के माध्यम से उन्होंने राजनीतिक चेतना का प्रसार किया तथा राष्ट्रीय शिक्षा, स्वदेशी और जनसंगठन को स्वतंत्रता संघर्ष के प्रभावी साधनों के रूप में स्थापित किया। सामाजिक क्षेत्र में उन्होंने बाल-विवाह, अस्पृश्यता तथा अन्य कुरीतियों का विरोध करते हुए सुधारों को जन-जागरूकता और सामाजिक सहमति के माध्यम से आगे बढ़ाने पर बल दिया। समकालीन भारत में भी तिलक के अनेक विचार प्रासंगिक प्रतीत होते हैं। आर्थिक आत्मनिर्भरता, स्वदेशी उद्योगों को प्रोत्साहन, राष्ट्रीय शिक्षा, सांस्कृतिक आत्मविश्वास तथा जनभागीदारी जैसे विषय आज भी सार्वजनिक नीति और राष्ट्रीय विकास के महत्त्वपूर्ण आयाम हैं। यद्यपि समय और परिस्थितियों के अनुसार उनके कुछ विचारों का पुनर्मूल्यांकन आवश्यक है, फिर भी भारतीय राष्ट्रवाद को जन-आन्दोलन का स्वरूप प्रदान करने, स्वराज्य की अवधारणा को लोकप्रिय बनाने तथा राष्ट्रीय आत्मसम्मान को जागृत करने में उनके योगदान का स्थान आधुनिक भारतीय इतिहास और राजनीतिक चिंतन में सदैव स्मरणीय रहेगा.

13.11 शब्दावली

बहिष्कार – विरोध के रूप में किसी वस्तु, संस्था या व्यवस्था का जानबूझकर त्याग करना।

पुनरुत्थानवाद – प्राचीन सांस्कृतिक एवं सामाजिक परम्पराओं से प्रेरणा लेकर उनके पुनर्जागरण पर बल देने वाला विचार।

जन-जागरण – जनता में सामाजिक, राजनीतिक और राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न करने की प्रक्रिया।

उदारवाद - एक विचारधारा जो व्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता, लोकतान्त्रिक शासन, राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं में क्रमिक सुधार पर बल देता है।

उग्रवाद – राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए संघर्ष, जनदबाव और सक्रिय उपायों का समर्थन करने वाली विचारधारा।

स्वराज्य – अपने देश का शासन स्वयं उसके नागरिकों द्वारा संचालित होने की व्यवस्था।

नरमपंथी – राजनीति में अतिवादी तरीकों का विरोध कर संयम की राजनीति करनेवाला।

राष्ट्रीय चेतना– राष्ट्र के प्रति एकता, उत्तरदायित्व और राष्ट्रीय हितों के प्रति जागरूकता की भावना।

स्वदेशी – देश में निर्मित वस्तुओं के उपयोग तथा स्वदेशी उद्योगों को प्रोत्साहन देने की नीति।

13.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. लाला लाजपत राय और बिपिन चन्द्र पाल 2. बाल गंगाधर तिलक 3. बाल गंगाधर तिलक 4. मराठा और केसरी 5. गीता-रहस्य

13.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Robert E. Upton, 2024 The Thought of Bal Gangadhar Tilak- An Intellectual Biography, Oxford University Press
2. Parimala V. Rao, 2010, Foundations of Tilak's Nationalism, Orient Black Swan
3. वी.पी.वर्मा , 2000, *आधुनिक भारतीय राजनीतिक एवं सामाजिक चिन्तक* , लक्ष्मी नारायण, आगरा .
4. ए. अवस्थी एवं आर. के. अवस्थी ,1996, *भारतीय राजनीतिक चिन्तन*, रिसर्च पब्लिकेशन्स , जयपुर
5. ए. अप्पादोराय , 2002, *पोलिटिकल थॉट इन इंडिया* , खामा पब्लिशर्स , दिल्ली.

13.14 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. ओ. पी. गाबा, 2005, *राजनीतिक विचारक विश्व कोश* , मयूर पेपर बैक , दिल्ली.
2. पुखराज जैन, 2012,*प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक* , एस.बी.पी.डी. पब्लिकेशन्स, आगरा

13.15 निबंधात्मक प्रश्न

1. बाल गंगाधर तिलक के राष्ट्रवाद एवं पुनरुत्थानवाद का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
2. बाल गंगाधर तिलक के स्वराज्य-दर्शन की व्याख्या कीजिए।
3. "बाल गंगाधर तिलक राजनीति में क्रान्तिकारी, किन्तु सामाजिक सुधारों के क्षेत्र में अनुदार थे।" इस कथन की समीक्षा कीजिए।
4. तिलक भारतीय अशान्ति के जनक थे।" इस कथन के आलोक में एक उग्रवादी विचारक के रूप में तिलक के योगदान की समीक्षा कीजिए।
5. तिलक की जन-राजनीति में स्वदेशी, बहिष्कार एवं राष्ट्रीय शिक्षा की भूमिका का विवेचन कीजिए।

इकाई 14 : दीनदयाल उपाध्याय

इकाई की संरचना

14.0 प्रस्तावना
14.1 उद्देश्य
14.2 दीनदयाल उपाध्याय: जीवन परिचय एवं कृतित्व
14.2.1 राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ एवं जनसंघ में भूमिका
14.2.2 कृतियाँ एवं पत्रकारिता
14.3 एकात्म मानववाद
14.3.1 एकात्म मानववाद: बौद्धिक उत्पत्ति एवं दार्शनिक आधार
14.3.2 एकात्म मानववाद के मूल सिद्धांत
14.4 चिति एवं राष्ट्र की सांस्कृतिक अवधारणा
14.5 विकेंद्रीकरण एवं स्वदेशी
14.6 दीनदयाल उपाध्याय के राजनीतिक चिंतन का समकालीन मूल्यांकन
14.7 सारांश
14.8 शब्दावली
14.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
14.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची
14.11 निबंधात्मक प्रश्न

14.0 प्रस्तावना

पंडित दीनदयाल उपाध्याय आधुनिक भारत के प्रमुख राजनीतिक विचारकों, समाज सुधारकों तथा सांस्कृतिक चिंतकों में अग्रणी स्थान रखते हैं। उन्होंने एकात्म मानव दर्शन (Integral Humanism) के माध्यम से विकास का ऐसा स्वदेशी मॉडल प्रस्तुत किया, जिसमें भौतिक प्रगति के साथ नैतिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों का समन्वय निहित है। उनके चिंतन का केंद्रीय तत्व अंत्योदय था, जिसका उद्देश्य समाज के अंतिम व्यक्ति का उत्थान सुनिश्चित करना था। इस दृष्टिकोण में सामाजिक न्याय, समावेशिता तथा जनकल्याणकारी शासन की नैतिक जिम्मेदारी पर विशेष बल दिया गया है।

दीनदयाल उपाध्याय ने स्वदेशी, विकेंद्रीकरण तथा मूल्याधारित राजनीति का समर्थन करते हुए भारत की सांस्कृतिक पहचान पर आधारित आत्मनिर्भर राष्ट्र की परिकल्पना प्रस्तुत की। उनका विश्वास था कि भारत का विकास उसकी सांस्कृतिक परम्पराओं, सामाजिक मूल्यों तथा राष्ट्रीय जीवन-दृष्टि के अनुरूप होना चाहिए। विविधताओं में निहित सांस्कृतिक एकता को राष्ट्रीय जीवन का आधार मानते हुए उन्होंने राष्ट्र-निर्माण की एक समग्र अवधारणा विकसित

की। यह इकाई पंडित दीनदयाल उपाध्याय के जीवन, उनके एकात्म मानव दर्शन, स्वदेशी एवं विकेंद्रीकरण संबंधी विचारों का विश्लेषण करते हुए समकालीन भारत में उनकी विचारधारा की प्रासंगिकता का अध्ययन प्रस्तुत करता है।

14.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप-

1. पंडित दीनदयाल उपाध्याय के जीवन एवं राजनीतिक चिंतन का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
2. एकात्म मानववाद दर्शन के मूल सिद्धांतों की व्याख्या कर सकेंगे।
3. स्वदेशी एवं विकेंद्रीकरण संबंधी उनके विचारों का विश्लेषण कर सकेंगे।
4. आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन में दीनदयाल उपाध्याय के योगदान का मूल्यांकन कर सकेंगे।

14.2 दीनदयाल उपाध्याय : जीवन परिचय एवं कृतित्व

पंडित दीनदयाल उपाध्याय (1916–1968) आधुनिक भारत के प्रमुख राजनीतिक विचारकों, दार्शनिकों तथा बुद्धिजीवियों में विशिष्ट स्थान रखते हैं। उन्होंने भारतीय संस्कृति, नैतिक मूल्यों और सभ्यतागत परम्पराओं पर आधारित राष्ट्र-निर्माण की ऐसी अवधारणा प्रस्तुत की, जिसमें भौतिक विकास के साथ आध्यात्मिक, नैतिक और सांस्कृतिक उन्नति का समन्वय निहित है। उनका विश्वास था कि भारत का विकास किसी विदेशी विचारधारा की नकल पर नहीं, बल्कि उसकी अपनी सांस्कृतिक चेतना और जीवन-दृष्टि पर आधारित होना चाहिए। इसी कारण उन्होंने भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप एक ऐसे वैचारिक मॉडल की आवश्यकता पर बल दिया, जो व्यक्ति, समाज और राष्ट्र- तीनों के संतुलित विकास का मार्ग प्रशस्त कर सके।

पंडित दीनदयाल उपाध्याय का जन्म 25 सितम्बर 1916 को उत्तर प्रदेश के मथुरा जनपद के नगला चन्द्रभान (वर्तमान दीनदयाल धाम) गाँव में हुआ। बाल्यावस्था में ही माता-पिता के निधन के कारण उन्हें अनेक कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। उनका पालन-पोषण उनके मामा के संरक्षण में हुआ, जहाँ सादगी, आत्मनिर्भरता, अनुशासन और सेवा के संस्कार उनके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन गए। जीवन के प्रारम्भिक संघर्षों ने उनमें समाज के वंचित और उपेक्षित वर्गों के प्रति संवेदनशीलता तथा लोककल्याण की गहरी भावना विकसित की।

दीनदयाल उपाध्याय प्रारम्भ से ही मेधावी छात्र थे। आर्थिक कठिनाइयों के बावजूद उन्होंने अपनी शिक्षा उत्कृष्ट प्रदर्शन के साथ पूरी की तथा विभिन्न छात्रवृत्तियाँ प्राप्त कीं। शिक्षा के दौरान उन्हें भारतीय समाज की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक चुनौतियों को निकट से समझने का अवसर मिला। छात्र जीवन में वे स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गांधी तथा डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार के विचारों से प्रभावित हुए। विवेकानन्द से उन्होंने राष्ट्र-जागरण और मानव-सेवा की प्रेरणा प्राप्त की, गांधी से सादगी, स्वावलम्बन और नैतिक जीवन का आदर्श ग्रहण

किया तथा डॉ. हेडगेवार से अनुशासित सामाजिक संगठन और राष्ट्र-सेवा की भावना का संस्कार प्राप्त किया। इन विविध प्रभावों ने उनके चिंतन को व्यापक और संतुलित आधार प्रदान किया।

इन्हीं अनुभवों के आधार पर दीनदयाल उपाध्याय ने एकात्म मानव दर्शन का प्रतिपादन किया। उनका मत था कि मनुष्य केवल आर्थिक प्राणी नहीं है; उसके व्यक्तित्व का विकास शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा के संतुलित विकास में निहित है। इसलिए किसी भी समाज या राज्य की सफलता केवल आर्थिक प्रगति से नहीं आँकी जा सकती, बल्कि उसके नैतिक मूल्यों, सांस्कृतिक चेतना और मानवीय संवेदनाओं से भी उसका मूल्यांकन होना चाहिए। इसी दृष्टिकोण से उन्होंने अंत्योदय की अवधारणा प्रस्तुत की, जिसके अनुसार विकास का वास्तविक मापदण्ड समाज के अंतिम व्यक्ति का कल्याण है।

भारतीय जनसंघ के प्रमुख वैचारिक सूत्रधार के रूप में दीनदयाल उपाध्याय ने धर्मराज्य, स्वदेशी, विकेंद्रीकरण तथा मूल्याधारित राजनीति का समर्थन किया। उनके लिए धर्मराज्य का अर्थ किसी धर्मविशेष पर आधारित राज्य नहीं था, बल्कि ऐसी शासन-व्यवस्था था जो न्याय, कर्तव्य, नैतिकता और लोककल्याण के सिद्धांतों पर संचालित हो। आज जब विकास, सांस्कृतिक पहचान, सामाजिक समरसता और सुशासन जैसे प्रश्न भारतीय लोकतंत्र के केंद्र में हैं, तब दीनदयाल उपाध्याय का चिंतन नई प्रासंगिकता प्राप्त करता है। यह इकाई उनके जीवन, एकात्म मानव दर्शन तथा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विचारों का अध्ययन प्रस्तुत करती है, जिससे आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन में उनके योगदान को समग्र रूप से समझा जा सके।

14.2.1 राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ एवं जनसंघ में भूमिका

1937 में बी.ए. की शिक्षा के दौरान दीनदयाल उपाध्याय राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संपर्क में आए। संघ के संस्थापक डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार के व्यक्तित्व और राष्ट्रसेवा के आदर्शों ने उनके सार्वजनिक जीवन को नई दिशा प्रदान की। शिक्षा पूर्ण करने के पश्चात् उन्होंने आजीवन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रचारक के रूप में कार्य किया। उन्होंने व्यक्तिगत सत्ता की अपेक्षा संगठन निर्माण, निःस्वार्थ सेवा और वैचारिक नेतृत्व को अधिक महत्व दिया। स्वतंत्रता आन्दोलन के अंतिम चरण में उत्तर प्रदेश में संघ के संगठन के विस्तार में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा। आगे चलकर उन्होंने भारतीय जनसंघ के माध्यम से सक्रिय राजनीतिक जीवन में प्रवेश किया और उसके प्रमुख वैचारिक सूत्रधार के रूप में प्रतिष्ठित हुए। जनसंघ के संस्थापक डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी उनकी संगठनात्मक क्षमता, बौद्धिक दक्षता और कार्यनिष्ठा से अत्यंत

प्रभावित थे। उन्होंने दीनदयाल उपाध्याय को भारतीय जनसंघ का प्रथम महासचिव नियुक्त किया, जहाँ उन्होंने संगठन के विस्तार और उसकी वैचारिक दिशा निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। बाद में वे भारतीय जनसंघ के अध्यक्ष भी बने। दीनदयाल उपाध्याय का मानना था कि सांस्कृतिक एकता राष्ट्रीय एकता का आधार है; इसलिए उन्होंने सांस्कृतिक चेतना और मूल्याधारित राजनीति पर विशेष बल दिया। उनके द्वारा प्रतिपादित एकात्म मानववाद को बाद के वर्षों में भारतीय जनता पार्टी ने भी अपनी प्रमुख वैचारिक प्रेरणाओं में स्थान दिया।

14.2.2 कृतियाँ एवं पत्रकारिता

एक कुशल लेखक, पत्रकार और मौलिक विचारक थे के रूप में उन्होंने साहित्य और पत्रकारिता को राष्ट्रीय चेतना और वैचारिक जागरण का प्रभावी साधन माना। वर्ष 1946 में उन्होंने 'सम्राट चंद्रगुप्त' नामक ऐतिहासिक उपन्यास की रचना की, जिसका उद्देश्य युवाओं में साहस, राष्ट्रभक्ति और नेतृत्व की भावना का विकास करना था। इसके बाद 1947 में उन्होंने 'जगद्गुरु शंकराचार्य' की रचना की। इस कृति में उन्होंने आदि शंकराचार्य के जीवन के माध्यम से भारतीय सांस्कृतिक एकता, आध्यात्मिक चेतना और कर्मप्रधान संन्यास की व्याख्या की। उनके अनुसार संन्यास का वास्तविक अर्थ संसार से पलायन नहीं, बल्कि समाज और राष्ट्र की निःस्वार्थ सेवा है।

पत्रकारिता के क्षेत्र में भी दीनदयाल उपाध्याय का महत्वपूर्ण योगदान रहा। उन्होंने 'राष्ट्रधर्म' (मासिक), 'पांचजन्य' (साप्ताहिक) तथा 'स्वदेश' (दैनिक) जैसे प्रकाशनों के संपादन और संचालन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से उन्होंने राष्ट्रीय जीवन, संस्कृति, राजनीति तथा सामाजिक समस्याओं पर अपने विचार व्यक्त किए। पत्रकारिता ने उन्हें स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद के भारतीय समाज, विभाजन की त्रासदी तथा सामाजिक-आर्थिक चुनौतियों का निकट से अध्ययन करने का अवसर प्रदान किया, जिसने उनके राजनीतिक चिंतन को और अधिक परिपक्व बनाया।

14.3 एकात्म मानववाद

दीनदयाल उपाध्याय की सर्वाधिक प्रसिद्ध वैचारिक देन 'एकात्म मानववाद' है, जिसे उन्होंने 1965 में मुंबई में दिए गए चार व्याख्यानों के माध्यम से प्रतिपादित किया। बाद में यही व्याख्यान पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए और आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन में उनकी सबसे महत्वपूर्ण कृति माने गए। इसी वर्ष भारतीय जनसंघ के विजयवाड़ा अधिवेशन में इसे दल की आधिकारिक विचारधारा के रूप में स्वीकार किया गया।

14.3.1 एकात्म मानववाद: बौद्धिक उत्पत्ति एवं दार्शनिक आधार

एकात्म मानववाद का प्रतिपादन ऐसे समय में हुआ जब स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत अपने विकास और राष्ट्र-निर्माण के लिए विभिन्न वैचारिक प्रतिमानों पर विचार कर रहा था। दीनदयाल उपाध्याय का मानना था कि भारत की आवश्यकताओं के अनुरूप एक ऐसी वैचारिक दृष्टि विकसित की जानी चाहिए, जिसका आधार भारतीय संस्कृति और सभ्यता हो। एक ओर देश नियोजित अर्थव्यवस्था और समाजवादी नीतियों से प्रभावित था, तो दूसरी ओर पश्चिमी आधुनिकता और औद्योगिक विकास के मॉडल को प्रगति का पर्याय माना जा रहा था। दीनदयाल उपाध्याय का मानना था कि भारत की समस्याओं का समाधान न तो पश्चिमी पूँजीवाद में निहित है और न ही साम्यवाद में; इसके लिए भारतीय संस्कृति और सभ्यता पर आधारित स्वतंत्र वैचारिक दृष्टि की आवश्यकता है।

इसी पृष्ठभूमि में उन्होंने एकात्म मानववाद को एक ऐसे वैकल्पिक दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया, जिसे सामान्यतः पूँजीवाद और साम्यवाद के मध्य "तीसरे मार्ग" के रूप में देखा जाता है। उनके अनुसार दोनों व्यवस्थाएँ मानव जीवन के केवल एक पक्ष को महत्व देती हैं। पूँजीवाद व्यक्ति की स्वतंत्रता और भौतिक समृद्धि पर अत्यधिक बल देता है, जबकि साम्यवाद समाज और राज्य को सर्वोपरि मानते हुए व्यक्ति की स्वतंत्रता को सीमित कर देता है। दीनदयाल उपाध्याय के मत में इन दोनों विचारधाराओं की मूल समस्या यह थी कि वे मनुष्य को केवल आर्थिक या भौतिक इकाई के रूप में देखती हैं। इसके विपरीत भारतीय दर्शन मनुष्य को शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा से निर्मित एक समग्र सत्ता के रूप में स्वीकार करता है।

एकात्म मानववाद का दार्शनिक आधार विविध बौद्धिक परम्पराओं के समन्वय में निहित है। इसकी मूल प्रेरणा भारतीय दार्शनिक परम्परा, विशेषकर वेद, उपनिषद, भगवद्गीता तथा वेदांत दर्शन से प्राप्त होती है। साथ ही, स्वामी विवेकानन्द और श्री अरविन्द के नव-वेदान्तवादी चिंतन ने भी उपाध्याय के विचारों को गहराई से प्रभावित किया। विशेष रूप से श्री अरविन्द द्वारा भौतिक और आध्यात्मिक विकास के समन्वय पर दिया गया बल, एकात्म मानववाद की मूल भावना से साम्य रखता है।

आधुनिक शोध यह भी संकेत करते हैं कि दीनदयाल उपाध्याय का चिंतन केवल भारतीय स्रोतों तक सीमित नहीं था। कुछ विद्वानों ने उनके विचारों में जैक्स मैरिटेन (Jacques Maritain) के Integral Humanism तथा एम. एन. रॉय के New Humanism से वैचारिक समानताओं की ओर संकेत किया है। यद्यपि उपाध्याय ने इन विचारकों का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं किया, फिर भी मानव के समग्र विकास, नैतिकता तथा समाज-केंद्रित दृष्टिकोण जैसे विषयों में कुछ समानताएँ देखी जा सकती हैं। तथापि उन्होंने इन विचारों को भारतीय

सांस्कृतिक और दार्शनिक संदर्भ में पुनर्व्याख्यायित करते हुए एक स्वतंत्र वैचारिक स्वरूप प्रदान किया।

दीनदयाल उपाध्याय ने अपने दर्शन को भारतीय पुरुषार्थ चतुष्टय—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—की अवधारणा पर आधारित किया। उनके अनुसार भारतीय संस्कृति जीवन को खंडों में नहीं, बल्कि एक समग्र इकाई के रूप में देखती है, जहाँ भौतिक समृद्धि और आध्यात्मिक उन्नति परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि पूरक हैं। इसी संदर्भ में उन्होंने 'यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे' के वैदिक सिद्धांत तथा 'चिति' (राष्ट्र की आत्मा) की अवधारणा को भी महत्वपूर्ण माना। 'यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे' का अर्थ है कि जो कुछ व्यक्ति (पिण्ड) में विद्यमान है, वही व्यापक जगत (ब्रह्माण्ड) में भी विद्यमान है। इस सिद्धांत के आधार पर दीनदयाल उपाध्याय व्यक्ति और समाज, तथा व्यक्ति और राष्ट्र के बीच मूलभूत एकात्मता और परस्पर संबंध को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक राष्ट्र की अपनी सांस्कृतिक चेतना होती है, जो उसके सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन को दिशा प्रदान करती है। इसलिए किसी भी राष्ट्र की प्रगति उसके अपने सांस्कृतिक स्वभाव और जीवन-दृष्टि के अनुरूप ही संभव है।

एकात्म मानववाद एक आर्थिक या राजनीतिक सिद्धांत होने के साथ ही, मनुष्य, समाज और राष्ट्र के समग्र विकास की एक ऐसी दार्शनिक दृष्टि है, जो भारतीय सांस्कृतिक परम्परा को आधार बनाते हुए आधुनिक युग की चुनौतियों का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास करती है। आधुनिक विद्वानों के अनुसार इसकी विशेषता इसी बात में निहित है कि यह भारतीय तथा पाश्चात्य वैचारिक परम्पराओं के चयनात्मक समन्वय के माध्यम से एक स्वतंत्र भारतीय विकास-दर्शन की स्थापना करती है।

14.3.2 एकात्म मानववाद के मूल सिद्धांत

दीनदयाल उपाध्याय के अनुसार आधुनिक युग की प्रमुख राजनीतिक एवं आर्थिक विचारधाराएँ—पूँजीवाद और साम्यवाद—मानव जीवन की अपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत करती हैं। उनके मत में पूँजीवाद मनुष्य को मुख्यतः एक "आर्थिक मनुष्य" (Economic Man) के रूप में देखता है, जिसकी भूमिका उत्पादन, उपभोग और बाज़ार तक सीमित हो जाती है। दूसरी ओर, साम्यवाद व्यक्ति को उसके वर्गीय अस्तित्व का एक अंग मानते हुए उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता, रुचि और सृजनात्मक क्षमता के विकास को पर्याप्त महत्व नहीं देता। दीनदयाल उपाध्याय का तर्क था कि यद्यपि इन दोनों विचारधाराओं के आधार भिन्न हैं, परन्तु दोनों अंततः सत्ता और संसाधनों के केंद्रीकरण की ओर अग्रसर होती हैं, जिससे व्यक्ति का समग्र व्यक्तित्व प्रभावित होता है।

इसी के प्रतिकार के रूप में उन्होंने 'एकात्म मानव' की अवधारणा प्रस्तुत की। उनके अनुसार मनुष्य केवल शरीर अथवा आर्थिक आवश्यकताओं का समूह नहीं है, बल्कि वह शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का समन्वित स्वरूप है। इसलिए किसी भी सामाजिक, राजनीतिक अथवा आर्थिक व्यवस्था का उद्देश्य केवल भौतिक समृद्धि प्राप्त करना नहीं होना चाहिए, बल्कि मानव व्यक्तित्व के इन सभी आयामों का संतुलित विकास सुनिश्चित करना होना चाहिए। उनके मत में आर्थिक प्रगति तभी सार्थक है, जब वह मनुष्य के नैतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास में भी सहायक हो।

दीनदयाल उपाध्याय ने मानव जीवन के इन चार आयामों को स्पष्ट करते हुए कहा कि शरीर मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं का प्रतिनिधित्व करता है, मन उसकी भावनाओं और सामाजिक संबंधों का, बुद्धि विवेक तथा निर्णय-क्षमता का, जबकि आत्मा उसके नैतिक और आध्यात्मिक जीवन का आधार है। यदि विकास केवल शरीर की आवश्यकताओं तक सीमित रह जाए और मन, बुद्धि तथा आत्मा की उपेक्षा कर दी जाए, तो वह विकास अपूर्ण रहेगा। इसी समग्र दृष्टि के कारण उनके दर्शन को एकात्म मानववाद कहा गया।

एकात्म मानववाद का दूसरा प्रमुख आधार धर्म की अवधारणा है। उपाध्याय ने धर्म को किसी संप्रदाय, पंथ अथवा संगठित धर्म के रूप में नहीं, बल्कि न्याय, कर्तव्य, नैतिकता और लोककल्याण पर आधारित सार्वभौमिक व्यवस्था के रूप में समझा। उन्होंने स्पष्ट किया कि धर्मराज्य का अर्थ धर्मतांत्रिक (Theocratic) राज्य नहीं है। उनके अनुसार धर्म वह नैतिक सिद्धांत है जो व्यक्ति, समाज और राज्य—तीनों का मार्गदर्शन करता है तथा विधि और शासन को भी नैतिक आधार प्रदान करता है।

एकात्म मानववाद का एक अन्य महत्वपूर्ण सिद्धांत राष्ट्र को एक जीवंत सांस्कृतिक इकाई के रूप में देखना है। दीनदयाल उपाध्याय ने राष्ट्र को केवल भौगोलिक सीमाओं, राजनीतिक संस्थाओं अथवा संवैधानिक व्यवस्था का परिणाम नहीं माना। उनके अनुसार प्रत्येक राष्ट्र की एक विशिष्ट 'चिति' होती है, जो उसकी सांस्कृतिक चेतना, जीवन-मूल्यों और ऐतिहासिक अनुभवों का प्रतिनिधित्व करती है। यही चिति राष्ट्र को उसकी विशिष्ट पहचान प्रदान करती है तथा उसकी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक संस्थाओं को दिशा देती है।

उपाध्याय के अनुसार जिस प्रकार आत्मा मानव शरीर को चेतना प्रदान करती है, उसी प्रकार चिति राष्ट्र का प्राणतत्त्व है। राष्ट्र की बाह्य संस्थाएँ समय के साथ परिवर्तित हो सकती हैं, किन्तु उसकी चिति निरंतर बनी रहती है और विभिन्न ऐतिहासिक परिवर्तनों के बीच भी उसकी सांस्कृतिक निरंतरता को बनाए रखती है। उनके मत में भारत की राष्ट्रीय एकता का आधार

केवल संविधान या राजनीतिक सत्ता नहीं, बल्कि उसकी दीर्घकालीन सांस्कृतिक चेतना और सभ्यतागत विरासत है। चिति की इस अवधारणा का विस्तृत विवेचन आगे 'राष्ट्र की सांस्कृतिक अवधारणा' शीर्षक के अंतर्गत किया गया है।

इसी कारण दीनदयाल उपाध्याय राजनीति और अर्थव्यवस्था को मूल्य-निरपेक्ष क्षेत्र नहीं मानते थे। उनका विचार था कि शासन, कानून और आर्थिक नीतियों का उद्देश्य केवल शक्ति-संचय या अधिकतम उत्पादन नहीं होना चाहिए, बल्कि समाज में न्याय, संतुलन और लोककल्याण की स्थापना होना चाहिए। उनके अनुसार आर्थिक प्रश्न भी अंततः नैतिक प्रश्न हैं, क्योंकि उनका प्रत्यक्ष संबंध मानव जीवन और सामाजिक व्यवस्था से है।

इस प्रकार एकात्म मानववाद मानव, समाज और राज्य के बीच संतुलन स्थापित करने वाली समन्वयवादी विचारधारा है। यह न तो पूँजीवाद के व्यक्तिवाद को स्वीकार करती है और न ही साम्यवाद के अतिसामूहिक दृष्टिकोण को। इसके स्थान पर यह मानव के समग्र विकास, नैतिक राजनीति और मूल्याधारित सामाजिक व्यवस्था का समर्थन करती है। विकेंद्रीकरण, स्वदेशी, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद तथा 'चिति' जैसी अवधारणाएँ इसी व्यापक दार्शनिक दृष्टि की व्यावहारिक अभिव्यक्तियाँ हैं, जिनका विवेचन आगामी अनुभागों में किया गया है।

14.4 चिति एवं राष्ट्र की सांस्कृतिक अवधारणा

दीनदयाल उपाध्याय के राष्ट्र संबंधी विचार उनके एकात्म मानववाद का स्वाभाविक विस्तार हैं। जिस प्रकार उन्होंने मनुष्य को केवल शरीर नहीं, बल्कि शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का समन्वित स्वरूप माना, उसी प्रकार राष्ट्र को भी उन्होंने केवल भौगोलिक सीमा, राजनीतिक व्यवस्था अथवा संवैधानिक संस्था के रूप में स्वीकार नहीं किया। उनके अनुसार राष्ट्र एक जीवंत सांस्कृतिक इकाई है, जिसकी अपनी चेतना, व्यक्तित्व और विकास की दिशा होती है। इसी चेतना को उन्होंने 'चिति' की संज्ञा दी।

इन्हीं विचारों के आधार पर उन्होंने 'चिति' की अवधारणा का प्रतिपादन किया। उपाध्याय के अनुसार जिस प्रकार आत्मा मानव शरीर को चेतना और जीवन प्रदान करती है, उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र की भी एक आत्मा होती है, जिसे उन्होंने चिति कहा। राष्ट्र की राजनीतिक व्यवस्था, शासन-प्रणाली, आर्थिक संस्थाएँ अथवा सामाजिक संरचनाएँ समय के साथ बदल सकती हैं, किन्तु उसकी चिति उसके मूल व्यक्तित्व और सांस्कृतिक निरंतरता को बनाए रखती है। इस दृष्टि से भारत का अस्तित्व केवल आधुनिक राज्य या संविधान की देन नहीं है, बल्कि उसकी राष्ट्रीय चेतना सहस्राब्दियों से विकसित होती हुई एक सतत सांस्कृतिक परंपरा का परिणाम है।

उपाध्याय ने चिति और संस्कृति के बीच भी महत्वपूर्ण अंतर स्पष्ट किया। उनके अनुसार संस्कृति स्थिर नहीं होती; वह इतिहास, सामाजिक परिस्थितियों, आर्थिक परिवर्तन तथा बाहरी प्रभावों के कारण निरंतर विकसित और परिवर्तित होती रहती है। इसके विपरीत चिति राष्ट्र का मूल और स्थायी तत्त्व है, जो उसकी पहचान और विकास की दिशा निर्धारित करता है। दूसरे शब्दों में, संस्कृति राष्ट्र की अभिव्यक्ति है, जबकि चिति उसकी आधारभूत चेतना है। यही कारण है कि एक ही राष्ट्र की संस्कृति समय के साथ अनेक रूप ग्रहण कर सकती है, परन्तु उसकी चिति उसे एक निरंतरता प्रदान करती रहती है।

दीनदयाल उपाध्याय के अनुसार चिति केवल राष्ट्र की आत्मा ही नहीं, बल्कि उसके नैतिक मूल्यांकन की कसौटी भी है। उन्होंने कहा कि किसी समाज के विचार, संस्थाएँ और आचरण तभी संस्कृति का अंग बनते हैं, जब वे राष्ट्र की चिति के अनुरूप हों। जो तत्व राष्ट्र की मूल चेतना, नैतिक मूल्यों और सांस्कृतिक जीवन के अनुकूल होते हैं, उन्हें समाज स्वीकार करता है और उनका विकास होता है। इसके विपरीत जो तत्व चिति के विरुद्ध होते हैं, वे विकृति के रूप में देखे जाते हैं और अंततः त्याज्य हो जाते हैं। इस प्रकार चिति राष्ट्र के सांस्कृतिक विकास की दिशा निर्धारित करने वाला मूल मानदंड बन जाती है।

दीनदयाल उपाध्याय का मत था कि केवल किसी निश्चित भूभाग पर लोगों का निवास कर लेना राष्ट्र के निर्माण के लिए पर्याप्त नहीं है। इस तर्क को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने अनेक ऐतिहासिक उदाहरण प्रस्तुत किए। उनके अनुसार प्राचीन यूनान, मिस्र, बेबीलोन और सीरिया जैसी महान सभ्यताएँ अपने समय में संगठित समाज थीं, किन्तु समय के साथ उनका राष्ट्रीय अस्तित्व समाप्त हो गया, जबकि वहाँ के लोग उसी भूभाग पर रहते रहे। दूसरी ओर, उन्होंने यहूदियों का उदाहरण देते हुए कहा कि वे सदियों तक विभिन्न देशों में बिखरे रहने के बावजूद अपनी राष्ट्रीय पहचान बनाए रखने में सफल रहे। इससे उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि राष्ट्र का आधार केवल भूमि या राजनीतिक सत्ता नहीं, बल्कि उससे कहीं अधिक गहरा सांस्कृतिक और आध्यात्मिक तत्व है।

इसी संदर्भ में उपाध्याय ने राष्ट्र को एक जीवमान (Living Organism) के रूप में देखा। उनके अनुसार जिस प्रकार मनुष्य के अस्तित्व के लिए शरीर के साथ मन, बुद्धि और आत्मा आवश्यक हैं, उसी प्रकार राष्ट्र भी केवल जनसंख्या और भूभाग का नाम नहीं है। उन्होंने राष्ट्र के चार प्रमुख तत्त्व बताए। पहला तत्त्व देश है, जिसमें भूमि और उस पर निवास करने वाला जनसमुदाय सम्मिलित है। दूसरा तत्त्व संकल्प है, अर्थात् राष्ट्र के प्रति लोगों की सामूहिक इच्छा, निष्ठा और एक साथ रहने का संकल्प। तीसरा तत्त्व धर्म है, जिसका आशय किसी संप्रदाय विशेष से नहीं, बल्कि उन नैतिक सिद्धांतों और सामाजिक मर्यादाओं से है जो राष्ट्र के

जीवन को दिशा प्रदान करते हैं। चौथा तत्त्व जीवन-आदर्श है, जो राष्ट्र के सांस्कृतिक मूल्यों, ऐतिहासिक अनुभवों और सामूहिक आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करता है। उपाध्याय का मत था कि इन चारों तत्त्वों के समन्वय से ही राष्ट्र का निर्माण होता है; इनमें से किसी एक के अभाव में राष्ट्र की संपूर्णता संभव नहीं है।

उपाध्याय का यह भी मत था कि राज्य राष्ट्र का पर्याय नहीं है। राज्य राष्ट्र की अनेक संस्थाओं में से एक महत्वपूर्ण संस्था अवश्य है, किन्तु वह राष्ट्र से ऊपर नहीं है। राष्ट्र की वास्तविक शक्ति उसकी सांस्कृतिक चेतना, सामाजिक संगठन और साझा जीवन-मूल्यों में निहित होती है। इसलिए किसी राष्ट्र की स्थिरता केवल राजनीतिक सत्ता से नहीं, बल्कि उसकी चिति के संरक्षण और विकास से सुनिश्चित होती है। इस प्रकार चिति एवं राष्ट्र की सांस्कृतिक अवधारणा दीनदयाल उपाध्याय के राजनीतिक चिंतन का केंद्रीय आधार है। यह अवधारणा राष्ट्र को केवल राजनीतिक या संवैधानिक इकाई के रूप में नहीं, बल्कि साझा सांस्कृतिक चेतना, नैतिक मूल्यों और ऐतिहासिक निरंतरता से निर्मित जीवंत समुदाय के रूप में देखने का आग्रह करती है। इसी कारण उनके राष्ट्रवाद का आधार जातीय, भाषाई अथवा धार्मिक एकरूपता नहीं, बल्कि सांस्कृतिक एकात्मता और 'विविधता में एकता' की भारतीय परंपरा है।

14.5 विकेंद्रीकरण एवं स्वदेशी

दीनदयाल उपाध्याय के आर्थिक चिंतन में विकेंद्रीकरण और स्वदेशी का विशेष स्थान है। यदि एकात्म मानववाद उनके दर्शन का वैचारिक आधार है, तो विकेंद्रीकरण और स्वदेशी उसके व्यावहारिक आर्थिक आयाम हैं। उनका मानना था कि किसी भी आर्थिक व्यवस्था का उद्देश्य केवल उत्पादन और आर्थिक वृद्धि नहीं होना चाहिए, बल्कि ऐसी व्यवस्था का निर्माण होना चाहिए जो मानव गरिमा, आत्मनिर्भरता तथा सामाजिक न्याय को सुनिश्चित करे। इसी कारण उन्होंने पूँजीवाद और साम्यवाद—दोनों की आर्थिक संरचनाओं की आलोचना करते हुए भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप एक वैकल्पिक विकास-दृष्टि प्रस्तुत की।

दीनदयाल उपाध्याय के अनुसार पूँजीवाद और साम्यवाद दोनों ही आर्थिक शक्ति के केंद्रीकरण को बढ़ावा देते हैं, यद्यपि उनके तरीके भिन्न हैं। पूँजीवाद में उत्पादन के साधन कुछ निजी पूँजीपतियों के हाथों में केंद्रित हो जाते हैं, जबकि साम्यवाद में उनका नियंत्रण राज्य के हाथों में चला जाता है। उपाध्याय का मत था कि दोनों ही परिस्थितियों में व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा सृजनशीलता प्रभावित होती है। इसलिए उन्होंने ऐसी अर्थव्यवस्था का समर्थन किया जिसमें उत्पादन, स्वामित्व और आर्थिक निर्णय समाज के विभिन्न स्तरों पर वितरित हों, ताकि न तो निजी एकाधिकार स्थापित हो और न ही राज्य का अत्यधिक नियंत्रण।

इसी संदर्भ में उन्होंने पूँजी और श्रम के संबंध पर भी विचार प्रस्तुत किए। उनके अनुसार पूँजीवादी व्यवस्था में लाभ का अधिकांश भाग पूँजी और उद्यम का परिणाम मानकर पूँजीपतियों को दिया जाता है, जबकि साम्यवादी व्यवस्था श्रम को ही उत्पादन का एकमात्र वास्तविक आधार मानती है। दीनदयाल उपाध्याय ने इन दोनों दृष्टिकोणों को एकांगी माना। उनका तर्क था कि पूँजी और श्रम परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि पूरक हैं। उत्पादन की प्रक्रिया दोनों के सहयोग से ही संभव होती है, इसलिए आर्थिक व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जिसमें दोनों के मध्य संतुलन और सहयोग स्थापित हो, न कि संघर्ष।

उपाध्याय ने आधुनिक औद्योगिक अर्थव्यवस्था की एक अन्य प्रवृत्ति की भी आलोचना की। उनका मत था कि स्वस्थ अर्थव्यवस्था में माँग उत्पादन को दिशा देती है, किन्तु आधुनिक उपभोक्तावादी व्यवस्था में यह क्रम उलट गया है। पहले वस्तुओं का बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जाता है और फिर विज्ञापन तथा विपणन के माध्यम से उनके लिए कृत्रिम माँग उत्पन्न की जाती है। उनके अनुसार इस प्रक्रिया से उपभोग जीवन का उद्देश्य बन जाता है तथा समाज अनावश्यक उपभोग और संसाधनों के अपव्यय की ओर अग्रसर होता है। उन्होंने संयमित उपभोग, बचत और उत्पादन के बीच संतुलन स्थापित करने पर बल दिया तथा माना कि आर्थिक विकास का आधार वास्तविक आवश्यकताएँ होनी चाहिए, न कि कृत्रिम उपभोग।

इसी दृष्टिकोण के आधार पर दीनदयाल उपाध्याय ने स्वदेशी को केवल विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार तक सीमित नहीं रखा। उनके अनुसार स्वदेशी आत्मनिर्भरता, आत्मसम्मान और स्थानीय संसाधनों के विवेकपूर्ण उपयोग का सिद्धांत है। इसका उद्देश्य विदेशी पूँजी, प्रौद्योगिकी या वस्तुओं का पूर्ण निषेध नहीं, बल्कि यह सुनिश्चित करना है कि भारत का आर्थिक विकास उसकी अपनी आवश्यकताओं, संसाधनों और सामाजिक संरचना के अनुरूप हो। वे मानते थे कि बिना विचार किए विदेशी विकास मॉडल अपनाने से आर्थिक निर्भरता बढ़ती है और स्थानीय उत्पादन तथा कौशल कमजोर पड़ते हैं। इसलिए स्वदेशी उनके लिए आर्थिक नीति होने के साथ-साथ राष्ट्रीय स्वाभिमान और सांस्कृतिक आत्मविश्वास का भी प्रतीक था।

दीनदयाल उपाध्याय ने प्रौद्योगिकी के प्रश्न पर भी संतुलित दृष्टिकोण अपनाया। वे मशीनों या औद्योगीकरण के विरोधी नहीं थे, किन्तु उनका मत था कि किसी भी तकनीक का चयन देश की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए। भारत जैसे श्रम-प्रधान और पूँजी-अल्प देश में यदि पूँजी-प्रधान तकनीक को बिना किसी परिवर्तन के अपनाया जाएगा, तो उत्पादन तो बढ़ सकता है, परंतु व्यापक रोजगार के अवसर उत्पन्न नहीं होंगे। इसी कारण उन्होंने 'भारतीय प्रौद्योगिकी' की अवधारणा प्रस्तुत की, जिसका आशय ऐसी तकनीक से था जो भारत के संसाधनों, श्रम-शक्ति और विकास की आवश्यकताओं के अनुरूप

हो। इस दृष्टि से वे महात्मा गांधी के निकट दिखाई देते हैं, किन्तु गांधी की भाँति उन्होंने मशीनों का पूर्ण विरोध नहीं किया। उनके अनुसार मशीनें मानव श्रम का स्थान लेने के बजाय उसकी उत्पादकता और क्षमता को बढ़ाने का माध्यम बननी चाहिए।

इसी विचार के आधार पर उन्होंने कुटीर एवं लघु उद्योगों तथा विकेंद्रीकृत उत्पादन व्यवस्था का समर्थन किया। उनका मानना था कि भारत जैसे विशाल और श्रम-समृद्ध देश में लघु उद्योग न केवल अधिक रोजगार उपलब्ध करा सकते हैं, बल्कि आर्थिक शक्ति के केंद्रीकरण को भी रोक सकते हैं। इसके साथ ही उन्होंने स्थानीय समुदायों की भागीदारी, सहकारिता तथा ग्राम-स्तरीय संस्थाओं को आर्थिक विकास का महत्वपूर्ण आधार माना। उनके अनुसार आर्थिक विकास तभी सार्थक होगा जब उसका लाभ समाज के अंतिम व्यक्ति तक पहुँचे और स्थानीय समुदाय अपने संसाधनों तथा आजीविका पर पर्याप्त नियंत्रण बनाए रखें।

इस प्रकार, दीनदयाल उपाध्याय के लिए विकेंद्रीकरण और स्वदेशी केवल आर्थिक नीतियाँ नहीं थे, बल्कि एकात्म मानववाद की व्यावहारिक अभिव्यक्ति थे। उनका विश्वास था कि भारत की आर्थिक व्यवस्था का निर्माण उसकी अपनी सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक परम्पराओं और मानवीय आवश्यकताओं के अनुरूप होना चाहिए। ऐसी व्यवस्था ही आत्मनिर्भर, रोजगारोन्मुख, न्यायपूर्ण तथा मानवीय विकास का आधार बन सकती है।

14.6 दीनदयाल उपाध्याय के राजनीतिक चिंतन का समकालीन मूल्यांकन

दीनदयाल उपाध्याय के एकात्म मानववाद का प्रभाव केवल उनके जीवनकाल तक सीमित नहीं रहा, बल्कि भारतीय राजनीति, विशेषकर भारतीय जनसंघ और उसके उत्तराधिकारी भारतीय जनता पार्टी की वैचारिक दिशा पर भी दिखाई देता है। भारतीय जनसंघ ने 1965 में एकात्म मानववाद को अपनी आधिकारिक विचारधारा के रूप में स्वीकार किया। इसके पश्चात् पार्टी की आर्थिक नीतियों में स्वदेशी, विकेंद्रीकरण तथा कुटीर एवं लघु उद्योगों को विशेष महत्व दिया गया। जनसंघ का मत था कि भारत की आर्थिक प्रगति का आधार आत्मनिर्भरता, स्थानीय उत्पादन तथा ग्रामीण अर्थव्यवस्था का सुदृढ़ीकरण होना चाहिए। इस प्रकार एकात्म मानववाद केवल एक दार्शनिक अवधारणा न रहकर आर्थिक एवं राजनीतिक नीति का भी आधार बना।

1980 में भारतीय जनता पार्टी के गठन के बाद भी एकात्म मानववाद को पार्टी की वैचारिक प्रेरणा के रूप में स्वीकार किया गया। यद्यपि समय के साथ बदलती राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों के कारण पार्टी की नीतियों में परिवर्तन दिखाई देता है, फिर भी दीनदयाल उपाध्याय के विचार सार्वजनिक विमर्श का महत्त्वपूर्ण हिस्सा बने रहे। विशेष रूप से 1991 के

आर्थिक उदारीकरण के समय भारतीय जनता पार्टी ने विदेशी आर्थिक निर्भरता तथा अनियंत्रित वैश्वीकरण के प्रति अपनी आशंकाएँ व्यक्त करते हुए स्वदेशी और राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता की आवश्यकता पर बल दिया।

समकालीन भारत में भी दीनदयाल उपाध्याय के अनेक विचारों की प्रतिध्वनि विभिन्न सरकारी कार्यक्रमों में दिखाई देती है। अंत्योदय की अवधारणा को समाज के अंतिम व्यक्ति तक विकास के लाभ पहुँचाने के सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। प्रधानमंत्री जन-धन योजना जैसी वित्तीय समावेशन योजनाओं को इसी दृष्टिकोण से जोड़ा गया है। इसी प्रकार आत्मनिर्भर भारत अभियान में स्वदेशी, स्थानीय उत्पादन तथा घरेलू उद्योगों को प्रोत्साहन देने की भावना दिखाई देती है। स्वच्छ भारत अभियान, डिजिटल इंडिया तथा स्टार्टअप इंडिया जैसी योजनाओं को भी अनेक विद्वान भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप विकास और जनकल्याण की व्यापक अवधारणा से जोड़कर देखते हैं।

इसके साथ ही दीनदयाल उपाध्याय के राजनीतिक चिंतन को लेकर अनेक विद्वानों ने कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी उठाए हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और चिति की उनकी अवधारणा भारतीय सभ्यता की सांस्कृतिक निरंतरता को रेखांकित करती है, जबकि अन्य विद्वानों का मानना है कि व्यवहार में इसकी व्याख्या कभी-कभी बहुसंख्यक सांस्कृतिक पहचान से जुड़ जाती है, जिससे भारतीय बहुलतावाद की प्रकृति पर बहस उत्पन्न होती है। इसी प्रकार यह भी प्रश्न उठाया गया है कि स्वदेशी और विकेंद्रीकरण पर आधारित आर्थिक दृष्टि को वैश्वीकरण, प्रत्यक्ष विदेशी निवेश तथा बड़े पैमाने के औद्योगिक विकास के साथ किस प्रकार संतुलित किया जाए।

कुछ राजनीतिक विश्लेषकों ने यह भी संकेत किया है कि दीनदयाल उपाध्याय ने ग्राम-आधारित विकास, स्थानीय स्वशासन और विकेंद्रीकरण पर बल दिया था, जबकि समकालीन शासन व्यवस्था में अनेक योजनाओं का क्रियान्वयन अपेक्षाकृत अधिक केंद्रीकृत ढंग से होता है। इस कारण यह प्रश्न भी विचारणीय है कि उनके विचारों को वर्तमान परिस्थितियों में किस सीमा तक व्यवहारिक रूप से लागू किया गया है और किस सीमा तक उनका पुनर्व्याख्यान किया गया है।

इन बहसों के बावजूद दीनदयाल उपाध्याय का राजनीतिक चिंतन आधुनिक भारतीय राजनीतिक विचारधारा में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उन्होंने भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप विकास, शासन और राष्ट्र-निर्माण का एक वैकल्पिक वैचारिक प्रतिमान प्रस्तुत किया, जिसमें नैतिकता, सांस्कृतिक चेतना, आत्मनिर्भरता और मानव-केंद्रित विकास पर विशेष बल

दिया गया। आज भी उनके विचार केवल ऐतिहासिक महत्व के कारण नहीं, बल्कि विकास, सुशासन, सामाजिक न्याय और सांस्कृतिक पहचान जैसे समकालीन प्रश्नों पर विचार-विमर्श के महत्वपूर्ण आधार के रूप में प्रासंगिक बने हुए हैं।

अभ्यास प्रश्न

6. एकात्म मानववाद का प्रतिपादन दीनदयाल उपाध्याय ने किस वर्ष किया था?
7. दीनदयाल उपाध्याय द्वारा प्रतिपादित राष्ट्र की आत्मा को किस नाम से जाना जाता है?
8. दीनदयाल उपाध्याय के दर्शन का केंद्रीय उद्देश्य समाज के अंतिम व्यक्ति के उत्थान को क्या कहा गया है?
9. दीनदयाल उपाध्याय के अनुसार मानव व्यक्तित्व के चार आयामों में अंतिम आयाम क्या है?
10. दीनदयाल उपाध्याय किस राजनीतिक दल के प्रथम महासचिव थे?

14.7 सारांश

पंडित दीनदयाल उपाध्याय आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन के प्रमुख विचारकों में अग्रणी स्थान रखते हैं। उन्होंने एकात्म मानववाद के माध्यम से भारतीय संस्कृति, नैतिकता और आध्यात्मिक परम्पराओं पर आधारित ऐसे विकास-दर्शन का प्रतिपादन किया, जो मानव, समाज और राष्ट्र के समग्र विकास पर बल देता है। उनका मानना था कि भारत की समस्याओं का समाधान केवल पाश्चात्य राजनीतिक और आर्थिक विचारधाराओं के अनुकरण से संभव नहीं है, बल्कि भारतीय जीवन-दृष्टि, सांस्कृतिक मूल्यों और सामाजिक वास्तविकताओं के अनुरूप वैकल्पिक चिंतन विकसित करना आवश्यक है।

दीनदयाल उपाध्याय ने पूँजीवाद और साम्यवाद दोनों की सीमाओं की ओर संकेत करते हुए स्वदेशी, विकेंद्रीकरण, धर्माधारित नैतिक व्यवस्था तथा सांस्कृतिक राष्ट्रवाद जैसे सिद्धांतों के माध्यम से भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल विकास का एक वैकल्पिक मॉडल प्रस्तुत किया। उनके विचारों का उद्देश्य केवल आर्थिक समृद्धि नहीं, बल्कि व्यक्ति की गरिमा, सामाजिक समरसता, नैतिक जीवन तथा राष्ट्रीय एकता की स्थापना था।

समकालीन भारत में आत्मनिर्भरता, समावेशी विकास, सुशासन, सांस्कृतिक पहचान तथा सतत विकास जैसे विषयों पर चल रहे विमर्श के संदर्भ में दीनदयाल उपाध्याय के विचार आज भी विचारणीय बने हुए हैं। यद्यपि उनके राजनीतिक चिंतन के विभिन्न पक्षों पर विद्वानों के बीच मतभेद और आलोचनात्मक बहसें भी विद्यमान हैं, फिर भी यह निर्विवाद है कि उन्होंने भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप एक स्वतंत्र वैचारिक प्रतिमान प्रस्तुत करने का गंभीर प्रयास किया। इस दृष्टि से दीनदयाल उपाध्याय का चिंतन आधुनिक भारतीय राजनीतिक विचारधारा में एक

महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है तथा समकालीन राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक विमर्श को समझने में आज भी उपयोगी बना हुआ है।

14.8 शब्दावली

एकात्म मानववाद – मानव के शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा के समन्वित विकास पर आधारित दीनदयाल उपाध्याय का दार्शनिक सिद्धांत।

चिति – राष्ट्र की मूल सांस्कृतिक चेतना अथवा आत्मा, जो उसकी पहचान और विकास की दिशा निर्धारित करती है।

स्वदेशी – स्थानीय संसाधनों, उत्पादन और आत्मनिर्भरता पर आधारित आर्थिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण।

विकेंद्रीकरण – शासन और आर्थिक शक्ति का विभिन्न स्तरों पर वितरण, जिससे स्थानीय भागीदारी और आत्मनिर्भरता को बढ़ावा मिले।

धर्मराज्य – ऐसा राज्य जो किसी धर्म विशेष पर नहीं, बल्कि न्याय, कर्तव्य, नैतिकता और लोककल्याण के सिद्धांतों पर आधारित हो।।

14.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.1965; 2. चिति; 3.अंत्योदय 4.आत्मा ; 5.भारतीय जनसंघ

14.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.राजकुमार भारद्वाज, 2019, दीनदयाल उपाध्याय: रचना संचयन, अनामिका पब्लिशर्स

2. Upadhyaya, D. (2016). Integral Humanism: An Analysis of Some Basic Elements. New Delhi: Prabhat Prakashan.

3. DP Tripathi, Politics of Renunciation: Centred around Deendayal Upadhayay, Vij Books Private Limited.

14.11 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. Shiv Shakti Nath Bakshi, Deendayal Upadhyaya: Life of an Ideologue Politician, Rupa Publication India Pvt. Ltd.

2. D.M.C. Sharma, Pandit Deendayal Upadhyaya, Publications Division Ministry of Information & Broadcasting.

14.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. पंडित दीनदयाल उपाध्याय के एकात्म मानववाद की अवधारणा का विवेचन कीजिए।

2. दीनदयाल उपाध्याय के राजनीतिक चिंतन में चिति एवं राष्ट्र की सांस्कृतिक अवधारणा का विश्लेषण कीजिए।

3. दीनदयाल उपाध्याय के आर्थिक चिंतन में विकेंद्रीकरण एवं स्वदेशी की भूमिका का परीक्षण कीजिए।

4. दीनदयाल उपाध्याय के राजनीतिक एवं सामाजिक विचारों का समालोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

5. आधुनिक भारत के संदर्भ में दीनदयाल उपाध्याय के राजनीतिक चिंतन की समकालीन प्रासंगिकता की विवेचना कीजिए।